Printed by L. Khazanchi Ram Jain, at the Manohar Electric Press, Jain Street, Said Mitha Bazar, Lahore, and Published by D. R, Aggarwal, prop: Panjab Publishing Agency, Ferozepur City.

समर्पण

हिन्दी साहित्य के अनन्य प्रेमी, राष्ट्र-भाषा
के निःस्वार्थ भक्त, देवनागरी लिपि
के परम उपासक, हिन्दी साहित्य
सम्मेल के प्रधान, अलाहबाद
युनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर
विद्वानों के परम पूज्य, श्रीयुत
पण्डित 'अमरनाथजी झा'
के कर-कमलों में
सादार समर्पित

पूर्व-शब्द

संस्कृत-साहित्य विशाल और अनेकाङ्गी है। जितने काल तक इसके साहित्य निर्माण होता रहा है उतने काल तक जगत् में किसी अन्य साहित्य का नही। मौलिक मूल्य में यह किसी से दूसरे नम्बर पर नही है। इतिहास को लेकर ही संस्कृत साहित्य त्रुटि-पूर्ण समझा जाता है। राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध मे तो यह तथा-कथित त्रुटि बिल्कुल भी सिद्ध नहीं होती। राजतरंगिणी के ख्यातनामा लेखक कल्हण ने लिखा है कि मैंने राजाओं का इतिहास लिखने के लिए अपने से पहले के ग्यारह इतिहास-ग्रन्थ देखे हैं और मैंने राजकीय लेख-संग्रहालयों मे अनेक ऐसे इतिहास-ग्रन्थ देखे हैं जिन्हें कीड़ों ने खा डाला है, अतः अपाठ्य होने के कारण वे उपयोग मे लाए जा सके हैं। कल्हण के इस कथन से बिल्कुल स्पष्ट है कि संस्कृत में इतिहास-ग्रन्थ लिखे जाते थे।

परन्तु यदि साहित्य के इतिहास को लेकर देखें तो कहना पड़ेगा कि कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है जिससे यह दिखलाया जा सके कि कभी किसी भी भारतीय भाषा में संस्कृत का इतिहास लिखा गया था। यह कला आधुनिक उपज है और हमारे देश में इसका प्रचार करने वाले यूरोप निवासी भारत-भाषा शास्त्री हैं। संस्कृत साहित्य के इतिहास अधिकतर यूरोपियन और अमेरिकन विद्वानों ने ही लिखे हैं। परन्तु यह बात तो विस्पष्ट ही है कि विदेशी लोग चाहे जितने बहुज्ञ हों वे सभ्यता, संस्कृति

दर्शन, कला और जीवन-दृष्टि की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न जाति के साहित्य की अन्तरात्मा की पूर्ण अभिप्रशंसा करने या गहरी थाह लेने में असमर्थ ही रहेंगे। किसी जाति का साहित्य उसकी रूढि-परम्परा की, परिवेष्टनों की भौगोलिक स्थितियों की, जल-वायु से सम्बद्ध अवस्थाओं की और राजनीतिक संस्थाओं की संयुक्त प्रसूति होता है। अतः किसी जाति के साहित्य की ठीक ठीक व्याख्या करना किसी भी विदेशी के लिए दुस्साध्य कार्य है। अब समय है कि स्वयं भारतीय अपने साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ लिखते और उसके (अर्थात् साहित्य के) अन्दर छुपी हुई आत्मा के स्वरूप का दर्शन स्वयं कराते। यही एक कारण है कि मैं श्रीयुत हंसराज अग्रवाल, ऐम० ए० द्वारा लिखित संस्कृत साहित्य के इस इतिहास का स्वागत करता हूँ। श्रीयुत अग्रवाल एक यशस्वी विद्वान् हैं, उसने फुल्लर छात्रवृत्ति प्राप्त की थी और उसे विश्वविद्यालय के स्वर्ण-पदकों से सम्मानित होने का सौभाग्य प्राप्त है। यह आते हुए समय की शुभ सूचना है कि भारतीयों ने अपने साहित्य के इतिहास में अभिरुचि दिखलानी प्रारम्भ कर दी है। मेरा विचार है कि संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखने वाले बहुत थोड़े भारतीय हैं, और पञ्जाबियों में तो श्रीयुत अग्रवाल से पहला कोई है ही नहीं। इन दिनों बी० ए० के छात्रों की आवश्यकता पूर्ण करने वाला, और संस्कृत साहित्य के अध्ययन में उनकी सहायता करने वाला कोई ग्रन्थ नहीं है; क्योंकि संस्कृत के उपलभ्यमान इतिहास-ग्रन्थों में से अधिक ग्रन्थ उनकी योग्यता से बाहर के हैं। यह ग्रन्थ बी० ए० श्रेणी के ही छात्रों की आवश्यकता को पूर्ण करने के विशेष प्रयोजन से लिखा गया है। लेखक ने बड़ा परिश्रम करके यह इतिहास लिखा है और मुझे विश्वास है कि जिनके लिए लिखा गया है यह उनकी आवश्यकताओं को बड़ी अच्छी तरह पूर्ण करेगा।

लक्ष्मण स्वरूप

आमुख

संस्कृत-साहित्य का महत्त्व बहुत बड़ा है (देखो पृष्ठ १-५)। हिन्दी भाषा का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध है जो कि एक लड़की का अपनी माता से होता है (देखो पृष्ठ ११-१५)। संस्कृत-साहित्य से सम्बद्ध इतिहास का हिन्दी में अभाव कुछ खलता-सा था, अतः मैं यह प्रयास संस्कृत-साहित्य से अनुराग रखने वाले हिन्दी प्रेमियों की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

इस ग्रन्थ को लिखते समय मेरा विशेष लक्ष्य इस विषय को संस्कृत साहित्य के प्रेमियों के लिए अधिक सुगम और अधिक आकर्षक बनाने की ओर रहा है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मैंने विशेषतया विश्लेषण-शैली का सहारा लिया है। उदाहरणार्थ, मैंने यह अधिक अच्छा समझा है कि कविकुलगुरु कालिदास का वर्णन महाकाव्य के प्रणेता के, या नाटककार के, या सङ्गीत-काव्य-कर्ता के रूप में तीन भिन्न भिन्न स्थानों पर न देकर एक ही स्थान पर दे दिया जाए। जहाँ जहाँ सम्भव हुआ है आधुनिक से आधुनिक अनुसन्धानों के फलों का समावेश कर दिया है। पाश्चात्य दृष्टि-कोण का अन्धा-धुन्ध अनुकरण न कर के मैं ने पूर्वीय दृष्टि-कोण का भी पूरा पूरा ध्यान रक्खा है।

मै उन भिन्न भिन्न प्रमाणिक लेखकों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ—जिनमें से कुछ उल्लेखनीय ये हैं—मैक्डॉनल, कीथ, विंटरनिट्ज़, पीटरसन, टामस,

ह्वोपकिन्स, राप्सन, पर्जिटर और ऐजरटन—जिनकी कृतियों को मैंने इस ग्रन्थ के लिखते समय बार बार देखा है और पाद-टिप्पणियों में प्रमाणतया जिनका उल्लेख किया है। अपने पूज्य अध्यापक डा० लक्ष्मणस्वरूप, ऐम० ए०, डी० फिल ऑफ़िसर डि ऐकेडेमि (फ्रांस), संस्कृत प्रोफ़ैसर पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर को मैं विशेषतः धन्यवाद देता हूँ, जिनके चरण-कमलों में बैठकर मैंने वह बहुत कुछ सीखा जो इस ग्रन्थ में भरा हुआ है। इस ग्रन्थ के लिए 'पूर्व-शब्द' लिखने में उन्होंने जो कष्ट सहन किया है मै उसके लिए भी उनका बड़ा ऋणी हूँ।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे अपने परम मित्र श्रीयुत श्रुतिकान्त शर्मा शास्त्री, एम. ए., साहित्याचार्य से विशेष सहायता मिली है। उनके अनथक प्रयत्नों के विना इस पुस्तक को हिन्दी-जगत् के सम्मुख इतनी जल्दी पेश करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होता, अतः मै उनका भी बड़ा आभारी हूँ।

आशा है कि हिन्दी-जगत् इस अभाव-पूर्ति का समुचित आदर करेगा।

लोहड़ी १९४२

—हंसराज अग्रवाल

विषय-सूची

अध्याय १

अध्याय २

रामायण, महाभारत और पुराण-ग्रन्थ ।

अध्याय ३

भास, कालिदास और अश्वघोष

अध्याय ४

काव्य

अध्याय ५

सङ्गीत-काव्य और सूक्ति-सन्दर्भ

अध्याय ६

ऐतिहासिक काव्य

अध्याय ७

गद्य-काव्य (कहानी) और चम्पू ।

अध्याय ८

लोकप्रिय कथा-ग्रन्थ

अध्याय ९

औपदेशिक जन्तु-कथा

अध्याय १०

रूपक

परिशिष्ट-वर्ग

लेखक के अन्य ग्रन्थ

१. **आदर्श कथामञ्जरी**—भारतीय सभ्यता को समुज्ज्वल करने वाली मूल लिखित कुछ एक अतीव रोचक कहानियाँ जिनसे कि निबन्ध लिखने के लिए भी पर्याप्त सामग्री मिल सकती है २—०—०

२. **महाराजा रणजीतसिंह**—प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर लिखित महाराजा रणजीतसिंह का जीवन-चरित १—८—०

3. Practical Guide to Sanskrit Translation (indispensable for college students) 1—4—0

4. A Study of Sanskrit Grammar for college students (writren on modern scientific method) 2—8—0

5. A Short History of Sanskrit Literature (in English) 2—8—0

संस्कृत-साहित्य
का
संक्षिप्त इतिहास

अध्याय १
उपक्रमणिका
(१) संस्कृत साहित्य का महत्त्व

निस्सन्देह संस्कृत-साहित्य का महत्त्व बहुत बड़ा है। इसकी बड़ी उम्र, एक बहुत बड़े भूखण्ड पर इसका फैला हुआ होना, इसका परिमाण, इसकी अर्थसम्पत्ति, इसकी रचना-चारुता, संस्कृति[1] के इतिहास की दृष्टि से इसका मूल्य ऐसी बातें हैं जिनके कारण इस महान्, मौलिक और पुरातन साहित्य के ऊपर हमारा अनुराग बिलकुल उचित सिद्ध होता है। कुछ बातें और भी हैं, जिनके कारण संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में हमारी अभिरुचि और भी बढ़ जाती है। उनमें से कुछ विशेष नीचे दी जाती हैं—

---

१ देखिए विंटरनिट्ज़ कृत भारतीय साहित्य का इतिहास (इङ्गलिश) प्रथम भाग।

(१) संस्कृत-साहित्य का अध्ययन ऐतिहासिकों के बड़े काम का है। यह विस्तृत भारतवर्ष के निवासियों के बुद्धि-जगत् के तीन हजार से भी अधिक वर्षों का इतिहास ही नहीं है प्रत्युत उत्तर में तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया; दक्षिण में लङ्का; पूर्व में मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो तथा प्रशान्त महासागर के दूसरे द्वीप; और पश्चिम में अफ़ग़ानिस्तान, तुर्किस्तान इत्यादि देशों के निवासियों के बौद्धिक जगत पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव भी पड़ा है।

(२) आधुनिक शताब्दियों में इसने यूरोप पर युग-प्रवर्त्तक प्रभाव डाला है।[1]

(३) संस्कृत भारोपीय शाखा[2] की सब से पुरानी भाषा है। अतएव इसके साहित्य में इस शाखा के सब से पुराने साहित्यिक स्मारक उपलब्ध होते हैं। धार्मिक विचारों के क्रमिक विकास का जैसा विस्पष्ट चित्र यह साहित्य उपस्थित करता है, वैसा जगत् का कोई दूसरा साहित्यिक स्मारक नहीं।[3]

(४) 'साहित्य' शब्द के विस्तृत से विस्तृत अर्थ में महाकाव्य, काव्य, गीति-काव्य, नाटक, गद्य-आख्यायिका, औपदेशिक कथा, सर्वसाधारण में प्रसिद्ध कथा, विज्ञान-ग्रन्थ इत्यादि जो कुछ भी आ सकता है, वह सब कुछ संस्कृत-साहित्य में मौजूद है। हमें भारत में राजनीति, आयुर्वेद, फलित-ज्योतिष, गणित-ज्योतिष, अङ्कगणित और ज्यामिति का ही बहुत सा और कुछ पुराना साहित्य मिलता हो यह बात नहीं है, बल्कि भारत में संगीत, नृत्य, नाटक, जादू, देव-विद्या, यहाँ तक कि अलङ्कार-विद्या

१ अधिक जानने के लिए आगामी द्वितीय खण्ड देखिए। २ संस्कृत से मिलती-जुलती भाषाओं का एक वर्ग बनाया गया है, जिसे भारोपीय शाखा का नाम दिया गया है क्योंकि इसमें द्राविड भाषाओं को छोड़कर भारतीय—आर्यों की सारी भाषाएं और यूरोप की सारी भाषाएं आ गई हैं। ३ मैकडानल कृत संस्कृत-साहित्य का इतिहास (इंग्लिश) पृष्ठ ६।

के भी पृथक् पृथक् ग्रन्थ पाये जाते हैं, जो वैज्ञानिक शैलि से लिखे गये हैं।[1]

(५) संस्कृत-साहित्य केवल विषय-व्यापकता के लिए ही नहीं रचना-सौष्ठव के लिए भी प्रसिद्ध है। सूत्र-रचना में भारतीय जगत् की सब जातियों में सिद्ध-हस्त हैं। भारतीयों द्वारा किये हुए पशु-कथाओं पक्षि-कथाओं, अप्सरा-कथाओं तथा गद्यमय आख्यायिकाओं के संग्रहों का भूमण्डल के साहित्य के इतिहास में बड़ा महत्त्व है[1]। प्रभु ईसा के जन्म से कई शताब्दी पूर्व भारत में व्याकरण के अध्ययन का प्रचार था; और व्याकरण वह विद्या है, जिसमें पुरातन काल की कोई जाति भारतीयों की कक्षा में नहीं बैठ सकती। कोश-रचना की विद्या भी भारत में बहुत पुरानी है।[2]

(६) धर्म एवं दर्शन के विकास के परिचय के लिए संस्कृत साहित्य का अध्ययन प्रायः अनिवार्य है। मैकडानल ने लिखा है—"भारोपीय वंश की केवल भारत-निवासिनी शाखा ही ऐसी है, जिसने वैदिक-धर्म नामक एक बड़े जातीय धर्म और बौद्ध-धर्म नामक एक बड़े सार्वभौम धर्म की रचना की। अन्य शाखाओं ने इस क्षेत्र में मौलिकता न दिखलाकर बहुत पहले से एक विदेशीय धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक्त भारतीयों ने स्वतन्त्रता से अनेक दर्शन-सम्प्रदायो को विकसित किया, जिनसे उनकी ऊँची चिन्तन-शक्ति का प्रमाण मिलता है।"

(७) संस्कृत-साहित्य की एक और विशेषता इसकी मौलिकता है। ईसा के पूर्व चतुर्थ शताब्दी में यूनानियों का आक्रमण होने से बहुत पहले आर्य-सभ्यता परिपूर्ण हो चुकी थी और बाद में होने वाली विदेशियों की विजयों का इस पर सर्वथा कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

---

१. विंटरनिट्ज़ कृत भारतीय साहित्य का इतिहास (इग्लिश) प्रथम भाग।
२ विंटरनिट्ज़ कृत भारतीय साहित्य का इतिहास (इग्लिश), प्रथम भाग।

(८) विद्यमान संस्कृत साहित्य परिमाण में यूनान और रोम दोनों के मिलाकर एक किये हुए साहित्य के बराबर है। यदि हम इसमें वे ग्रन्थ जिनके नाम समसामयिक या उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के दिये हुए उद्धरणों से मालूम होते हैं तथा वे ग्रन्थ जो सदा के लिए नष्ट हो चुके हैं, इसमें सम्मिलित कर लें तो संस्कृत साहित्य का परिमाण बहुत ही अधिक हो जायगा।

(९) "मौलिकता और सौन्दर्य इन दो गुणों की दृष्टि से संस्कृत साहित्य समस्त प्राचीन साहित्यों में केवल यूनान के साहित्य से दूसरे दरजे पर है। मानवीय प्रकृति के विकास के अध्ययन के स्रोत के रूप में तो यह यूनानी साहित्य से बढकर है"। (मैकडानल)

(१०) आर्य-सभ्यता की धारा अविच्छिन्न रूप से बहती रही है। हिन्दुओं की भक्ति-भरी प्रार्थनाएँ, गायत्री का जप, सोलह संस्कार जो एक हिन्दू के जीवन को माता के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु पर्यन्त विशेष रूप देते हैं, अरणियों से यज्ञ की अग्नि निकालना तथा अन्य अनेक सामाजिक और धार्मिक प्रथाएँ आज भी बिलकुल वैसी हैं, जैसी हजारों वर्ष पहले थीं। शास्त्रीय वाद-विवादों में, पत्र-पत्रिकाओं में तथा निजी चिट्ठी-पत्रियों में विद्वान् पंडितों द्वारा संस्कृत का प्रयोग, मुद्रण-यन्त्र का आविष्कार हो चुकने पर भी हस्त-लिखित पुस्तकों की नकल उतारना वेदों का तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का कण्ठस्थ करना ताकि यदि ग्रन्थ नष्ट भी हो जायँ तो फिर अक्षरशः उनका निर्माण किया जा सके—सब ऐसी बातें हैं, जो भारतीय जीवन के असाधारण रूप को स्पष्ट करती हैं। अतः संस्कृत साहित्य का अध्ययन केवल भारतीयों की भूतकालीन सभ्यता के ज्ञान के लिए ही नहीं बल्कि हिन्दुओं की आधुनिक सभ्यता को समझने के लिए भी आवश्यक है।

(११) केवल इतना ही नहीं, यूरोपीय संस्कृति और विचारों के क्रमिक विकास को समझने के लिए भी संस्कृत साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता

है। विंटरनिट्ज़ कहता है—'यदि हम अपनी ही संस्कृति के प्रारम्भिक दिनों की अवस्था को जानने की इच्छा रखते हों, यदि हम सब से पुरानी भारोपीय संस्कृति को समझना चाहते हैं, तो हमें भारत की शरण लेनी होगी, जहाँ एक भारोपीय जाति का सबसे पुराना साहित्य सुरक्षित है'।

(२) यूरोप पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव

अठारहवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दियों में जब यूरोप-निवासी संस्कृत से परिचित हुए, तब इसने वहाँ एक नये युग का प्रारम्भ कर दिया क्योंकि इसने भारतीय और यूरोपीय दोनों जातियों के इतिहास-पूर्व के सम्बन्धों पर आश्चर्यकारी नया प्रकाश डाला। इसने यूरोप में तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव डाली, तुलनात्मक पौराणिक कथा-विद्या में कई परिवर्तन करा दिये, पश्चिमीय विचारों को प्रभावित किया, और भारतीय पुरातत्त्व के अन्वेषण में स्थिर अभिरुचि उत्पन्न कर दी।

(क) तुलनात्मक भाषाविज्ञान—संस्कृत का पता लगने से पहले हिब्रू, अरबी तथा अन्य भिन्न भिन्न भाषाओं के भाषी कहा करते थे कि उनकी अपनी भाषा असली भाषा है और शेष सब भाषाएँ उसी से निकली हैं। यह देखा गया कि यूनानी और लैटिन भाषाएँ अरबी और हिब्रू से सम्बद्ध नहीं कही जा सकतीं और न यूनानी और लैटिन मौलिक भाषाएँ हैं। संस्कृत के इस परिचय ने छुपे हुए सत्य को प्रकाशित कर दिया। कुछ विद्वानों ने यह परिणाम निकालने की शीघ्रता की कि संस्कृत मौलिक भाषा है और इससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य भाषाएँ इससे निकली हैं। किन्तु धीरे धीरे वे इस परिणाम पर पहुँचे कि संस्कृत इन भाषायों की माता नहीं प्रत्युत बड़ी बहन है। तब से लेकर तुलनात्मक भाषाविज्ञान ठोस विषय का निरूपण करने वाला विज्ञान बन गया। बाद में रास्क ने और रास्क के पीछे ग्रिम ने मालूम किया कि ट्यूटानिक भाषाएँ भी इसी वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं, जिसे सहूलियत के लिये भारोपीय वर्ग कहते हैं। अम्ब्रियन, ऑस्कन, अल्बानियन, लिथूएनियन, आर्मीनियन, फ्राइजियन और

टोखारिश इत्यादि नाना भाषाएँ इसी वर्ग से सम्बद्ध बताई गई हैं और हिटाइट तथा सुमेरियन जैसी अन्य अनेक भाषाएँ भी भविष्य में इसी वर्ग से सम्बद्ध सिद्ध की जाने की आशा है।

(ख) तुलनात्मक पौराणिक कथा-विज्ञान—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की सहायता से तुलनात्मक पौराणिक कथा-विज्ञान में भी काफी आगे बढ़ना सम्भव हो गया है। यह मालूम हुआ है कि संस्कृत के देव, भाग, यज, श्रद्धा तथा अन्य कर्मकाण्डगत शब्दों के लिए भारोपीय वर्ग की भिन्न भिन्न भाषाओं में इन्हीं से मिलते जुलते शब्द पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ देवताओं का भी पता लगा है, जो भारोपीय काल से सम्बन्ध रखते हैं। उदाहरणार्थ—

संस्कृत में	पृथिवी मातृ	लेटिन में	टैरा मेटर
,,	अश्विनौ	,,	द्यौस्-क्यूरि
,,	पर्जन्यः	लिथुएनियन मे	पर्कुनिजा
,,	वरुणस्	यूनानी में	औरेणॉस

देखने की विशेष बात यह कि उल्लिखित भारोपीय देवताओं के रूप भिन्न भिन्न भाषाओं में प्रायः समान ही हैं।

(ग) यूरोपीय विचारों पर प्रभाव—भारतीय लोगों के सब से गम्भीर और सब से उत्तम विचार उपनिषदों में देखने को मिलते हैं। दाराशिकोह ने अठारहवीं शताब्दी के मध्य के आस पास उनका अनुवाद फारसी में करवाया था। बाद (१७७५) ई० में अंक्वेटिल डुपैरन ने उस फारसी अनुवाद का अनुवाद लैटिन में किया। शापनहार ने इसी फारसी अनुवाद के अनुवाद को पढ़कर उपनिषदों के तत्त्व तक पहुँचकर कहा था—'उपनिषदों ने मुझे जीवन में सान्त्वना दी, यही मुझे मृत्यु में सान्त्वना देंगे।' शापनहार के दार्शनिक विचारों पर उपनिषदो का बड़ा प्रभाव पड़ा।

जर्मन और भारतीय विचारों में तो और भी अधिक आश्चर्यजनक समानता है। लेपोल्ड वानश्राडर का कथन है कि भारतीय लोग पुराने काल के रमणीयतावाद के विश्वासी (Romanticists) हैं और जर्मन

लोग आधुनिक काल के। सूक्ष्म चिन्तन की ओर झुकाव, प्रकृति-देवी की पूजा की ओर मन की प्रवृत्ति, जगत् को दुःखात्मक समझने का भाव ऐसी बातें हैं, जो जर्मन और भारतीयों में बहुत ही मिलती जुलती हैं। इसके अतिरिक्त, जर्मन और संस्कृत दोनों ही काव्यों में रसमयता तथा प्रकृति के प्रति आत्मीयता के भाव पाये जाते हैं, जो हिब्रू और यूनानी काव्यों में भी नहीं पाये जाते।

(घ) शिलालेखसम्बन्धी अन्वेषण—यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि संस्कृति-ज्ञान के बिना प्राचीन भारतविषयक हमारा ज्ञान बहुत ही कम होता। शिलालेखों के ज्ञान तथा भारतीय पुरातत्त्व के अनुसन्धान में हम आज जितने बढ़े हुए हैं, उसका मूल प्रायः सर्वथा पश्चिमीय विद्वानों की कृतियाँ हैं किन्तु उन कृतियों का मूल भी तो संस्कृत का अध्ययन ही है।

(ङ) सामान्य—(१) पाणिनि की अष्टाध्यायी पढ़कर यूरोप के विद्वानों के मन में अपनी भाषाओं के व्याकरण को यथासम्भव पूर्ण करने का विचार पैदा हुआ।

(२) सिद्धहस्त नाटककार कालिदास का अभिज्ञानशकुन्तल नाटक यूरोप में बड़े चाव के साथ पढ़ा गया और गेटे ने अपने 'फ़ास्ट' की भूमिका उसी ढंग से लिखी। संस्कृत ग्रन्थों के जर्मन अनुवाद ने जर्मन साहित्य पर बहुत प्रभाव डाला है। ऐफ़ श्लेगल ने संस्कृत कविता का अनुवाद जर्मन कविता में किया है।

(३) महायान सम्प्रदाय के प्रामाणिक ग्रन्थ संस्कृत में ही हैं। उनके यूरोपियन भाषाओं के अनुवाद ने यूरोप में बौद्धों को बहुत प्रभावित किया है।

(४) यूरोप के विद्वानों ने वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय की छानबीन दो से भी कम शताब्दियों में कर डाली है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, गीतिकाव्य, सर्व

साधारण में प्रचलित एवं औपदेशिक कहानियाँ, इन सब के ग्रन्थों के, यहाँ तक कि वैज्ञानिक साहित्य के ग्रन्थों के भी, यूरोप की भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं, उन पर टिप्पण लिखे जा चुके हैं और उनके अनेक हस्तलिखित प्रतियों को मिलाकर भिन्न भिन्न पाठ्युक्त (Critical) संस्करण निकल चुके हैं। अतः उन ग्रन्थों का पश्चिम पर कोई कम प्रभाव नहीं हो सकता।

(३) संस्कृत में ऐतिहासिक तत्त्व का अभाव

यद्यपि संस्कृत भाषा के विद्वानों ने इस दिशा में सूक्ष्म अनुसन्धान और महान् परिश्रम किया है तथापि संस्कृत साहित्य का इतिहास अभी तक अन्धकार में छुपा हुआ है। भास और कालिदास जैसे सुप्रसिद्ध कवियों के जीवनकाल के निर्धारण में विद्वानों के मतों में दशाब्दियों का नहीं बल्कि पाँच-छः शताब्दियों का भेद है। 'भारतीय साहित्य के इतिहास में दी हुई सारी की सारी तिथियाँ काग़ज़ में लगाई हुई उन पिनों के समान है, जो फिर निकाल ली जाती हैं'[१]। जहाँ अन्य शाखाओं में संस्कृत-साहित्य ने कमाल कर दिखाया वहाँ इतिहास-क्षेत्र में इसमें बहुत ही कम सामग्री पाई जाती है। इतिहासविषयक साहित्यिक-ग्रन्थ संख्या में कम हों, इतनी ही बात नहीं है; उनमें कभी कभी कल्पना की भी मिलावट देखी जाती है। संस्कृत का सब से बडा इतिहासकार कल्हण तक यूनानी हीरोडोटस की भी तुलना नहीं कर सकता।

इसके कारण—संस्कृत में इतिहास का यह अभाव क्यों है? इसका पूरा पूरा सन्तोष करने वाला उत्तर देना तो कठिन है। हाँ, निम्नलिखित कुछ बातें अवश्य ध्यान में रखनी योग्य हैं—

---

१ देखो डब्ल्यू० डी० ह्विटनेकृत 'संस्कृत-ग्रामर' की भूमिका, लीपज़िग, १८७९। उसने पचास साल से भी अधिक पहले जो राय दी थी, वह आज भी वसी की वैसी ठीक उतरती है।

(१) पश्चिम में इतिहास का जो अर्थ लिया जाता है, भारतीय लोग इतिहास का यह अर्थ नहीं लेते थे। आर्य लोगों का ध्यान भारतीय संस्कृति और सभ्यता की रक्षा की ओर लगा हुआ था। संस्कृति और सभ्यता की उन्नति में सहायता करने वाले को छोड़कर किसी अन्य राजा का, महापुरुष का या अपना इतिहास लिखने में आर्य लोगों की अभिरुचि नहीं थी। भारतीयों के बौद्धिक और अध्यात्मिक जीवन के विकास की एक एक मंज़िल का जैसा सावधानतापूर्ण उल्लेख संस्कृत-साहित्य में मिलता है, वैसा जगत् के किसी अन्य साहित्य में नहीं[१]।

(२) भारतीय मनोविज्ञान की और परिस्थितियों की विशेषताएँ—कर्म का और भाग्य का सिद्धान्त, दैनिक हस्तात्तेपो में मन्त्र-यन्त्र में तथा जादू में विश्वास, वैज्ञानिक मनोवृत्ति का अभाव—ऐसी बातें हैं, जो एक बड़ी सीमा तक इतिहास के अभाव का कारण हैं। यहाँ तक कि जैन और बौद्ध भी ऐसे ही विश्वास रखते थे।

(३) १२०० ई० तक भारत में राजनीतिक घटनाओं की गति से भी शायद कोई सर्वप्रिय बनने वाली बातें पैदा नही हुई।

(४) भारतीयों में राष्ट्रीयता (Nationality) के भावों का न होना भी इसका एक बड़ा कारण है। सिकन्दर की विजयों का प्रभाव चिरस्थायी नहीं हुआ और विदेशी आक्रमणों ने भी भारतीयों में राष्ट्रीयता के भावों को जन्म नहीं दिया। मुसलमानों को अपने आक्रमणों में कदाचित् इसी लिए सफलता मिली कि भारतीय राजा महाराजा विदेशी आक्रमणकारियों को उतनी घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे, जितनी घृणा की दृष्टि से वे एक दूसरे को देखते थे।

(५) भारत के साधारण लोग समय की या देश की दृष्टि से दूर हुए राजाओं के इतिहास और प्रशस्ति-काव्यों में अभिरुचि नहीं रखते थे।

---

१ इस युक्ति के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव नहीं था प्रत्युत वे इतिहास का अर्थ ही और लेते थे।

यही कारण है कि अक्षय यश की कामना रखने वाले कवियों ने अपनी कृतियों के विषय समकालभव वीरों के जीवनों में से कम और रामायण तथा महाभारत में से अधिक चुने[1]।

(६) एक और कारण यह है कि भारतीय लोग विशेष की अपेक्षा साधारण को अधिक पसन्द करते हैं। यहाँ तक कि जब दो विरोधी पक्षों पर ऊहापोह किया जाता है, तब भी व्याख्याकारों के जीवन के सम्बन्ध में कोई बात न कहकर केवल विवादसम्बन्धिनी युक्तियाँ ही प्रस्तुत की जाती हैं। जब दर्शनों के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों की व्याख्या की जाती है, तब भी ऐतिहासिक काल को गौण रक्खा जाता है।

(७) पुराने साहित्य के अधिक ग्रन्थ हमें कुटुम्ब-ग्रन्थों के या सम्प्रदाय-ग्रन्थों के या मठ-गुरु-ग्रन्थों के रूप में मिले हैं, जिनके रचयिताओं तक के नामों का भी उल्लेख नहीं मिलता।

(८) बाद के साहित्य में जब रचिताओं के नाम मिलते हैं, तब वे नाम भी कुटुम्ब (या गोत्र) के नाम मिलते हैं[2]। फिर, यह पता कि कोई कवि विक्रमादित्य के या भोज के राज्य-काल में हुआ, ऐतिहासिक दृष्टि से हमारे लिए केवल इतना ही सहायक हो सकता है, जितना यह पता कि यह घटना एक जॉर्ज के या एक एडवर्ड के राज्यकाल में हुई।

(९) यदि किसी रचयिता का नाम दिया गया भी है तो उसके माता-पिता का नाम नहीं दिया गया। एक ही नाम के अनेक रचयिता हो सकते हैं।

---

१ यह तुलना करके देखिए कि 'नैषध' पर कितनी टीकाएँ हैं और 'नवसाहसांकचरित' जो ऐतिहासिक रचना है, विस्मृति के गर्भ में जा पड़ा है। २ यह मनोवृत्ति भारत में अब तक पाई जाती है। किसी ग्रन्थ का लेखक गुप्त प्रसिद्ध है तो किसी का शर्मा, किसी का राय तो किसी का चक्रवर्ती। नाम के प्रारम्भिक भाग में इतना महत्त्व नहीं समझा जाता, जितना इन सरनामों में।

(१०) कभी कभी एक ही नाम भिन्न भिन्न रूपों में पाया जाता है। भारतीयों में नामों के पर्याय तथा संक्षिप्त रूप व्यवहार में लाने की बड़ी प्रवृत्ति पाई जाती है[1]।

किन्तु यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव था। इतिहास के क्षेत्र में पुराणों और अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त निश्चित तिथियों से युक्त अनेक शिलालेख विद्यमान हैं[2]। ज्योतिष के ग्रन्थकारों ने ग्रन्थसमाप्ति तक की निश्चित तिथियाँ दी हैं।

(४) संस्कृत और आधुनिक भाषाएँ

संस्कृत शब्द सब से पहले पाणिनि की अष्टाध्यायी में देखने को मिलता है। यह सब से पहले ऐतिहासिक महाकाव्य रामायण में भी आया है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'एकत्र रक्खा हुआ या चिकना-चुपड़ा किया हुआ या परिमार्जित'। इसके मुकाबिले पर प्राकृत का अर्थ है—'स्वाभाविक, अकृत्रिम'। यही कारण है कि प्राकृत शब्द से भारत की बोलचाल की भाषा समझी जाती है, जो भाषा के मुख्य साहित्यिक रूप से पृथक् है।

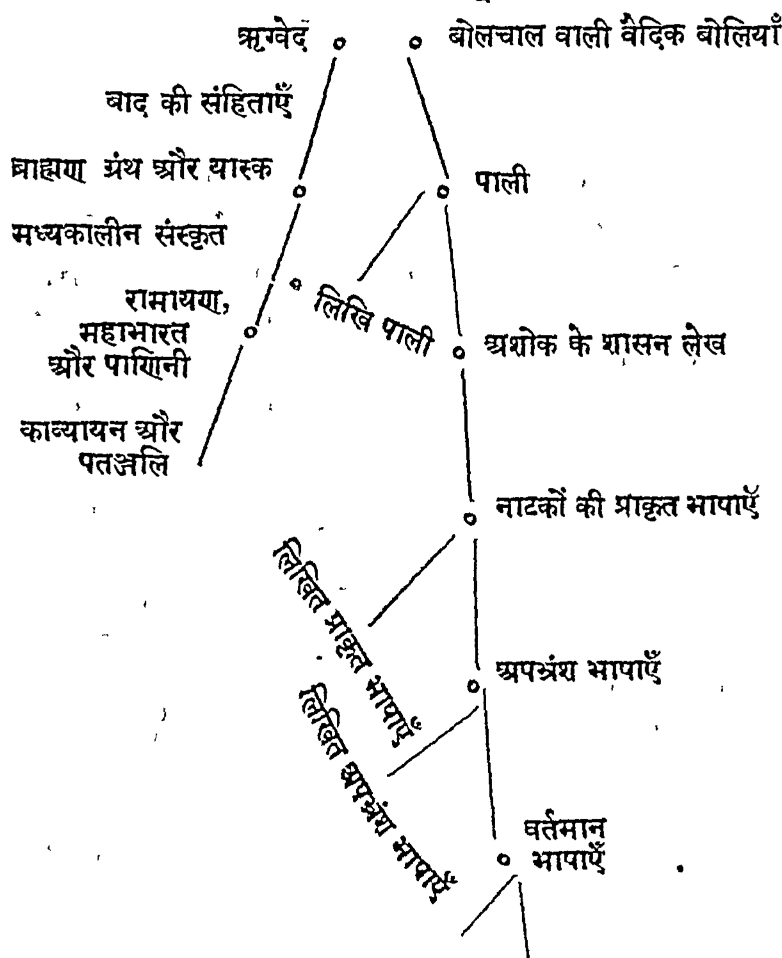
वैदिक काल में आर्य-भाषा का नाम वैदिक भाषा था। आज कल की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन सिद्ध करता है कि ये सब किसी एक ही स्रोत से निकली हुई भिन्न भिन्न धाराएँ हैं। अतः अपनी भाषा के इतिहास के लिऐ हमें विद्यमान सब से पुराने नमूने तक पहुँचकर, जो ऋग्वेद में मिलता है, नीचे की ओर इसके इतिहास-चिह्नों का पता लगाना होगा। और क्योंकि सम्पूर्ण ऋग्वेद पद्य-बद्ध है, अतः यह मानना

---

१ मेरे एक शास्त्री मित्र ने मुझे अमृतसर से पत्र लिखा, जिसके किनारे पर लिखा 'सुधासरसः'। दूसरी बार लिखा 'पीयूषतडागात्'। दोनों ही नाम अमृतसर के पर्याय हैं। २ इस प्रकरण में अधिक जानने के लिए ४१ से ४५ तक के खण्ड देखने चाहिऐं।

होगा कि इसमें उस काल की बोलचाल की भाषा का सच्चा रूप नहीं मिल सकता। हाँ, इसमें भी कोई सन्देह नहीं हो सकता कि ऋग्वेद की भाषा उस समय की बोलचाल की भाषा से अधिक भिन्न भाषा नहीं है। आगे दी हुई सारिणी भारतीय भाषाओं के विकास को सूचित करती है, जो उन्हें नाना अवस्थाओं में से निकल कर प्राप्त हुआ।

आर्य-भाषाओं के विकास को सूचित करने वाली सारिणी



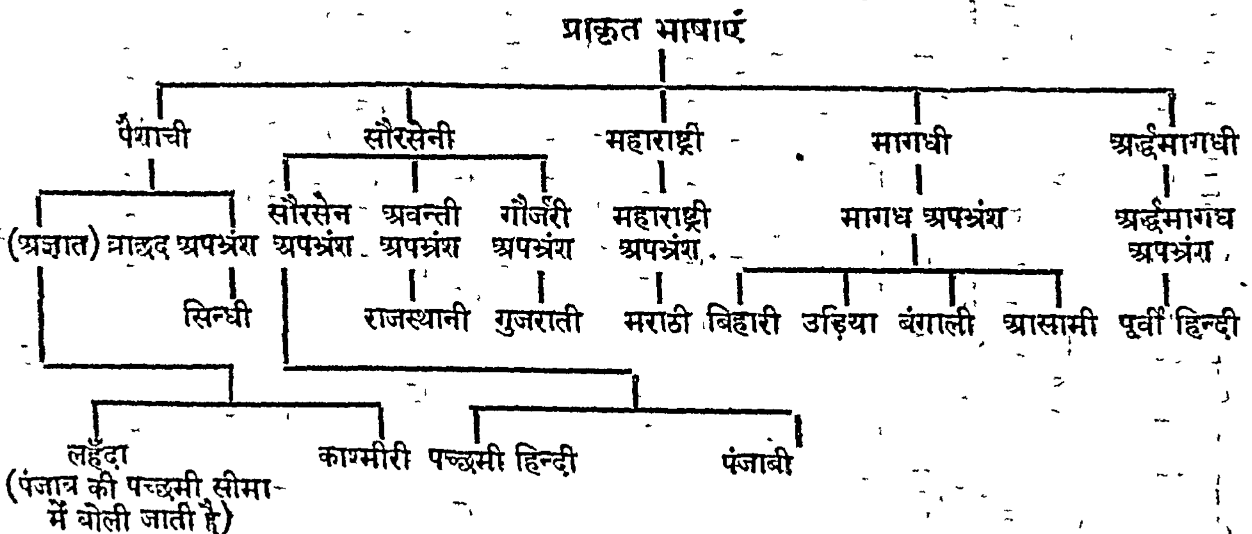
ऊपर की सारिणी से यह बात विस्पष्ट दिखाई देगी कि ज्यों ज्यों भाषा विकसित होती जाती है, त्यों त्यों साहित्य की और बोलचाल की भाषा में भेद बढ़ता जाता है।

डा० भण्डारकर ने वैदिक काल के उत्तरकालीन साहित्यिक काल को मध्य (Middle) संस्कृत और श्रेण्य[1] (Classical) संस्कृत इन दो भागों में बाँटा है। मध्य संस्कृत से उनका अभिप्राय ब्राह्मणों और रामायण-महाभारत के मध्य का काल है। उसमें मुख्य वैयाकरण पाणिनि है। श्रेण्य संस्कृत काल पाणिनि से बाद का काल है। इसके मुख्य वैयाकरण कात्यायन और पतञ्जलि हैं। सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा की भिन्न भिन्न अवस्था को पाली (जो अशोक के शासन-लेखों की भाषा है), नाटकों की प्राकृत भाषाएँ अपभ्रंश भाषाएँ और वर्तमान भाषाएँ प्रकट करती हैं। नाटकों की प्राकृत भाषाएँ भी तत्कालीन बोलचाल की भाषाओं को सही रूप में प्रकट नहीं करती हैं। प्रारम्भिक अवस्था में तो प्राकृत भाषाएँ बोलचाल की भाषाओं को ही प्रकट करती थीं, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु धीरे धीरे साहित्यिक वैदिक और साहित्यिक संस्कृत के समान वे व्याकरण के दृढ़ नियमों मे बँध गईं और केवल साहित्यिक उपभाषाएँ (Dialects) बनकर रह गईं। उस समय की बोलचाल की भाषाओं को प्रकट करने वाली अपभ्रंश भाषाएँ हैं, जो अपने नम्बर पर, साहित्यिक उपभाषाएँ (Dialects) बन गईं, और उसके बाद बोलचाल की भाषाओं को प्रकट करने वाली वर्तमान भारत की आर्य-भाषाएँ हुईं। एक काल से दूसरे काल में सरकना धीरे धीरे हुआ। उदाहरणार्थ, चन्दरवरदाई कृत 'पृथिवीराज रासो' की भाषा सौरसेनी अपभ्रंश से बहुत मिलती जुलती है किन्तु आजकल की हिन्दी से बहुत भिन्न है।

नीचे एक तालिका दी जाती है, जो आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास को विस्पष्ट करती है।

---

१ किसी एक श्रेणी से सम्बन्ध रखने वाली।



यह 'शिन' से मिलती जुलती किसी पिशाच भाषा को प्रकट करती है।

पिछली तालिका में दी हुई भाषाएँ, जिन्होंने १००० ई० के आस-पास से विकसित होना शुरू किया, अब वैभक्तिक अर्थात् विभक्तियों के आधार पर पृथक् पृथक् अर्थ प्रकट करने वाली (Inflexional) भाषाएँ नहीं रहीं। ये अब अंग्रेजी के समान वैश्लेषणिक अर्थात् विभक्तियों के स्थान पर शब्द का प्रयोग करके पृथक् पृथक् अर्थ को प्रकट करने वाली भाषाएँ बन गई हैं। महाशय बीम्ज़ का कथन है—'संश्लेषण का कुसुम कुड्मल रूप से प्रकट हुआ और फिर स्फुटित हो गया और जब पूरा स्फुटित हो चुका, तब अन्य कुसुमों के समान मुरझाने लगा। इसकी पँखुड़ियाँ अर्थात् प्रत्यय या विभक्तियाँ एक एक करके झड़ गईं और यथासमय इसके नीचे से वैश्लेषणिक रचना का फल ऊपर आकर बड़ा और पक गया।'

आर्य भाषाओं की श्रेष्ठता का प्रमाण इस बात से मिलता है कि जब कोई आर्य-भाषा और कोई भारत की अनार्य-भाषा आपस में मिलती हैं, तब अनार्य भाषा अभिभूत हो जाती है। आज कल हम देख सकते हैं कि उन प्रान्तों में, जहाँ दो जातियों के देशों की सीमाएँ मिलती हैं, भाषा के स्वरूप का यह परिवर्तन जारी है, जिसकी उन्नति की सब मंजिलें हम साफ़ साफ़ देख सकते हैं।

द्राविड़ शाखा की अनार्य भाषा—तैलगु, कनारी, मलयालम और तामिल ये दक्षिणी भारत में ही प्रचलित हैं। भारतीय भाषाओं के समग्र इतिहास में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जिससे किसी अनार्य भाषा द्वारा आर्य भाषा का स्थान छीन लेने की बात पाई जाय।

५ क्या संस्कृत बोलचाल की भाषा थी ?

'संस्कृत कहाँ तक बोलचाल की भाषा थी ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रोफेसर ई० जे० राप्सन कहते हैं—"संस्कृत भी वैसी ही बोलचाल की भाषा थी, जैसी साहित्यिक अंग्रेजी है, जिसे कि हम बोलते हैं। संस्कृत उत्तर-पश्चिमी भारत की बोलचाल की भाषा थी, जिसके विकास का पता सम्पूर्ण साहित्य दे रहा है और जिसकी ध्वन्यात्मक विशेषताएँ उत्तर-पश्चिमी

भारत के शिलालेखों में बहुत सीमा तक सुरक्षित हैं। मूलरूप में यह ब्राह्मण-धर्म की भाषा थी, जो उसी उत्तर-पश्चिमी भाग से प्रचलित हुआ था। ब्राह्मण-धर्म के प्रसार के साथ इसका भी प्रसार हुआ और जब भारत के अन्य दो बड़े धर्म—जैन और बौद्ध-धर्म—फैलने लगे, तब कुछ समय के लिए इसका प्रसार रुक गया। जब भारत में उक्त दोनों धर्मों का ह्रास हुआ, तब इसने निर्विघ्न उन्नति करना प्रारम्भ किया और धीरे धीरे यह सारे भारतवर्ष में फैल गई। प्रारम्भ में एक जिले की, फिर एक वर्ण तथा धर्म की, अन्त में यह सारे भारतवर्ष में एक धर्म, राजनीति और संस्कृति की भाषा बन गई। समय पाकर तो यह एक विशाल राष्ट्रीय भाषा बन गई और केवल तभी यह पद-च्युत हुई, मुसलमानो ने हिन्दू-राष्ट्रीयता को तबाह किया।"

निम्नलिखित बातों से यह सिद्ध होगा कि संस्कृत कभी भारत की बोलचाल की भाषा थी:—

(१) बहुत काल तक मध्य संस्कृत तथा श्रेण्य संस्कृत, जो वैदिक भाषा की ही कुलजा हैं, शिक्षित श्रेणी की बोलचाल की भाषा बनी रही और इन्होंने सर्वसाधारण की बोलियों अर्थात् पाली एवं नाटकों की प्राकृतों पर भी प्रभाव डाला[1]।

(२) यास्क से प्रारम्भ करके सभी पुराने व्याकरण श्रेण्य संस्कृत को 'भाषा'[2] नाम से पुकारते हैं।

---

१ यह बात अधोलिखित उदाहरण से विस्पष्ट हो जायगी। नाटकीय प्राकृत में हमें 'ऋद्धि' और 'सुदरिसन' शब्द मिलते हैं। पाली में उन्हीं से मिलते जुलते 'इद्धि' (स० ऋद्धि) और 'सुदस्सन' (स० सुदर्शन) शब्द मिलते हैं। यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि 'ऋद्धि' और 'सुदरिसन' शब्द पाली के 'इद्धि' और 'सुदस्सन' से विकसित हुए हैं प्रत्युत यही मानना होगा कि पूर्वोक्त दोनों शब्द संस्कृत भाषा से ही निकले हैं। २ 'भाषा' शब्द 'भाषा' से, जिसका अर्थ बोलना चालना है, निकला है।

(३) पाणिनि के ऐसे अनेक नियम हैं, जो केवल जीवित-भाषा के सम्बन्ध में ही सार्थक हो सकते हैं।

(४) पतञ्जलि (ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी) संस्कृत को लोक में व्यवहृत कहता है और अपने शब्दों को कहता है कि ये लोक में प्रचलित हैं।

(५) इस बात के प्रमाण विद्यमान हैं कि संस्कृत में बोलचाल की भाषा में पाई जाने वाली देश-मूलक विभिन्नताएँ थीं। यास्क और पाणिनि 'प्राच्यों' और 'उदीच्यों' की विभिन्नता का उल्लेख करते हैं। कात्यायन स्थानिक भेदों की ओर संकेत करता है और पतञ्जलि ऐसे विशेष विशेष शब्द चुनकर दिखलाता है, जो केवल एक एक ज़िले में ही बोले जाते हैं।

(६) कहानियों में सुना जाता है कि भिक्षुओं ने बुद्ध के सामने विचार रक्खा था कि आप अपनी बोलचाल की भाषा संस्कृत को बना लें। इससे भी यही परिणाम निकलता है कि संस्कृत बुद्ध के समय में बोलचाल की भाषा थी।

(७) प्रसिद्ध बौद्धकवि अश्वघोष ई० द्वितीय शताब्दी ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए अपने ग्रन्थ संस्कृत में लिखे। इससे यह अनुमान करना सुगम है कि संस्कृत प्राकृत की अपेक्षा साधारण जनता को अपनी ओर अधिक खींचती थी तथा संस्कृत ने कुछ समय के लिए खोये हुए अपने पद को पुनः प्राप्त कर लिया था।

(८) ई० दूसरी शताब्दी से प्रारम्भ करके मिलने वाले शिललेख क्रमशः संस्कृत में अधिक मिल रहे हैं और ई० छठी शताब्दी से लेकर केवल जैन शिलालेखों को छोड़कर, सारे के सारे शिलालेख संस्कृत में ही मिलते हैं। यह बात तो सभी मानेंगे कि शिलालेख प्रायः उसी भाषा में लिखे जाते हैं, जिसे सर्वसाधारण पढ और समझ सकते हैं।

---

१ उदाहरणार्थ, "दूर से सम्बोधन करने में वाक्य का अन्तिम स्वर प्लुत हो जाता है'।

(९) उत्तरभारत के बौद्धों के ग्रन्थ प्रायः संस्कृत में ही चले आ रहे हैं। इससे सूचित होता है कि बौद्ध लोग तक जीवित भाषा संस्कृत की उन्नति के विरोध में सफल नहीं हो सके।

(१०) ह्यूनसांग विस्पष्ट शब्दों में कहता है कि ई० सातवीं शताब्दी में बौद्ध लोग धर्मशास्त्रीय मौखिक वाद-विवाद में संस्कृत का ही व्यवहार करते थे। जैनों ने प्राकृत को बिलकुल छोड़ तो नहीं दिया था पर वे भी संस्कृत का व्यवहार करने लगे थे।

(११) संस्कृत नाटकों में पात्रों की बोलचाल के योग्य नाना प्राकृतों का भी प्रयोग रहता है। नायक एवं उच्चपद के अधिकारी पात्र, जिनमें तपस्विनियाँ भी सम्मिलित हैं, संस्कृत बोलती हैं, किन्तु स्त्रियाँ और निम्नस्थिति के प्राकृत ही बोलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो संस्कृत नहीं बोलते थे, वे भी संस्कृत समझते अवश्य थे। इसके अतिरिक्त पर्याप्त प्रमाणों से यह संकेत मिलता है कि संस्कृत नाटक खेले भी जाते थे और इसका यही अर्थ है कि नाटकदर्शक संस्कृत के वार्तालाप को समझते और उसके सौन्दर्य का रसानुभव भी करते थे।

(१२) साहित्य में ऐसे भी उल्लेख पाये जाते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि रामायण और महाभारत जनता के सामने मूलमात्र पढ़कर सुनाये जाते थे। तब तो जनता वस्तुतः संस्कृत के श्लोकों का अर्थ समझ लेती होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिमालय और विन्ध्य के बीच फैले हुए सम्पूर्ण आर्यावर्त में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। इसका व्यवहार ब्राह्मण[1] ही नहीं, अन्य लोग भी करते थे। पतञ्जलि ने एक कथा लिखी है, जिस में कोई सारथि किसी वैयाकरण से 'सूत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विवाद करता है। लोकवार्ता है कि राजा भोज ने एक लकड़हारे के सिर पर बोझ

---

१ पतञ्जलि के 'शिष्ट' शब्द पर ध्यान दीजिए।

देखकर पर-दुःखकातर हो उससे संस्कृत में पूछा कि तुम्हें यह बोझ कष्ट तो नहीं पहूँचा रहा और 'बाधति' क्रिया पद का प्रयोग किया। इस पर लकड़हारे ने उत्तर दिया—महाराज! मुझे इस बोझ से उतना कष्ट नहीं हो रहा, जितना 'बाधते' के स्थान पर, आपके बोले हुए 'बाधति' पद से हो रहा है। सातवीं शताब्दी में, तो जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बौद्ध और जैन भी संस्कृत बोलने लगे थे। आजकल भी बड़े बड़े पण्डित आपस में तथा विशेष करके शास्त्र-चर्चा में, संस्कृत ही बोलते हैं। संक्षेप यह कि संस्कृत की प्रारंम्भ से लेकर अब तक प्रायः वही अवस्था रही है और अब भी है, जो यहूदियों में हिब्रू की या मध्य काल में लैटिन की थी।

(६) अंगय संस्कृत की विशेषताएँ

भारतीय साहित्य का इतिहास दो प्रधान प्रधान कालों में विभक्त हो सकता है—(१) पाणिनि से पहला अर्थात् वैदिक काल जिसमें वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्रग्रन्थ सम्मिलित हैं, तथा (२) पाणिनि से पिछला अर्थात् अंगय संस्कृत काल जिसमें रामायण, महाभारत, पुराण, महाकाव्य, नाटक, गीतिकाव्य, गद्याख्यायिका, लोक-प्रिय कहानियाँ, औपदेशिक कथाएँ नीति-सूक्तियाँ तथा शिक्षा, व्याकरण, आयुर्वेद, राजनीति, ज्योतिष और गणित इत्यादि के ऊपर वैज्ञानिक साहित्य सम्मिलित है। दूसरे काल का साहित्य पहले काल के साहित्य से बाह्याकृति, अन्तरात्मा, प्रतिपाद्य अर्थ एवं शैली इन सभी दृष्टियों से भिन्न है। इनमें से कुछ का दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है:—

(क) बाह्याकृति सम्पूर्ण ऋग्वेद की रचना पद्य में हुई है। धीरे धीरे गद्य की शैली का विकास हुआ। यजुर्वेद और ब्राह्मणों में गद्य का अच्छा विकास देखने को मिलता है। उपनिषत् काल तक पहुँचते पहुँचते गद्य का प्रभाव बहुत मन्द पड़ गया, क्योंकि उपनिषदों में गद्य का प्रयोग अपेक्षाकृत कम देखा जाता है, अंगय संस्कृत में तो गद्य प्रायः लुप्त सा ही दिखाई देता है। राजनियम और आयुर्वेद जैसे विषयों का प्रतिपादन

भी पद्य में ही मिलता है। गद्य का प्रयोग केवल व्याकरण और दर्शनों में ही किया गया है पर वह भी दुर्बोध और चक्करदार शैली के साथ। साहित्यिक गद्य कल्पनाढ्य आख्यायिकाओं, सर्वप्रिय कहानियों, औपदेशिक कथाओं तथा नाटकों में अवश्य पाया जाता है किन्तु यह गद्य लम्बे लम्बे समासों से भरा हुआ है और ब्राह्मणों के गद्य से मेल नहीं खाता।

पद्य में भी श्रेण्य संस्कृत के छन्द, जिनका आधार यद्यपि वैदिक छन्द ही हैं तथापि, वैदिक छन्दों से भिन्न हैं। मुख्य छन्द श्लोक (अनुष्टुप्) है। श्रेण्य संस्कृत के छन्द जितने भिन्न भिन्न प्रकार के हैं, उतने वैदिक नहीं। इसके अतिरिक्त, श्रेण्य संस्कृत के छन्द वैदिक छन्दों की अपेक्षा अधिक श्रम से रचे गये हैं क्योंकि इन छन्दों में प्रत्येक चरण के वर्णों या मात्राओं की संख्या दृढ़ता के साथ अटल रहती है।

(ख) अन्तरात्मा—वेदों में क्षीण रूप में पाया जाने वाला पुनर्जन्म का सिद्धान्त[1] उपनिषदों में प्रबल रूप धारण कर लेता है। श्रेण्य संस्कृत में इस सिद्धान्त का पोषण बहुत ही श्रमपूर्वक किया गया है। उदाहरणार्थ, धर्म की स्थापना और अधर्म के उच्छेद के लिए विष्णु भगवान् को कभी किसी पशु के और कभी किसी असाधारण गुणशाली पुरुष के रूप में अनेक बार पृथिवी पर जन्म धारण करवाया गया है।

एक और विशेषता यह है कि मानव-जगत् की साधारण घटनाओं के वर्णन में भी अपार्थिव अंश को सम्मिलित करने की ओर अधिक अभिरुचि देखी जाती है। यही कारण है कि स्वर्ग और पृथिवी के निवासियों के परस्पर मिलने जुलने की कथाओं की कमी नहीं है।

---

१ इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि आत्मा अमर है। जैसे मनुष्य पुराने कपड़े उतार कर नये धारण कर लेता है, वैसे ही आत्मा एक जरा-जीर्ण शरीर को छोड़कर दूसरा नया धारण कर लेता है। (देखो गीता २।२२)। यह सिद्धान्त हिन्दू सभ्यता का हृदय है।

सीमा से बढ़ जाने वाली अतिशयोक्ति का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। इसके इतने उदाहरण हैं कि पूर्वीय अतिशयोक्ति जगत्प्रसिद्ध हो चुकी है। बाण की कादम्बरी में उज्जयिनी के बारे में कहा गया है कि वह त्रिभुवनललामभूता, मानों दूसरी पृथिवी, निरन्तर होते रहने वाले अध्ययन की ध्वनि के कारण धुले हुए पापों वाली[1] है। (वैदिक काल के) बाद की शैली में विरक्त या साधु बन जाने का सीमा से अधिक वर्णन पौराणिक कथाओं का रंग-बिरंगा कलापूर्ण उल्लेख, घटाटोप वर्णनों के दल के दल, महाकाव्यों का भारी भरकम डीलडौल, एक प्रकार का अनुपम संक्षिप्त शैली वाला गद्य, अभ्यास-वश प्रयुक्त किये गये लम्बे लम्बे समास[2] ऐसी बातें हैं जो श्रेण्य संस्कृत में पाई जाने वाली इस विशेषता को प्रकट करती हैं।

(ग) प्रतिपाद्य विषय—यदि वैदिक साहित्य वास्तव में धर्मपरक है तो लगभग सारे का सारा श्रेण्य संस्कृत साहित्य लौकिकविषयपरक है। श्रेण्य संस्कृत काल में वैदिक समय के अग्नि, वायु, वरुण इत्यादि पुराने देवता गौण बन गये हैं और उनके मुकाबिले पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव मुख्य उपास्य हो गये हैं। इसके अतिरिक्त गणेश, कुबेर, सरस्वती और लक्ष्मी इत्यादि अनेक नये देवताओं की कल्पना कर ली गई है।

(घ) श्रेण्य संस्कृत काल की भाषा पाणिनि के कठोर नियमो से बँधी हुई है। इसके अतिरिक्त, कविता को नियन्त्रित करने वाले अलंकार शास्त्र के नियमों का श्रमपूर्ण निर्माण किया गया है तथा लम्बे लम्बे समासो का प्रयोग बहुत हो गया है। इस प्रकार के काल में संस्कृत कविता क्रमशः अधिकाधिक कृत्रिम होती चली गई है। इतना होने पर भी संस्कृत कविता गुणों से खाली नहीं है। 'इस प्रकार एक प्रसिद्ध विद्वान्, जिससे

---

१ ज्जयिनी का वर्णन एक शैली में लगभग ४१-४१ वर्ण वाली ४१ पंक्तियों में किया गया है। दण्डी के दशकुमारचरित में भी पुष्पापुरी का वर्णन प्रायः ऐसा ही है। २ देखिए मकडानल कृत सस्कृत साहित्य का इतिहास (इंगलिश)

मेरा परिचय है, कविता की अन्तरात्मा में इतना घुस गया है कि उसे किसी और वस्तु से आनन्द मिलता ही नहीं' (मैकडानल)। संस्कृत कविता के वास्तविक लावण्य का अनुभव संस्कृत के ही ग्रन्थों के पढने से हो सकता है, अनुवाद ग्रन्थों से नहीं। संस्कृत छन्दों का चमत्कार किसी अन्य भाषा में अनुवाद करने से नहीं आ सकता। सच तो यह है कि केवल मूल संस्कृत ग्रन्थों का पढ़ना ही पर्याप्त नहीं है (अनुवाद की तो बात ही क्या) बल्कि संस्कृत के विद्यार्थी को भारत के प्राकृतिक दृश्यों का, भारतीयों की आकृतियों, प्रथाओं और विचार-धाराओं का भी गहरा ज्ञान होना आवश्यक है।

इस पुस्तक में श्रेण्य संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास दिया जायगा।

अध्याय २

रामायण, महाभारत और पुराण-ग्रन्थ

(७) ऐतिहासिक महाकाव्यों की उत्पत्ति

आर्नोल्ड कहता है "ऐतिहासिक महाकाव्य का विषय कोई गुम्फित बड़ी घटना होनी चाहिए। मुख्य मुख्य पात्र उच्चकुलोत्पन्न तथा उच्चविचार-शाली होने चाहिएँ। विषय के सदृश उसके वर्णन का प्रमाण (Standard) भी उच्च हो। ऐतिहासिक महाकाव्य का विकास संवाद, स्वगत (भाषण) और कथालाप से हुआ है।" यह बात हमारे ऐतिहासिक महाकाव्य रामायण और महाभारत पर भी पूर्णतया लागू होती है। रामायण में रावण के ऊपर प्राप्त हुई राम की विजय का वर्णन है और महाभारत कौरव और पाण्डवों के परस्पर के युद्ध का सविस्तर वर्णन करता है। दोनों ही काव्यों के पात्र राजवंशज हैं और उनका चारित्र बड़े कौशल से चित्रित किया गया है। स्त्रीपात्रों में एक असाधारण व्यक्तित्व पाया जाता है[1]।

उक्त दोनों महाकाव्य सहसा उत्पन्न नहीं हो गये। भारत में ऐतिहासिक कविता का मूल ऋग्वेद के संवाद वाले सूक्तों में मिलता है। बाद के वैदिक

---

१ उदाहरणार्थ, महाभारत में द्रौपदी एक कुलीन देवी है, जिसे सदा अपने गौरव का ध्यान है, जो भारी से भारी विपत्ति के काल में भी अधीर नहीं होती, जिसके सतीत्व में सन्देह का लेश भी नहीं हो सकता, फिर भी मानवीय प्रकृति की सब दुर्बलताएँ उसमें हैं।

साहित्य में अर्थात् ब्राह्मणों में इतिहास, आख्यान और पुराणों[1] का उल्लेख मिलता है। इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि यज्ञों, संस्कारों तथा उत्सवों के अवसर पर इनकी कथा आवश्यक थी। यद्यपि इसका तो प्रमाण नहीं मिलता कि तब इतिहास-पुराण-काव्य ग्रन्थ रूप में विद्यमान थे, तो भी इससे इनकार नहीं हो सकता कि ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाम से प्रसिद्ध कथावाचक लोग बहुत पुराने समय में भी विद्यमान थे। ऐतिहासिक काव्य-रचयिताओं ने, जिनमें बौद्ध और जैन भी सम्मिलित हैं, बौद्धकाल से बहुत पहले ही सञ्चित हो चुकने वाली कथा-कहानियों अर्थात् इतिहास, आख्यान, पुराण और गाथाओं के आढ्य कोश से पर्याप्त सामग्री प्राप्त की। महाभारत में 'बृहद् इतिहासों' का उल्लेख पाया जाता है, जो शायद ऐतिहासिक काव्य के ढंग की किन्हीं प्राचीन कविताओं की ओर सङ्केत करता है। अनुमान किया जाता है कि ऐतिहासिक काव्य के ढंग की सैकड़ों पुरानी कहानियों ने अनेक ऐतिहासिक काव्यों की रचना के लिए पर्याप्त सामग्री दी होगी। इन्हीं काव्यों के आधार पर और इन्हीं की काट छांट करके हमारे रामायण और महाभारत नामक महाकाव्यों की रचना हुई होगी। यह अनुमान इस बात से और भी पुष्ट होता है कि रामायण और महाभारत में जैसे श्लोक हैं, ऐसे ही अनेक श्लोक अन्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। और यह बात तो महाकाव्य में उसके कवि ने स्वयं स्वीकार की है कि वर्तमान ग्रन्थ मौलिक ग्रन्थ नहीं है। देखिए—

आचख्युः कवयः केचित् सम्प्रत्याचक्षतेऽपरे ।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि ॥

इस इतिहास को कुछ कवि इस जगत् में बहुत पहले कह चुके हैं, कुछ अब कहते हैं तथा कुछ आगे भी कहेंगे।

---

१ बाद के वैदिक ग्रन्थों में पुराण और इतिहास के अध्ययन से देवता प्रसन्न होते हैं, ऐसा वर्णन मिलता है। वस्तुत. इतिहास-पुराण 'पाँचवाँ वेद' कहा गया है।

इस श्लोक का लिट् लकार का प्रयोग 'आचख्युः' ध्यान देने के योग्य है। इस प्रयोग से 'बहुत प्राचीन समय में' सूचित होता है।

(८) रामायण

(क) भारतीय ग्रन्थकार रामायण को आदि काव्य और रामायण-रचयिता वाल्मीकि को आदि कवि कहते हैं। रामायण में केवल युद्धों और विजयों का ही वर्णन नही है, इसमें आलङ्कारिक भाषा में प्रकृति का भी बड़ा ही रमणीय चित्र अङ्कित किया गया है। इस प्रकार रामायण में सर्व-प्रिय ऐतिहासिक काव्य और अलंकृत काव्य दोनों के गुण पाये जाते हैं। कदाचित् जगत् में कोई अन्य ग्रन्थ इतना सर्वप्रिय नहीं है, जितनी रामायण। अपनी रचना के दिन से लेकर ही यह भारतीय कवियों और नाटककारों के प्राणों में नवीन स्फूर्ति भरती चली आई है। महाभारत के तीसरे पर्व में राम की कथा आती है। ब्रह्माण्ड; विष्णु, गरुड, भागवत, अग्नि इत्यादि पुराणों में भी रामायण के आधार पर रची हुई राम के पराक्रम की कथाएँ पाई जाती हैं। भास,[१] कालिदास[२] तथा संस्कृत के अन्य अनेक कवियों और नाटककारों की रचना इसी रामायण से उच्छ्वसित हुई है। यहाँ तक कि बौद्ध कवि अश्वघोष ने भी निस्सङ्कोच इसी से बहुत सा मसाला लिया है। जैन साधु विमलसूरि[३] (ई० की पहली शताब्दी) का ग्रन्थ भी इसी के आधार पर लिखा गया है। बौद्ध ग्रन्थों के तिब्बती तथा चीनी अनुवादों में (ई० की तीसरी शताब्दी) राम के वीर्यों की कथाएँ या उनकी ओर संकेत प्रायः हैं। अब से शताब्दियों पहले रामायण भारत में ही नहीं, भारत से बाहर भी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। जावा में लर जङ्गरङ्ग, प्रमबनम और पनातरन में शिवमन्दिरों में तथा देवगढ़ में विष्णुमन्दिर में पत्थर के ऊपर रामायण की कथा के दो सौ से भी अधिक दृश्य खुदे हुए हैं। जावा और मलाया के अनेक ग्रन्थों में राम के

---

१ देखिए अभिषेक, प्रतिमा। २ देखिए रघुवंश। ३ देखिए उसका प्राकृत काव्य पउमचरिय (पद्मचरित)।

अनेक वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन मिलता है। सियाम, वाली तथा इनके समीप के अन्य द्वीपों में रामायण के मुख्य मुख्य पात्रों की बड़ी ही सुन्दर कलापूर्ण मूर्तियाँ पाई जाती हैं।

जब हम भारत की वर्तमान भाषाओं की ओर आते हैं, तब देखते हैं कि ग्यारहवीं शताब्दी में रामायण का अनुवाद तामिल भाषा में हो गया था। प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि तुलसी रामायण (रामचरित मानस) उत्तर भारत में कितनी सर्वप्रिय है और भारत के करोड़ों निवासियों की संस्कृति और विचारधारा पर इसका कितना प्रभाव है। तामिल और हिन्दी को छोड़कर भारतीय अन्य भाषाओं में भी रामायण के अनुवाद या काँट-छाँटकर तैयार किये हुए रूपान्तर विद्यमान हैं। रामनवमी, विजयदशमी (दशहरा) और दिवाली त्योहार भी राम के जीवन से सम्बद्ध हैं, जिन्हें करोड़ों भारतनिवासी बड़े उत्साह से मनाते हैं।

रामायण के प्रथम काण्ड में कहा गया है कि ब्रह्मा ने वाल्मीकि मुनि को बुलाकर राम के वीर्यों की प्रशस्ति तैयार करने को कहा और उसे आशा दिलाई कि जब तक इस दृढ-स्थित पृथिवी पर नदियाँ बहती रहेंगी और पर्वत खड़े रहेंगे, तब तक सारे जगत् में रामायण विद्यमान रहेगी।

(ख) महत्त्व—ऐतिहासिक एवं अलङ्कृत काव्य की दृष्टि से ही रामायण महत्त्वास्पद नहीं है अपितु यह हिन्दुओं का आचारशास्त्र भी है। रामायण की शिक्षाएँ व्यावहारिक हैं। अतः उनका समझना भी सुगम है। रामायण में हमें जीवन की सूक्ष्म और गम्भीर समस्याएँ साफ़ साफ़ सुलझे हुए रूप में मिल जाती हैं। पाठक स्वयं जान लेता है कि जीवन में आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी, आदर्श सेवक, आदर्श पुत्र और आदर्श राजा (राम) को कैसा व्यवहार करना चाहिए। दशरथ का प्रतिज्ञापालन एवं पुत्रस्नेह अनुपम है। कौसल्या की कर्तव्यनिष्ठा और सुमित्रा की त्याग-वृत्ति अद्वितीय है। बड़े भाई की पत्नी के प्रति लक्ष्मण की श्रद्धा देखकर हम आश्चर्य में डूब जाते हैं। राम को मर्यादापुरुषोत्तम कहना उचित ही है। तात्पर्य यह

है कि रामायण में हमें उच्चतम आचार के जीते जागते दृष्टान्त मिलते हैं। यही कारण है कि न केवल भारत में बल्कि बाहर भी रामायण से भूतकाल में लोगों को जीवन मिला, अब मिल रहा है और आगे मिलता रहेगा।

रामायण से प्राचीन कालीन आर्य-सभ्यता के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। इससे हम प्राचीन कालीन भारत की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था को अच्छी तरह जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त इससे हमें तत्कालीन भौगोलिक परिस्थिति का भी पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है।

(ग) सस्करण—हम रामायण को भिन्न भिन्न संस्करणों में पाते हैं—

(१) बम्बई संस्करण (बम्बई में प्रकाशित)। इस संस्करण में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण टीका 'राम टीका कार की तिलक' है। संस्कृत में पाई जाने वाली अन्य टीकाएँ 'शिरोमणि' और 'भूषण' हैं। बंगाली संस्करण (कलकत्ते में प्रकाशित)। अत्यन्त उपयोगी टिप्पणियों के साथ इसका अनुवाद जी० गौरेशियो ने किया था। यह बड़ी बड़ी पाँच जिल्दों में मिलता है। संस्कृत टीकाकार का नाम 'लोकनाथ' है। (३) उत्तर पश्चिमीय संस्करण (या काश्मीरिक संस्करण)। यह लाहौर में प्रकाशित हो रहा है। इसके टीकाकार का नाम है 'कटक'। (४) दक्षिण भारत संस्करण (मद्रास में प्रकाशित)। इसमें और बम्बई संस्करण में अधिक भेद नहीं है। ऊपर के तीन संस्करणों में परस्पर पर्याप्त भेद है।

यह कहना कठिन है कि कौन-सा-संस्करण वाल्मीकि के असली ग्रन्थ से अधिक मिलता जुलता है। श्लेगल[1] ने बंगाली संस्करण को अधिक पसन्द किया था। बोटलिङ्ग इस परिणाम पर पहुँचा था कि पुराने शब्द बम्बई-

---

१ 'वाल्मीकि-रामायण—टिप्पणियों और अनुवाद के साथ मूल ग्रन्थ (३ जिल्दें) सन् १८२९ से १८३८ तक।

संस्करण में[1] अधिक मिलते हैं। ऐतिहासिक प्रणाम द्वारा हम कुछ अधिक सिद्ध नहीं कर सकते। हरिवंशपुराण के सर्ग २३७ में रामायण विषयक उल्लेख बङ्गाली संस्करण से अधिक मिलते जुलते हैं। आठवीं और नौवीं शताब्दी के साहित्य में आये रामायण-विषयक वर्णन बम्बई-संस्करण से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के क्षेमेन्द्र की रामायणमञ्जरी से सिद्ध होता है कि उस समय काश्मीरिक संस्करण विद्यमान था। ग्यारहवीं शताब्दी के भोज के रामायण चम्पू का आधार बम्बई-संस्करण है। सच तो यह है कि इन संस्करणों ने विभिन्न रूप अब से बहुत काल पहले धारण कर लिये थे। तब से लेकर वे उसी रूप में चले आ रहे हैं। केवल एक के आधार पर दूसरे में वहीं परिवर्तन हुआ है, जहाँ ऐसा होना कुछ सम्भव था।

(घ) वर्णनीय विषय—रामायण में लगभग चौबीस हज़ार श्लोक हैं और सारा ग्रन्थ सात काण्डों में विभक्त है।

काण्ड १—(बाल-काण्ड) इसमें राम के नवयौवन, विश्वामित्र के साथ जाने, उसके यज्ञ की रक्षा करने, राक्षसों के मारने और सीता के साथ विवाह हो जाने का वर्णन है।

काण्ड २ (अयोध्या काण्ड)। इसमें राम के राजतिलक की तय्यारी, कैकेयी के द्वारा किये जाने वाले विरोध, राम के वन जाने, राम के वियोग में दशरथ के मरने और राम को लौटाने के लिए भरत के चित्रकूट जाने का वर्णन है।

---

१ बङ्गाली सस्करण का प्रादुर्भाव बंगाल में हुआ, जो गौडी रीति से पूर्ण श्रेण्य संस्कृत साहित्य का केन्द्र था और जहाँ ऐतिहासिक महाकाव्य की भाषा की स्वतन्त्रता का लोप हो चुका था। यही बात काश्मीरिक संस्करण के बारे में भी जाननी चाहिए। अन्तर इतना ही है कि बंगाल में गौडी रीति अधिक प्रचलित थी तो इस ओर पाञ्चाली।

काण्ड ३—(अरण्यकाण्ड)। इसमें राम के दण्डक वन में रहने, विराध इत्यादि राक्षसों के मारने, फिर पञ्चवटी में रहने, राम के पास शूर्पणखा के आने, चौदह हज़ार निशाचरों के साथ खर को मारने, रावण द्वारा सीता के चुराये जाने और सीता के वियोग में राम के रोते फिरने का वर्णन है।

काण्ड ४—(किष्किन्धाकाण्ड) इसमें राम का सुग्रीव को अपने साथ मिलाने, बाली को मारने, और बन्दरों को साथ लेकर हनुमान् का सीता की खोज में जाने का वर्णन है।

काण्ड ५—(सुन्दरकाण्ड)। इसमें लङ्का के सुन्दर द्वीप, रावण के विशाल महल, हनुमान् का सीता को धीरज बँधाने और सीता का पता लेकर हनुमान् के वापस लौटने का वर्णन है।

काण्ड ६—(युद्धकाण्ड)। यह सब से बड़ा काण्ड है। इसके रावण पर राम की विजय का वर्णन है।

काण्ड ७—(उत्तरकाण्ड)। इसमें अयोध्या में बीतने वाले राम के अन्तिम जीवन, सीता के बारे में लोकापवाद, सीता-निर्वासन, सीता-शोक, वाल्मीकि के आश्रम में कुश-लव के जन्म और अन्त तक की सारी कथा का वर्णन है।

(ङ) उपाख्यान—रामायण में कई सुन्दर उपाख्यान भी हैं। वे विशेष करके पहले और सातवें काण्ड में पाये जाते हैं। प्रसिद्ध प्रसिद्ध उपाख्यान ये हैं—

वामन-अवतार (१, २९), कार्त्तिकेय-जन्म (२, ३५-३७), गङ्गावतरण (२, ३८-४४), समुद्रमंथन (१, ४५), श्लोक-प्रादुर्भाव[1] (१, २), ययाति-नहुष (७, ५८), वृत्र-वध (७, ८४-८७), उर्वशी-पुरूरवा (७, ८९-९०), शूद्रतापस शम्बूक (७)।

(च) विशुद्धता—कई लक्षण ऐसे हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि रामायण की यथार्थ कथा छठे काण्ड में ही समाप्त हो जाती है। सातवाँ काण्ड उन उपाख्यानों से भरा पड़ा है, जिनका मूल कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणार्थ, सातवें काण्ड के प्रारम्भिक भाग में राक्षसों की उत्पत्ति, रावण के साथ इन्द्र के युद्ध, हनुमान् के यौवन-काल का वर्णन है तथा कुछ एक अन्य कहानियाँ हैं, जिनसे मूल कथा की गति में पर्याप्त बाधा पड़ती है। इसी प्रकार पहले काण्ड में भी ऐसा पर्याप्त अंश है, जो वस्तुतः मौलिक रामायण में सम्मिलित नहीं रहा होगा। इस बारे में निम्नलिखित बातें याद रखने योग्य हैं—

(१) पहले और सातवें काण्ड की भाषा तथा शैली शेष काण्डों से निकृष्ट है।

(२) पहले और सातवें काण्ड में परस्पर विरोधी अनेक बातें हैं। पहले काण्ड के अनेक कथा-विवरण अन्य काण्डों के कथा-विवरणों के विरुद्ध हैं। उदाहरणार्थ, देखिए लक्ष्मण का विवाह।

(३) दूसरे से लेकर छठे काण्ड तक प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर, राम एक आदर्श वीर मनुष्य माना गया है; परन्तु पहले और सातवे काण्ड में उसे निस्सन्देह विष्णु अवतार दिखलाया गया है।

वाल्मीकि ने एक क्रौञ्च-मिथुन को स्वैर विहार करते हुए देखा। उसी समय एक व्याध ने नरक्रौञ्च को तीर से मार डाला। यह देखकर वाल्मीकि से न रहा गया। उनका हृदय करुणा से द्रवित हो गया। उन्होंने तत्काल उस व्याध को शाप दे दिया, जो उनके मुख से अनजाने श्लोक के रूप में निकल पड़ा। तब ब्रह्मा ने उसी 'श्लोक' छन्द में उनसे राम का यशोगान करने के लिए कहा। ऐच० जैकोबी का विचार है कि इस उपाख्यान का आधार शायद यह बात है कि हम परिपक्वावस्था को प्राप्त हुए श्लोक का मूल वाल्मीकि रामायण में ही देख सकते हैं, इस से पहले के किसी ग्रन्थ में नहीं।

(४) पहले काण्ड में सारी रामायण-कथा की दो अनुक्रमणिकाएँ दी गई हैं—एक पहले सर्ग में और दूसरी तीसरे मे। उनमें से एक अनुक्रमणिका में पहले और सातवें काण्ड का उल्लेख नहीं है।

इन आधारों पर प्रोफ़ेसर जैकोबी ने[1] निश्चय किया है कि दूसरे से लेकर छठे काण्ड तक का भाग रामायण का असली भाग है, जिसके आगे पीछे पहले और सातवें काण्ड बाद में जोड़ दिये गये हैं और असली भाग में भी कहीं कहीं मिलावट कर दी गई है। दूसरे काण्ड के कई प्रारम्भिक सर्ग पहले काण्ड में मिला दिये गये हैं। असली रामायण आज कल के प्रथम काण्ड के पाँचवें सर्ग से प्रारम्भ होती थी।

(छ) काल—(१) महाभारत के सम्बन्ध से—रामायण का असली भाग महाभारत के असली भाग से पुराना है। रामायण में महाभारत के किसी वीर का उल्लेख नहीं है। हाँ, महाभारत में राम की कहानी का ज़िक्र आया है। इसके अतिरिक्त महाभारत के सातवें पर्व में रामायण के छठे काण्ड से दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं और महाभारत के तीसरे पर्व के २७७ से २९१ तक के अध्यायों के रामोपाख्यान है, जो रामायण पर आश्रित प्रतीत होता है। सच तो यह है कि रामोपाख्यान का रचयिता इस बात का विश्वासी प्रतीत होता है कि महाभारत के श्रोताओ को राम की कहानी याद है।

(२) बौद्धसाहित्य के सम्बन्ध से—इस बारे मे अधोलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं:—

---

१ 'रामायण' में जैकोबी कहते हैं—जैसे हमारे अनेक पुराने, पूजनीय गिरजाघरों में हर एक नई पीढ़ी ने कुछ न कुछ नया भाग बढ़ा दिया है और कुछ पुराने भाग की मरम्मत करवा दी है और फिर भी असली गिरजाघर की रचना नष्ट नही होने दिया है। इसी प्रकार भाटों की अनेक पीढ़ियों ने असली भाग को नष्ट न करते हुए रामायण में बहुत कुछ बढ़ा दिया है, जिसका यदि एक एक अवयव तो प्रधान रूप अन्वेषक की आँख से छिपा हुआ नहीं है।'

अ—पाली जातकों[1] में दशरथ जातक (रामोपाख्यान) कुछ अदल-बदलकर कहा गया है। इस जातक में पाली के रूप में रामायण (६, १२८) का एक श्लोक भी पाया जाता है।

आ—रामायण के दूसरे काण्ड के त्रेसठवें सर्ग में दशरथ ने शिकार के समय में मारे जाने वाले जिस तापस-कुमार की कथा सुनाई है, साम जातक[2] में वह कथा शायद अधिक पुराने रूप में पाई जाती है।

इ—कुछ और भी जातक[3] हैं जिनमें ऐसे प्रकरण आते हैं, जो रामायण की याद दिलाते हैं। हाँ, उन प्रकरणों और रामायण के प्रकरणों में समानता केवल कहीं कहीं पाई जाती है।

ई—प्रोफ़ेसर सिलवेन लेवी ने इस विषय का गहरा अध्ययन किया है। उनका कहना है कि बौद्धग्रन्थ सद्धर्मस्मृत्युपस्थान[4] निस्सन्देह वाल्मीकि का ऋणी है। उक्त ग्रन्थ का जम्बूद्वीप-वर्णन रामायण के दिग्वर्णन से बिलकुल मिलता है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में नदियों, समुद्रों, देशों और द्वीपों का उल्लेख बिलकुल उसी शैली से किया गया है, जिस शैली से यह रामायण में है[5]।

---

१ साहित्य में ये जातक अपने प्रकार के आप ही हैं। इनमें पूर्ण बुद्ध बनने से पहले के बुद्ध के जन्म-जन्मान्तरों की कथाएँ कही गई हैं। २ तिपिटक में आया हुआ एक पाली जातक। ३ विटर निट्ज़ कृत भारतीय साहित्य का इतिहास (इंगलिश) भाग १, पृष्ठ ५०९। ४ मूलग्रन्थ अप्राप्य है। किन्तु इसका एक बड़ा टुकड़ा शान्तिदेव के शिक्षा-समुच्चय में सुरक्षित है। ५ यदि कहा जाय कि शायद वाल्मीकि ने ही बौद्ध स्मृतियों से कुछ लिया हो, तो यह ठीक नहीं। कारण कि ब्राह्मण धर्म के बारे में इतने कृपण थे कि उन द्वारा बौद्धग्रन्थों से कुछ लेने की संभावना नहीं है। इसके अतिरिक्त, रामायण में उच्चतम सदाचार की शिक्षा है, जिसे वाल्मीकि ने किसी अविस्पष्ट बौद्धग्रन्थ से नहीं लिया होगा। हाँ, इसके विपरीत बौद्धों द्वारा ब्राह्मणों के ग्रन्थों से बहुत कुछ लेने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

उ—भाषा के आधार पर भी ऐच० जेकोबी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि रामायण बौद्धकाल से पहले की है[2]।

ऊ—क्या बौद्धधर्म की बातें रामायण में सिद्ध की जा सकती हैं? इस प्रश्न को लेकर प्रो० विंटरनिट्ज़ कहते हैं—"शायद इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' में है। क्योंकि रामायण में जिस एक स्थल पर बुद्ध का नाम आया है, वह अवश्य बाद की मिलावट है"

(३) यूनानियों के सम्बन्ध से—सारी रामायण में केवल दो पद्यों में यवनों (यूनानियों) का नाम पाया जाता है। इन्हीं के आधार पर प्रो० वेबर ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि रामायण की कथा पर यूनानियों का प्रभाव पड़ा है। किन्तु प्रो० जेकोबी ने इस निश्चय में सन्देह की कोई गुंजायश नहीं छोड़ी कि ये दोनों पद्य २०० ई० पू० के बाद कभी मिलाये गये हैं।

(४) आभ्यन्तरिक साक्ष्य—अ—असली रामायण मे कोसल की राजधानी अयोध्या कही गई है। बाद में बौद्धों ने, जैनों ने, यूनानियों ने, यहाँ तक कि पतञ्जली ने भी अयोध्या नगरी को साकेत के नाम से दिया है। लव की राजधानी, जैसा कि सप्तम काण्ड में दी गई है, श्रावस्ती के उस स्थान पर स्थापित की गई थी जहाँ बुद्ध के समय में कोसलराज प्रसेनजित् राज्य करता था। असली रामायण (काण्ड २—६) में श्रावस्ती का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि असली रामायण उस समय रची गई जिस समय अयोध्या नगरी विद्यमान थी, इसका नाम साकेत नहीं पड़ा था और श्रावस्ती नगरी प्रसिद्ध नहीं हो पाई थी।

आ—प्रथम काण्ड (श्लोक ३५) में कहा गया है कि राम उस स्थान से होकर गये, जहाँ पाटलिपुत्र (आजकल का पटना) स्थित है। जहाँ रामायण

१-यदि वाल्मीकि बुद्ध के बाद हुआ होता तो वह इस प्रकार के सर्वप्रिय ऐतिहासिक महाकाव्य को प्राकृत में लिखता। २ इस नगर की नींव डालने वाला नृप कालाशोक था जिसकी अध्यक्षता में लगभग ३०० ई० पू० वैशाली में बौद्धों की दूसरी सभा हुई थी। मेगस्थनीज़ (३०० ई० पू०) से पहले ही यह भारत की राजधानी बन चुका था।

की प्रसिद्धि पहुँच चुकी थी, उस पूर्वी भारत के कौशाम्बी, कान्यकुब्ज, और काम्पिल्य जैसे कुछ महत्त्वशाली नगरों के नाम भी पाये जाते हैं। सारी रामायण में पाटलिपुत्र का नाम कहीं भी नहीं आता, यदि रामायण काल में यह नगर विद्यमान होता तो इसका उल्लेख अवश्य होता।

इ—बालकाण्ड में मिथिला और विशाला को दो भिन्न राजाओं के अधीन जोड़िया नगरियाँ बताया गया है। हम जानते हैं कि बुद्ध के समय से पूर्व ही ये दोनों नगरियाँ वैशाली के एक प्रसिद्ध नगर के रूप में परिवर्तित हो चुकी थीं।

ई—इसके अतिरिक्त, हमें पता लगता है कि रामायण के काल में भारतवर्ष छोटे छोटे भागों में बँटा हुआ था, जिनमें छोटे छोटे राजा राज करते थे[1]। भारत की यह राजनीतिक दशा केवल बुद्ध के पूर्व तक ही रही।

अन्त में हम कह सकते हैं कि असली रामायण ५०० ई० पूर्व से पहले बन चुकी होगी।

[यह युक्ति दी जाती है कि रामायण की भाषा, विशेष करके बम्बई वाले संस्करण की भाषा, ऐतिहासिक महाकाव्यों की ओर ध्यान न देने वाले वैयाकरण पाणिनि की भाषा से बाद की भाषा के रूप की अवस्था को प्रकट करती है। किन्तु इससे रामायण का कोई पाणिनि के बाद का समय सिद्ध नहीं होता है। पाणिनि ने केवल शिष्टों की परिकृत भाषा को ही अपने विचार का क्षेत्र रक्खा था और सर्वप्रिय भाषा की ओर ध्यान नहीं दिया था। दूसरी ओर, यदि रामायण पाणिनि के बाद बनी होती तो यह पाणिनि के व्याकरण के प्रबल प्रभाव से नहीं बच सकती थी।]

(च) शैली—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संस्कृत के सभी लेखकों ने रामायण को आदिकाव्य और इसके रचयिता को आदिकवि कहा है। ऐसा होने

---

१ इसके विरुद्ध, महाभारत में हमें जरासन्ध जैसे शक्तिशाली राजाओं का वर्णन मिलता है, जिनका शासन अधिक देश तक विस्तृत था।

से यह विस्पष्ट है कि रामायण संस्कृत काव्य की प्रारम्भिक अवस्था को हमारे सामने रखती है। श्लोक छन्द की उत्पत्ति की कथा, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, सूचित करती है कि इस छन्द का प्रादुर्भाव वाल्मीकि से हुआ। रामायण की भाषा आदि से अन्त तक प्राञ्जल और परिष्कृत है। अलङ्कारों की छटा बार बार देखने को मिलती है। उपमा और रूपक के प्रयोग में वाल्मीकि अत्यन्त निपुण हैं। भाषा की सरलता और भाव की विशदता उनकी कविता शैली की विशेषता है।

(९) महाभारत

(क) वर्तमान महाभारत असल महाभारत का समुपबृंहित रूप है। असल महाभारत वस्तुतः एक ऐतिहासिक ग्रन्थ था, न कि औपदेशिक। सम्भवतः व्यास ने इसे 'जय' का नाम दिया। जैसा कि वर्णित घटनाओं के समारोह से प्रतीत होता है। असली ग्रन्थ में भी लम्बे लम्बे वर्णन थे। जैसा कि मैकडानल्ड ने कहा है कि असल महाभारत कदाचित् ८,८००[2] श्लोकों तक ही परिमित नहीं था।

महाभारत के विकास मे तीन विशिष्ट काल देखे जाते हैं। आदिपर्व में एक श्लोक है—

मन्वादि भारतं केचिदस्तिकादि तथापरे।
तथा परिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते॥

---

१ मिलाकर देखिए, १८वें पर्व का वाक्य 'जयो नामेतिहासोऽयम्'। इसके अतिरिक्त महाभारत का प्रत्येक पर्व वक्ष्यमाण आशीर्वाद से प्रारम्भ होता है—

नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीञ्चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

२ कदाचित् यह संख्या श्लोकों की नहीं, कूट श्लोकों की है, जो महाभारत में आये हैं।

(कुछ विद्वान् भारत का प्रारम्भ मनु-उपाख्यान से, कुछ अस्तिक-उपाख्यान से और कुछ परिचर-उपाख्यान से मानते हैं।)

उक्त तीनों कालों में से प्रथमकाल में व्यास ने अपने पाँच प्रधान शिष्यों में से एक शिष्य वैशम्पायन को महाभारत पढाया। यह असली ग्रन्थ कदाचित् परिचर-उपाख्यान से प्रारम्भ होने वाला ग्रन्थ है।

दूसरे काल में यह ग्रन्थ वैशम्पायन ने सर्प-सत्र में जन्मेजय को सुनाया। इस काल के ग्रन्थ में कदाचित् २४००० श्लोक थे। यह ग्रन्थ अस्तिक-उपाख्यान से प्रारम्भ होता है।

तीसरे काल में द्वितीयकालीन विस्तृत ग्रन्थ सौति ने शौनक को सुनाया, जब शौनक द्वादशवर्षीय यज्ञ कर रहे थे, जब कि शौनक ने कुछ प्रश्न किये और सौति ने उनका उत्तर दिया। आजकल के एक लाख श्लोकों की संख्या इस तीसरे काल में ही प्रायः पूर्ण हुई होगी। मिलाइए—

अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान्।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत॥

यह ग्रन्थ मनु-उपाख्यान से प्रारम्भ होता है। कदाचित् सौति ने इस ग्रन्थ का नाम महाभारत रक्खा था[1]।

मूलावस्था में महाभारत को 'इतिहास, पुराण या आख्यान' की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता था[2]। आजकल यह आचारविषयक उपदेशों का विश्वकोष है। यह मनुष्य को 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' इन

---

१ मिलाइए,

महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।

पाणिनि को युधिष्ठिर जैसे वीरों का तो पता है किन्तु महाभारत नामक किसी ग्रन्थ का नहीं। इससे भी अनुमान होता है कि महाभारत नाम की उत्पत्ति बाद में हुई। २ इन शब्दों को भारतीय प्रायः पर्यायवाची के तौर पर प्रयुक्त करते हैं।

चारों पदार्थों की प्राप्ति कराता है। इसे पंचम वेद भी कहा जाता है[1]। इसे कृष्ण-वेद (कृष्ण का वेद) भी कहते हैं[2]। ग्रन्थ भर में वैष्णव सिद्धान्तों की सब से अधिक प्रधानता होने के कारण इसे 'वैष्णवों की स्मृति' भी कहते हैं। सच तो यह है कि वर्तमान महाभारत में औपदेशिक अंश ऐतिहासिक अंश की अपेक्षा कम से कम चारगुना है।

(ख) महत्त्व—यद्यपि महाभारत रामायण के समान सर्वप्रिय नहीं है तथापि इसका महत्त्व रामायण से किसी प्रकार कम नहीं है। इसका ऐतिहासिक अंश महायुद्ध तथा कौरवों और पाण्डवों के विस्तृत इतिवृत्त का वर्णन करता है। इसके द्वारा हमें तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का भी पता लगता है। इससे आर्यों की तत्कालीन सभ्यता पर भी प्रकाश पड़ता है। इसका महत्त्व इस कारण से भी है कि यह हमें केवल शान्ति-विद्या की ही नहीं, रण-विद्या की भी बहुत सी बातें बताता है। इसके औपदेशिक अंश ने, अपने प्रचलित उच्च प्रामाण्यगुण द्वारा, इस ग्रन्थ का पंचमवेद नाम सार्थक कर दिया है[3], जिससे इसका महत्त्व पूर्णतया सिद्ध होता है।

(ग) (१) साधारण सस्करण—महाभारत के हमें दो साधारण संस्करण प्राप्त होते हैंः—(१) देव नागरी (या उत्तर-भारत) संस्करण। (२) दक्षिण भारत संस्करण।

इन दोनों संस्करणों में परस्पर प्रायः इतना ही भेद है, जितना रामायण के संस्करणों में। आकार में वे प्रायः बराबर हैं। जो बातें एक में छोड़ दी गई हैं, वे दूसरे में मिल जाती हैं। इसकी पूर्ण हस्तलिखित प्रतियाँ भारत के अनेक स्थानों के अतिरिक्त यूरोप, लन्दन, पेरिस और बर्लिन में

---

१ वेदों के समान प्रमाण्य-पूर्ण यह क्षत्रियों को उनके साम्रामिक जीवन के विषय में शिक्षाएँ देता है। २ यह क्षत्रियों को कृष्णोपासना का उपदेश करता है जिससे उन्हें अवश्य सफलता और कल्याण मिलेगा। (सिलवेन लेवी) ३ यह मानना होगा कि ब्राह्मण-धर्म (वैदिक धर्म) में वेदों के बराबर किसी का प्रमाण्य नहीं है।

भी पाई जाती हैं। अपूर्ण हस्तलिखित प्रतियों की संख्या तो बहुत है। किन्तु कोई भी हस्तलिखित प्रति चार पाँच सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। अतः हमारे लिए यह संभव नहीं कि हम असली महाभारत का ठीक ठीक पुनर्निर्माण कर लें या किसी एक हस्तलिखित प्रति को दूसरी से यथार्थ में उत्कृष्ट सिद्ध कर सकें।

(२) आलोचनापूर्ण सस्करण १—एक संस्करण, जिसमें हरिवंश भी सम्मिलित है, कलकत्ते में[1] (१८३४-३९) चार भागों में छपा था। इसमें कोई टीका नहीं है। २—एक और संस्करण बम्बई में १८६३ में प्रकाशित हुआ था। इसमें हरिवंश सेम्मिलित नहीं किन्तु इसमें नीलकठ की टीका मुद्रित है। इसके पाठ उपर्युक्त कलकत्ता-संस्करण के पाठो से अच्छे हैं और यह तब से कई बार छप चुका है।

सूचना—ये दोनों संस्करण उत्तरभारत-संस्करण हैं। अतः इन दोनों में परस्पर अधिक भेद नहीं है।

एक और संस्करण मदरास में (१८५५-६०) चार भागों में छपा था। इसका मुद्रण दक्षिण भारत-संस्करण के आधार पर तैलगु लिपि में हुआ है। इसमें नीलकंठी टीका के अंश और हरिवंश भी सम्मिलित हैं।

महाभारत का सचित्र और आलोचना-चर्चित (Critical) संस्करण पूना से भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इसका आधार मुख्यतया उत्तर भारत-संस्करण है।

अब तक महाभारत का कोई संस्करण भारत से बाहर प्रकाशित नहीं हुआ है।

(३) टीकाएँ—सब से पुरानी टीका जो आजकल मिलती है, सर्वज्ञ-नारायण की है। वह यदि बहुत ही नया हो तो भी १४ वीं शताब्दी के बाद

१ कलकत्ते में एक और सस्करण १८७५ में प्रकाशित हुआ था। इसमें नीलकण्ठ की टीका के साथ साथ अर्जुनमिश्र की टीका भी छपी है।

का नहीं हो सकता। दूसरी टीका अर्जुन मिश्र की है, जिसके उद्धरण नीलकंठ ने अपनी टीका में दिये है। यह टीका कलकत्ता के (१८७५) संस्करण में प्रकाशित हुई है। सब से अधिक प्रसिद्ध टीका नीलकण्ठ की है। बर्नेल के मत से नीलकण्ठ १६ वीं शताब्दी में हुए हैं। वे महाराष्ट्र में कूरपुरा के रहने वाले थे।

(घ) वर्णनीय विषय—अनुमान यह है कि व्यास का असली ग्रन्थ पर्वों और अध्यायों में विभक्त था। वैशम्पायन ने भी उसी क्रम को स्थिर रक्खा। उसके ग्रन्थ में प्रायः सौ पर्व थे। सौति ने उनको १८ पर्वों में निबद्ध कर दिया[1]। बहुत बार मुख्य पर्व और इसके भाग का नाम एक ही पाया जाता है; उदाहरणार्थ, मुख्य सभा पर्व में एक छोटा सभापर्व[2] है।

इसके अतिरिक्त कुछ परिशिष्ट भाग भी जिसे खिल पर्व या हरिवंश कहते हैं। महाभारत में इसकी यही स्थिति है, जो रामायण में उत्तरकाण्ड की। महाभारत में दिये हुए समग्र श्लोकों की संख्या ९५,८२६ अर्थात् मोटे रूप में एक लाख है।

प्रतिपादित वस्तु—आदिपर्व में कौरव-पाण्डवों के शैशव, द्रौपदी के विवाह और पाण्डवो का यदुनाथ कृष्ण के साथ परिचय वर्णित है। दूसरे पर्व में इन्द्रप्रस्थ में रहते हुए पाण्डवो की समृद्धि का तथा युधिष्ठिर द्वारा दुर्योधन के साथ जुए में द्रौपदी तक को मिलाकर सब कुछ हार जाने का वर्णन है। अन्त में पाण्डवों ने बारह साल का साधारण और एक साल का अज्ञात वनवास स्वीकार कर लिया। वनपर्व में पाण्डवों के बारह वर्ष तक

१—उन अठारह पर्वों के नाम ये हैं—(१) आदि (२) सभा (३) वन (४) विराट (५) उद्योग (६) भीष्म (७) द्रोण (८) कर्ण (९) शल्य (१०) सौप्तिक (११) स्त्री (१२) शान्ति (१३) अनुशासन (१४) अश्वमेध (१५) आश्रमवासी (१६) मौसल (१७) महाप्रस्थानिक (१८) स्वर्गारोहण। २—इससे प्रतीत होता है कि क्रम-प्रबन्ध के कर्ता कम से कम दो आदमी अवश्य हैं।

काम्यक वन में रहने का तथा विराट पर्व में उनके मत्स्यराज विराट के घर अज्ञातवास के तेरहवें साल का वर्णन है।

क्योंकि कौरवों ने पाण्डवों की न्यायपूर्ण माँगो का सहानुभूति-भरा कोई उत्तर नहीं दिया। अतः उद्योगपर्व में पाण्डवों की युद्ध की तैयारी का वर्णन है। अगले पाँच पर्वों में उस भारी संग्राम का विस्तार से वर्णन है जिसमें पाण्डवों और कृष्ण को छोड़कर सब मारे गये। ग्यारहवें पर्व में मरे हुओं के अग्नि-संस्कार का वर्णन है। अगले दो पर्वों में राजधर्म पर युधिष्ठर को दिया भीष्म का लम्बा उपदेश है। चौदहवें पर्व में युधिष्ठिर के राजतिलक और अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है। पन्द्रहवें में धृतराष्ट्र तथा गान्धारी का वन गमन वर्णन, सोलहवें में यादवों का परस्पर कलह और व्याध के तीर से श्रीकृष्ण की अचानक मृत्यु वर्णित है। सत्रहवें में दिखाया गया है कि किस प्रकार पाण्डव लोग जीवन से उकताकर मेरु पर्वत पर चले गये और अपने पीछे अर्जुन के पोते परीक्षित पर प्रजा-पालन का भार रख गये। अन्तिम पर्व में पाण्डवों के स्वर्गारोहण की कथा है।

हरिवंश में १६ हज़ार श्लोक हैं और सारा ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में श्रीकृष्ण के पूर्वजों का, दूसरे में श्रीकृष्ण के पराक्रमों का और तीसरे में कलियुग की आगामी बुराईयो का वर्णन है।

(ङ) उपाख्यान—रामायण की अपेक्षा महाभारत में उपाख्यानों की संख्या बहुत अधिक है। कुछ उपाख्यान ऐसे भी हैं, जो दोनों महाकाव्यों में पाये जाते हैं। वनवास की दशा में पाण्डवों को धैर्य बँधाने के लिए वनपर्व में बहुत सी कथाएँ कही गई हैं। मुख्य मुख्य उपाख्यान ये हैं—(१) रामोपाख्यान अर्थात् राम की कहानी (२) नलोपाख्यान अर्थात् नल और दमयन्ती की कथा, जो भारत में बहुत ही सर्वप्रिय हो चुकी है। (३) सावित्री सत्यवान—वह उपाख्यान जिसमें भारतीय आदर्श-पत्नी का चित्र अङ्कित किया गया है, यह कहानी भी भारत में बहुत प्रेम से सुनी जाती है। (४) शकुन्तलोपाख्यान। यही उपाख्यान कालिदास के प्रसिद्ध शकुन्तला नाटक

का आधार है। (५) गंगावतरण। यह ठीक वैसा ही है जैसा रामायण में है। (६) मत्स्योपाख्यान। इसमें एक प्राचीन जलाप्लाव की कथा है (७) उसीनर[1] की कथा, शिवि की कथा, वृषदर्भ की कथा, इत्यादि।

(च) महाभारत ने वर्तमान रूप कैसे प्राप्त किया—अब अगला प्रश्न यह है कि महाभारत ने वर्तमान विशाल आकार कैसे धारण किया। ऊपर कहा जा चुका है कि असली कथांश सारे ग्रन्थ का पाँचवाँ भाग है। शेष चारभाग औपदेशिक सामग्री रखते हैं। यह औपदेशिक सामग्री कई प्रकार से बढ़ाई गई है, जिनमें से मुख्य मुख्य ये हैं:—

कहानियों और वर्णनों की पुनरुक्ति[2], उपाख्यानों और दृश्य-वर्णनों की नकल[3], आगामी घटनाओं की भविष्यवाणियाँ[4], कुछ परिस्थितियों की व्याख्या[5], और काव्य-अलङ्कारों का उपयोग[6]। किन्तु सब से मुख्य कारण सौति की यह इच्छा है कि महाभारत को एक विस्तृत धर्मशास्त्र, ज्ञान का विशाल भण्डार[7] और औपाख्यानिक विद्या की गहरी खान बताया जाय। विशेष उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि समग्र शान्तिपर्व बाद की मिलावट प्रतीत होता है। यह सारा पर्व भीष्म के मुख से कहलाया गया है, जिनकी मृत्यु छः महीने के लिए रुक गई थी। सातवे पर्व में 'हतो भीष्मः' (भीष्म मारा गया), 'त्याजितः समरे प्राणान्' (युद्ध में

---

१ इन राजाओं ने बाज से कबूतर की जान बचाने के लिए अपनी जान दे दी थी। २ जैसे, वनपर्व में यात्राओं का पुनः पुनः वर्णन। ३ जैसे वनपर्व में यक्ष-प्रश्नोपाख्यान नहुष उपाख्यान की नकल है। ४ कभी कभी इसकी अनि देखी जाती है। जैसे; युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया है कि आपकी मृत्यु किस प्रकार हो सकती है। ५ जैसे भीम का दुःशासन के रुधिर का पीना। कई बातों की व्याख्या करने के लिए स्वयं व्यास का कई अवसरों पर प्रकट होना। ६ जैसे; युद्ध के, शोक के, एवं प्राकृतिक दृश्यों के लम्बे लम्बे वर्णन। ७ जैसे, देखिए, भूगोल सम्बन्धी जम्बूखण्ड और भूखण्ड का विस्तृत वर्णन।

उससे प्राण दिलवाये गये) इत्यादि ऐसे वाक्य हैं, जिनसे जाना जाता है कि वस्तुतः भीष्म शान्तिपर्व की कथा तक जीवित ही नहीं थे।

(छ) काल—सम्पूर्ण महाभारत को एक साथ लेकर उसके लिए किसी काल का निश्चित करना असम्भव है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, महाभारत के विकास के तीन मुख्य काल हैं। अतः असली महाभारत के काल और आजकल के महाभारत के काल में कई शताब्दियों का अन्तर है।

अ—वह काल जिसमें महाभारत ने वर्तमान रूप धारण किया। इस प्रकरण में निम्नलिखित बातें ध्यान में रखने योग्य हैं:—

(१) ईसा की ११वीं शताब्दी में क्षेमेन्द्र ने भारतमञ्जरी लिखी। इसमें महाभारत का संक्षेप है। आजकल महाभारत के जितने संक्षेप मिलते हैं, उनमें सबसे पुराना यही है। प्रो० बुहलर ने इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियों की महाभारत के साथ विस्तृत तुलना करके दिखाया है कि क्षेमेन्द्र का असली ग्रन्थ आजकल के महाभारत से बहुत भिन्न नहीं है।

(२) शङ्कराचार्य (८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) ने कहा है कि उन (स्त्रियों और शूद्रों) के लिए जो वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं हैं, महाभारत धर्मशिक्षा के लिए स्मृति के स्थान पर है।

(३) वेदों के महान् विद्वान् कुमारिल ने (८वीं शताब्दी का प्रारम्भ) अपने तन्त्रवार्त्तिक में महाभारत के १८ पर्वों में से कम से कम दस पर्वों में से उद्धरण दिये हैं या उनकी ओर संकेत किया है। (उन दश पर्वों में १२वाँ, १३वाँ और १९वाँ सम्मिलित है, जो तीनों के तीनों निस्सन्देह बाद की मिलावट है।)

(४) ७वीं शताब्दी के बाण, सुबन्धु इत्यादि कवियों ने महाभारत के १८ पर्वों में से ही कथाएँ नहीं लीं, वे हरिवंश से भी परिचित थे।

(५) भारत के दूरदेशीय कम्बोज नामक उपनिवेश के लगभग छठी शताब्दी के एक शिलालेख में उत्कीर्ण है कि वहाँ के एक मन्दिर को

रामायण और महाभारत की प्रतियाँ भेंट चढ़ाई गई थीं। इतना ही नहीं, दाता ने उनके निरन्तर पाठ होते रहने का भी प्रबन्ध कर दिया था।

(६) महाभारत जावा और बाली द्वीपों में छठी शताब्दी में मौजूद था। तिब्बत की भाषा में इसका अनुवाद छठी शताब्दी से भी पहले हो चुका था।

(७) चौथी और पाँचवीं शताब्दी के भू-दान के लेख-पत्रों में महाभारत को स्मृति (धर्मशास्त्र) के नाम से उद्धृत किया गया है।

(८) सन् ४६२ ई० का एक शिलालेख महाभारत में निश्चय रूप से एक लाख श्लोक बतलाता है और कहता है कि इसके रचयिता पराशर के पुत्र वेदव्यास महामुनि व्यास हैं[1]।

(९) शान्तिपर्व के तीन अध्यायों का अनुवाद सीरियन भाषा में मिलता है। उनके आधार पर प्रो० हर्टल ने जो लिखा है उससे, विश्वास हो जाता है कि श्लोकबद्ध महाभारत, जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, सन् ५०० ई० में भी प्रायः ऐसा ही था। चीनी तुर्किस्तान और चीनी साहित्य की जो छानबीन हाल में हुई है, उससे तो यह भी जाना जा सकता है कि सन् ५०० ई० में ही नहीं, उससे भी कई शताब्दी पहले महाभारत का यही रूप था। आशा की जाती है कि महायान बौद्ध ग्रन्थों के अधिकाधिक अनुसन्धान से इस विषय पर और भी अधिक रोशनी पड़ेगी।

(१०) डायन क्राइसस्टन का एक अव्यवहितसाक्ष्य मिलता है कि एक लाख श्लोकों वाला महाभारत सन् ५० ई० में दक्षिण भारत में सुप्रसिद्ध था[2]।

---

१ इस बात से प्रो० हौल्ट्ज़मैन के इस वाद का पूर्णतया खण्डन हो जाता है कि महाभारत को धर्मशास्त्र का रूप ९०० ई० के बाद ब्राह्मणों ने दिया था।
२ देखिए, चिन्तामणि विनायक वैद्य की 'महाभारतमीमांसा'।

(११) वज्रसूची के रचयिता अश्वघोष (ईसा की प्रथम शताब्दी) ने हरिवंश में से एक श्लोक उद्धृत किया है।

(१२) भास के कुछ नाटक महाभारतगत उपाख्यानों पर अवलम्बित हैं।

इस प्रकार मैकडानल के शब्दों में हम इस प्रकरण को यों समाप्त कर सकते हैं कि "हमारा यह मानना ठीक है कि यह महान् ऐतिहासिक महाकाव्य (महाभारत) हमारे संवत्सर (सन् ईसवी) के प्रारम्भ से पहले ही एक औपदेशिक संग्रह-ग्रन्थ बन चुका था"[1]।

[हाँ, कुछ भाग ईसा की दूसरी शताब्दी के प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं। क्योंकि (क) हरिवंश में रोमन शब्द 'दीनार' आता है और महाभारत के आदिपर्व के प्रथम भाग में तथा अन्तिम पर्व में हरिवंश का पता मिलता है। अतः ऐसे भाग, जिनमें हरिवंश का पता मिलता है, दीनार सिक्के के प्रचार के बाद की मिलावट होने चाहिएँ। (ख) राशियों का वर्णन भी यही सूचित करता है। (ग) यूनानियों, सिथियनों और बैक्ट्रीरियनों के बारे में भविष्यद् वाणियाँ की गई हैं।]

आ—असली महाभारत के रचना-काल के विषय में निम्नलिखित बात ध्यान देने के योग्य हैं:—

(१) दह्लमन का एक साक्ष्य मिलता है कि पाणिनि को असली महाभारत का पता था।

---

१ चि० वि० वैद्य के मत से महाभारत ने वर्तमान रूप ईसा से पूर्व ३०० और १०० के बीच प्राप्त किया। ३०० ई० पूर्व को परली सीमा मानने के हेतु ये हः—(क) यवनों का उल्लेख बार बार आता है। (ख) आदिपर्व में नग्न क्षपणक का उल्लेख होना। (ग) महाभारतोक्त समाज की, धर्म की और विद्या की अवस्थाएँ मेगस्थनीज की वर्णित अवस्थाओं से मेल खाती हैं। उदाहरणार्थ, मास-भक्षण की प्रवृत्ति घट रही थी; शिव और विष्णु की उपासना प्रारम्भ हो चुकी थी; व्याकरण, न्याय और वेदान्त बन चुके थे और उनका अध्ययन होने लगा था।

(२) आश्वलायन गृह्यसूत्र (ई० पू० ५वीं शताब्दी) में एक 'भारत' और 'महाभारत' का नाम आता है।

(३) बौधायन धर्मसूत्र (लगभग ४०० ई० पू०) में महाभारत का उल्लेख पाया जाता है।

(४) बौधायन गृह्यसूत्र में महाभारत में से 'विष्णुसहस्रनाम' का उद्धरण पाया जाता है।

(५) मेगस्थनीज़ ने अपने ग्रन्थ इंडीका (भारत) में लिखा है कि कुछ कहानियाँ हैं, जो केवल महाभारत में पाई जाती हैं[1]।

असली महाभारत में ब्रह्मा को सब से बड़ा देव कहा गया है। पाली-साहित्य के आधार पर यह बात पाँचवीं शताब्दी से पूर्व की अवस्थाओं का परामर्श करती है।

(६) ज्योतिष के आधार पर भी कुछ विद्वानों ने परिणाम निकाला है कि असली महाभारत ५०० ई० पू० से पहला है।

इ—ऐतिहासिक काव्य के आविर्भाव के सम्बन्ध में यह बात बहुत कुछ निश्चय के साथ कही जा सकती है कि यह काव्य वैदिक काल से सम्बन्ध रखता है। यजुर्वेद में इतिहासप्रसिद्ध कुरुओं और पञ्चालों का वर्णन मिलता है और काठकसंहिता में धृतराष्ट्र विचित्रवीर्य का नाम आया है।

(ज) शैली—यदि रामायण आदिकाव्य है तो महाभारत आदि 'इतिहास, पुराण या आख्यान' है। यह मोटा पोथा श्लोक छन्द में लिखा गया है। इसमें पुराने ढंग के कुछ उपजाति और वंशस्थ छन्द भी हैं जो अधिक पुराने रूप के भग्नावशेष हैं। पुराने गद्य में कुछ कहानियाँ भी हैं। इसके अतिरिक्त प्रवेशक वाक्य भी हैं। जैसे, कृष्ण उवाच, भीष्म उवाच जो श्लोकों का भाग

---

१ कुत्ते के बराबर बड़ी बड़ी दीमकें या चींटियाँ (ants) ज़मीन खोदती हैं और सुनहरी रेत निकल आती है।

नहीं हैं। इस ग्रन्थ में धर्म का जो स्थूल रूप अंकित है, उसका सार इस पद्य में आ गया मालूम होता है :—

> यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिन् तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
> मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

(असली धर्म यही है कि जैसे के साथ तैसा बना जाय। कपटी को कपट से खत्म करो और सीधे के साथ सिधाई से बरतो।)

सारे श्लोक को देखा जाय तो कहा जायगा कि इसकी भाषा बाद के काव्यों से कहीं अधिक प्राञ्जल है।

(१०) दोनों ऐतिहासिक महाकाव्यों का अन्योन्य सम्बन्ध

(क) परिमाण—वर्तमान महाभारत का परिमाण ईलियड और ओडिसी के संयुक्त परिमाण का सात गुना है। रामायण का परिमाण महाभारत के परिमाण का चौथाई है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है। आजकल का महाभारत पुराने महाभारत का समुपबृंहित रूप है। मैकडानल के मत से असली महाभारत में ८८०० श्लोक थे। चिन्तामणि विनायक वैद्य के मत से ८८०० कूटश्लोक थे और साधारण श्लोक इनसे अलग थे। इसे व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन को पढ़ाया और उसने समुपबृंहित करके (२४००० श्लोकों तक पहुँचाकर) सर्पसत्र अवसर पर जन्मेजय को सुनाया। वैशम्पायन से प्राप्त ग्रन्थ को पुष्ट करके (१ लाख श्लोकों तक पहुँचाकर) सौति ने द्वादशवर्ष सत्र के अवसर पर शौनक को सुनाया। महाभारत के इन तीनों समुपबृंहणों का पता महाभारत के पद्य से ही लगता है, जिसमें कहा गया है कि महाभारत के तीन प्रारम्भ हैं। (देखिए पूर्वोक्त प्रघट्टक ९ का 'क' भाग।) परन्तु रामायण को अपने ऐसे समुपबृंहण का पता नहीं है।

(ख) रचयितृत्व—रामायण एक ही कवि—वाल्मीकि—की रचना है, जो पुरानी ऐतिहासिक काव्य-शैली को जानता था और जो कविता नाम के अधिकारी, आख्यान काव्य से भिन्न, अलंकृत काव्य का आदिम रचयिता

था। परन्तु वर्त्तमान महाभारत कई रचयिताओं के श्रम का फल है। महाभारत के रचयिता व्यास कहे जाते हैं। व्यास, चारो वेदों को क्रमबद्ध करने वाले थे। ये हौपकिन के अनुसार रचयिता की अपेक्षा सम्पादक अधिक थे। रामायण महाभारत से कहीं अधिक समरूप, कहीं अधिक समानावयवी और परिमार्जित छन्दों की तथा सामाजिक वातावरण की दृष्टि से कहीं अधिक परिष्कृत है।

(ग) मुख्य ग्रन्थभाग—दोनों ग्रन्थों में से किसी में भी अविसन्दिग्ध भाग नहीं मिलता। दोनों ग्रन्थों के नाना संस्करण मिलते हैं, जो एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। उनके तुलनात्मक अध्ययन से हम किसी एक अविसन्दिग्ध ग्रन्थभाग को नही ढूँढ निकाल सकते। महाभारत का दक्षिण भारत संस्करण उत्तरभारत संस्करण से किसी प्रकार बढ़ कर नहीं, प्रत्युत घट कर ही है। अतः यह ग्रन्थ की असलियत का पता लगाने में बहुत कम उपयोग का है। सच तो यह है कि इन काव्यों का कोई भी अविसन्दिग्ध असली ग्रन्थभाग नहीं है क्योंकि हिन्दुओं के ऐतिहासिक महाकाव्य का कोई निश्चित रूप था ही नहीं। सभी ऐतिहासिक कविताएँ प्रथम मौखिक रूप में एक से दूसरे को प्राप्त होती थीं और भिन्न भिन्न पुनर्लेखक इच्छानुसार उनमें परिवर्तन और परिवर्धन कर देते थे। अतः असली ग्रन्थ के पुनर्निर्माण में सन्देह का अवसर नहीं। हम अधिक से अधिक यही कर सकते हैं कि प्रत्येक सम्प्रदाय प्राप्त ग्रन्थ में मोटे मोटे प्रक्षेपों को ढूँढ सके।

(घ) उक्त महाकाव्यों का विकास—प्रत्येक के विकास के बारे में यह बात एकदम कही जा सकती है कि दोनों में से किसी का भी विकास दूसरे के बिना स्वतन्त्र रूप से नहीं हुआ। बाद वाली रामायण का तात्पर्य वही है, जो महाभारत का है और बाद वाला महाभारत वाल्मीकि की रामायण को स्वीकार करता है।

(ङ) पारस्परिक सम्बन्ध—गृह्यसूत्रों के अन्तिम काल से पूर्व किसी भी एक महाकाव्य का स्वीकार किया जाना नहीं मिलता। गृह्यसूत्रों और

दूसरे सूत्रग्रन्थों में जो ऐतिहासिक महाकाव्य सब से पहले स्वीकार किया गया है, वह भारत है। दोनों महाकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रकट करता है कि महाभारत में रामायण के कई उद्धरण आये हैं। हरिवंश में रामोपाख्यान तथा अन्य आकस्मिक उल्लेखों के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण को पूर्वतनी सिद्ध करने वाले विस्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं। यथा—

अपि चार्थ पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।

हौपकिन्स के मत से इन उल्लेखों से इस बारे में कुछ सिद्ध नहीं होता कि वाल्मीकि, आदिकवि के रूप में, महाभारत से पहले हुए। इनसे केवल इतना ही सिद्ध हो सकता है कि वाल्मीकि ने तब रामायण लिखी, जब महाभारत अभी सम्पूर्ण नहीं हुआ था। महाभारत में वायुपुराण का भी उल्लेख पाया जाता है। उससे भी यही सिद्ध होता है कि महाभारत के प्रारम्भ से पूर्व नहीं प्रत्युत समाप्त होने से पूर्व उक्त नाम का कोई पुराण विद्यमान था। इस प्रकरण में यह बात स्मरणीय है कि पीछे की रामायण महाभारत से परिचय सूचित करती है। अतः विस्पष्ट है कि आजकल की सारी रामायण महाभारत के प्रारम्भ से पहले सम्पूर्ण नहीं हुई थी। रामायण में जन्मेजय को एक प्राचीन वीर स्वीकार किया गया है और कुरुओं तथा पञ्चालों का एवं हस्तिनापुर का भी उल्लेख पाया जाता है। इन सब बातों से यह परिणाम निकलता है:—(१) राम की कथा पाण्डवों की कथा से पुरानी है। (२) पाण्डवों की कथा वाल्मीकि की रामायण से पुरानी है। और, (३) सारी मिलाकर देखी जाय तो रामायण, सारा मिलाकर देखे हुए महाभारत से पुरानी है।

(च) रचना-स्थान—तुल्य प्रकरणों और आभाणकों के आलोचनात्मक अध्ययन से पता लगता है कि उत्तरकाण्ड में गङ्गा के मैदान की अनेक कहानियाँ हैं, और प्राचीनतम महाभारत में पंजाब के रीति-रिवाज वर्णित हैं तथा महाभारत ऊर्ध्वकालीन औपदेशिक भागों का सम्बन्ध कोसल और विदेह से है। दूसरे शब्दों में, ऊर्ध्वकालीन विकास की दृष्टि से दोनों महाकाव्यों में प्रायः समान देशों की बातें हैं।

(छ) पारस्परिक साम्य—(१) शैली—जैसा पहले कहा जा चुका है समग्र ग्रन्थ को देखते हुए परिष्कृत छन्दों की तथा सामाजिक वातावरण की दृष्टि से रामायण कहीं अधिक परिमार्जित, कहीं अधिक समरूप एवं कहीं अधिक समानावयवी है। इतना होने पर भी दोनों महाकाव्यों की शैली में एक घनिष्ठ समानता है। होपकिन्स ने लगभग तीन सौ स्थल ढूँढे हैं, जो प्रायः एक जैसे हैं—जिनमें एक-से वाक्य और एक-से वाक्य-खण्ड हैं। उदाहरणार्थ, शान्तिपूर्ण दृश्यों के वर्णनों में 'नोत्कण्ठं कर्तुमर्हसि' दोनों महाकाव्यों में प्रायः पाया जाता है।

(२) दोनों में ही एक जैसी उपमाएँ[1] और युद्ध के एक जैसे वर्णन पाये जाते हैं।

(३) कथा की समानता और भी अधिक देखने के योग्य है। सीता और द्रौपदी दोनों नायिकाएँ, यदि उन्हें नायिका कहना उचित हो, आश्चर्य-जनक रीति से पैदा हुई हैं। दोनों का विवाह स्वयंवर की रीति से तो हुआ था किन्तु वर का चुनाव दोनों में से किसी की भी इच्छा से नहीं हुआ था। दोनों के स्वयंवरों में शारीरिक शक्ति ही सर्वोच्च मानी गई थी। दोनों काव्यों में नायक को वनवास होता है और दोनों काव्यों में नायिकाओं का (सीता और द्रौपदी का) अपहरण (क्रमशः रावण और जयद्रथ द्वारा) होता है। इस प्रकार हमें दोनों काव्यों में एक कथा का प्रभाव दूसरे पर पड़ता दिखाई देता है।

(४) पौराणिक कथा—दोनों महाकाव्यों की पौराणिक कथाओं में (और हम कहेंगे कि दर्शन-सिद्धान्तों में भी) बहुत समानता है। दोनों में ऋग्वेदकालीन प्रकृति-पूजा लुप्त सी दिखाई देती है। वरुण, अश्विन और आदित्य जैसे देवताओं का पता नहीं मिलता। उषा जैसी देवियों का वर्णन

---

१ मिलाकर देखिए.

सेना भिन्ना नौरिव सागरे,
सेना भिन्ना नौरिवागाधे।

नहीं पाया जाता। उन सब का स्थान देवत्रयी—ब्रह्मा, विष्णु और महेश—गणेश, कुबेर और दुर्गा ने ले लिया है। अवतारवाद प्रधान हो गया है। इन्द्र जैसे देवता स्त्री-पुत्र वाले कुटुम्बी जन बन जाते हैं। वे स्वर्ग में रहते हैं, सुन्दर महलों के स्वामी हैं और मनुष्यों के समान व्यवहार करते हैं। देवताओं के मन्दिर बनवाये जाते हैं। धातु, मिट्टी और नमक की मूर्तियों की पूजा की जाती है। यह पौराणिकता दोनों महाकाव्यों में एक जैसी पाई जाती है।

(११) पुराण

(क) पुराणों की उत्पत्ति—पुराण शब्द अथर्ववेद और ब्राह्मणों में सृष्टि-मीमांसा के अर्थ में आता है। महाभारत में इसका प्रयोग प्राचीन उपाख्यानों के ज्ञान के अर्थ में हुआ है।

असली पुराण की उत्पत्ति का पता वायु, ब्रह्माण्ड और विष्णुपुराण से लगता है। (भागवत भी कुछ पता देता है। किन्तु वह कुछ भिन्न है और अवरकालीन होने के कारण विश्वसनीय नहीं है। अतः ध्यान देने के योग्य भी नहीं है।) कहा जाता है कि व्यास ने—जिनका यह नाम इसलिए पड़ा कि उन्होंने वेद का विभाग करके उसे चार भागों में क्रमबद्ध किया था—वेद अपने चार शिष्यों के सुपुर्द किये थे। बाद में उन्होंने आख्यायिकाओं, कहानियों, गीतों और परम्पराप्राप्त जनश्रुतियों को लेकर एक पुराण की रचना की और इतिहास के साथ इसे अपने पाँचवें शिष्य रोमहर्षण (या लोमहर्षण) को पढ़ा दिया। उसके बाद उन्होंने महाभारत की रचना की। यहाँ हमारा इससे कोई प्रयोजन नहीं कि व्यास असली पुराण के रचयिता थे या नहीं। मुख्य बात तो यह है कि पुराने समय में विभिन्न प्रकृति की पर्याप्त परम्परा प्राप्त कथाएँ चलती आ रही होंगी, जो स्वभावतः पुराण की रचना में काम में लाई गईं। यह बात बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत

१ स्वयं महाभारत, पुराण को अपने से पूर्वतन अङ्गीकार करता है।

होती है कि जब धार्मिक मन्त्रों का संग्रह वेद के रूप में हो चुका था, तब पुरानी लोकाचार सम्बन्धी कथाएँ पुराण के रूप में संगृहीत की जातीं।

(ख) पुराण का उपचय—रोमहर्षण ने उस पुराणसंहिता को छः शाखाओं में विभक्त करके उन्हें अपने छः शिष्यों को पढ़ाया। उनमें से तीन ने तीन पृथक पृथक संहिताएँ बनाई, जो रचयिताओं के नाम से प्रसिद्ध हुईं और ये तीन संहिताएँ मूलसंहिता कहलाई। उनमें से प्रत्येक के चार चार पाद थे और वे विषय एक होने पर भी शब्दों में भिन्न थीं।

वे शाखाएँ आजकल उपलभ्य नहीं हैं। हाँ, रोमहर्षण के सिवा, उन रचयिताओं में से कुछ के नाम कुछ पुराणों में और महाभारत में प्रश्नकर्ताओं के अथवा वक्ताओं के रूप में अवश्य आते हैं। वे प्रकरण जिनमें ऐसे नाम आते हैं, संभव है उन पुराने पुराणों के ध्वंसावशेष हों जो वायु और ब्रह्माण्ड पुराण में सम्मिलित हो चुके हैं। एक बात और है। केवल ये ही दो पुराण ऐसे हैं, जिनमें उक्त चार चार पाद पाये जाते हैं। उन चारों पादों के नाम क्रमशः प्रक्रिया, अनुषङ्ग, उपोद्घात और उपसंहार हैं।

उक्त छः शिष्यों में से पाँच ब्राह्मण थे। अतः पुराण ब्राह्मणों के हाथ आ गया। परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायिक नये नये पुराणों की रचना होने लगी। यह भी स्मरण रखने की बात है कि पुराणो की उत्तरोत्तर वृद्धि नाना स्थानों में हुई। पुराण की इस उत्पत्ति और उत्तरोत्तर वृद्धि की साक्षी स्वयं पुराण से मिलती है।

(ग) पुराण का विषय—आख्यानों, उपाख्यानों, गाथाओं और कल्पवाक्यों को लेकर पुराण की सृष्टि हुई थी—इस बात को मन में रखते हुए हम आदिम पुराणों के विषय को सरलता से जान सकते हैं।

सर्गश्च [1] प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

यह श्लोक वस्तुतः आदिम पुराण का विषय बताता है जब उसमें धार्मिक सिद्धान्त, तीर्थमाहात्म्य, अनेक-शाखा-पत्र-युक्त धर्म जैसे अन्य अनेक विषय, पुराणों में सम्मिलित नहीं हो पाये थे।

आजकल पुराणों [2] का स्वरूप ऐतिहासिक कम और औपदेशिक अधिक है। उनमें उपाख्यान हैं, विष्णु के दश अवतारों के वर्णन हैं, तथा देवताओं की पूजा के और पर्वों के मनाने एवं व्रतों के रखने के विषय में नियम हैं। उनका प्रामाण्य वेदों के प्रामाण्य की स्पर्धा करता है। पुराणों के श्लोकों और प्रकरणों के लिए 'श्रुति' 'ऋक्' 'सूक्त' जैसे शब्दों का व्यवहार होता है और वेद के समान वे भी ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा करते हैं। उनमें से कई अपने आपको 'वेद सम्मित' (वेद तुल्य) भी कहते हैं। यह

---

१ अनुलोमसृष्टि, प्रतिलोमसृष्टि, ऋषिवंशों, मन्वन्तरों और राजवंशों का वर्णन करना, यही पाँच बातें पुराणों का लक्षण बताती हैं।

सूचना—यह बात ध्यान में रक्खी जा सकती है कि सर्ग, प्रतिसर्ग और मन्वन्तर प्रायः कल्पना के आश्रित हैं। हाँ, अन्य दो बातें—वंश और वंशानुचरित ऐतिहासिकता का वेष रखने के कारण कुछ महत्त्वपूर्ण हैं।

२ बाह्य रूप, भाषा और प्रतिपाद्य अर्थ की दृष्टि से पुराण, ऐतिहासिक महाकाव्य और कानून की पुस्तकें परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध रखती हैं। केवल इक्के दुक्के श्लोक ही नहीं, प्रकरण शब्दशः ज्यों के त्यों उनमें एक-से पाए जाते हैं। प्रतिपाद्य अर्थ की दृष्टि से उनके बीच कोई दृढ विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से महाभारत को हम ऐतिहासिक महाकाव्य, कानून की पुस्तक या पुराण भी कह सकते हैं।

पुराण भागशः औपाख्यानिक और भागशः ऐतिहासिक हैं। इस बारे में उनकी तुलना ईसाइयों के पुराण 'पैराडाइस लौस्ट' से की जा सकती है।

भी कहा गया है कि उनके अध्ययन से वेदाध्ययन के तुल्य, या उससे भी अधिक पुण्य की प्राप्ति होती है।

(घ) पुराणों में इतिहास—निम्नलिखित पुराणों में उन राजवंशों का वर्णन है जिन्होंने कलियुग में भारत में राज्य किया है—

(१) मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड—इन तीनों पुराणों के वर्णनों में अद्भुत समानता है। अन्त के दो तो आपस में इतने मिलते हैं कि वे एक ही ग्रन्थ के दो संस्करण प्रतीत होते हैं। मत्स्य पुराण में भी, उतनी नहीं तो बहुत कुछ इन दोनों से मिलती जुलती ही बातें हैं। ऐसा मालूम होता है कि इन संस्करणों का आधार कोई एक पुराना ग्रन्थ था। पद्य प्रायः ऐतिहासिक महाकाव्य की शैली के हैं, एक पंक्ति में प्रायः एक राजा का वर्णन है।

(२) विष्णु और भागवत—उक्त तीनों की अपेक्षा ये दोनों अधिक संक्षिप्त हैं। विष्णु प्रायः गद्य में है। ऐसा मालूम होता है कि ये दोनों संक्षिप्त संस्करण हैं।

(३) गरुड़—यह बाद का ग्रन्थ है और भागवत की अपेक्षा संक्षिप्त है। इसमें पुरु, इक्ष्वाकु और बृहद्रथ राजवंशो का वर्णन है। क्षत्रियों के विचारानुसार[1] प्राचीन भारत की राजनैतिक अवस्था का पता लग जाता है।

(४) भविष्य—इसमें प्रायः वंशों का विकृत वर्णन है। यथा; इसमें कहा गया है कि प्रत्येक पौरव नृप ने कम से कम एक सहस्र वर्ष

---

१ भारत पर आर्यों की विजय में क्षत्रियों का बहुत बड़ा भाग है। यदि हम जानना चाहें कि उनका स्थान क्या था और उन्होंने कौन-कौन से बड़े काम किए तो हमें उनकी रूढ़ियों का अध्ययन करना चाहिए। केवल पुराणों में दिए हुए वर्णन से ही हम यह जान सकते हैं कि किस प्रकार ऐलवंश का उन सारे देशों पर प्रभुत्व था जिन्हें हम आर्यों के अधिकार में आए हुए कहते हैं। ब्राह्मण-साहित्य से हमें इस महान् रूप-परिवर्तन का कुछ पता नहीं लगता।

तक राज्य किया । इसमे ईसा की १९वीं शताब्दी तक की भविष्य वाणियाँ हैं ।

इन पुराणों के वर्णन मुख्य करके भविष्यपुराण के असली रचयिता के वर्णनों पर आश्रित हैं । ये वर्णन वे हैं जो नैमिषारण्य में सूत रोमहर्षण ने अपने पुत्र (सौति) को या ऋषियों को सुनाए हैं और जिनमें महाभारत के युद्ध से लेकर तत्कालीन राजाओं तक का हाल देने के बाद भविष्यत् के बारे में प्रश्न किया गया है ।

इस प्रकार अठारह पुराणों में से केवल सात में वंश और वंशानुचरित पाए जाते हैं । अतः शेष[1] पुराण भारत के राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से किसी उपयोग के नहीं हैं ।

पुराण अति प्रशंसित और अत्युपेक्षित दोनों ही रहे । अब तक यह समझा जाता था कि पुराणों की बातें विश्वसनीय नहीं हैं । किन्तु अब यह विश्वास बढ़ रहा है कि पुराणों में जितनी ऐतिहासिक बातें पाई जाती हैं, वे सब की सब ही अविश्वसनीय नहीं हैं । डा० विन्सेंट स्मिथ ने सन् १९०२ ई० में यह सिद्ध किया था कि मत्स्यपुराण में आन्ध्र राजाओं का जितना-जितना शासन-काल और उनके नामो का जो क्रम दिया है वह बिल्कुल ठीक है । पुराणों में जिन परम्परानुगत बातों का उल्लेख है, चाहे वह कितने ही विकृत रूप में क्यों न हो, वे ब्राह्मणों के प्राचीन काल तक की पुरानी हैं । उनका बड़ा महत्त्व इसी बात में है कि उनसे वेद-ब्राह्मण-सम्बन्धी ब्राह्मणों की रूढ़ि के मुक़ाबिले पर क्षत्रियों की परम्परानुगत रूढ़ियों का (Tradition)

---

१ वे ये हैं—अग्नि, कूर्म, पद्म, मार्कण्डेय, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, वामन, वराह, स्कन्द, शिव और लिङ्ग । १८ पुराणों में सब मिलाकर चार लाख से अधिक श्लोक हैं, उनमें से किसी एक में सात सहस्र हैं तो दूसरे में इक्यासी सहस्र हैं । विष्णुपुराण में, जिसे सब से अधिक सुरक्षित समझा जाता है, सात सहस्र से भी कम श्लोक हैं ।

पता लगता है[1]। क्षत्रिय-रूढ़ि इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसमें स्खलन हुए होने की बहुत कम सम्भावना है।[2]

प्राचीन राजवंश वर्णन—पुराणों में दिए राजवंश वर्णन में प्रत्येक राजा का वर्णन देने का प्रयत्न नहीं किया गया, उनमें केवल यशस्वी राजाओं का वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे वर्णन ब्राह्मणों की (जिन्हे सांसारिक विषयों मे कोई रुचि नहीं थी) मौखिक रूढ़ि के द्वारा सुरक्षित नहीं रहे, किन्तु वे सुरक्षित रहे हैं राजाओं के भाट कवियों के द्वारा। यदि ब्राह्मण लोग अपने ग्रन्थों को अक्षर प्रत्यक्षर ठीक-ठीक याद रख सकते थे; तो हमें यह विश्वास करने में कोई कठिनता न होनी चाहिए कि पुराण-रक्षक भाटों ने भी पुराणों के राजवंश वर्णनों को ठीक-ठीक याद रक्खा। प्राचीन वंशावली का याद रखना भारत में गौरव की वस्तु ख़याल की जाती रही है; अतः बहुत अधिक लोक-प्रिय होने के कारण इन वंशावलियों मे अधिक ग़लती की सम्भावना नहीं है।

भारत के प्राचीन राजवंशों का सम्बन्ध दो मूलस्रोतों से बताया जाता है—सूर्य और चन्द्र। आशा है कि जब पुराणों को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानकर उनका अधिक विवेचनात्मक पाठ किया जाएगा तब हमें प्राचीन भारत के

---

१ ब्राह्मणों की उक्त रूढ़ि के पक्ष की त्रुटियाँ ये हैं—

(क) इस में केवल धार्मिक बातों का समावेश है, ऐतिहासिक प्रयोजन इससे सिद्ध नहीं हो सकता।

(ख) इस रूढ़ि के जन्मदाता ब्राह्मणों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव था; और

(ग) वे एकान्त कुटियों में रहने के कारण सच्चे ज्ञान को ताला लगाए हुए थे।

उदाहरणार्थ, ब्राह्मण-रूढ़ि के अनुसार शुनःशेप की जो कथा है उसमें अयोध्या नगर को गाँव बताया गया है।

२ समय पाकर भूल, चूक, परिवर्तन अवश्य हो गए होंगे, इसी आधार पर इस सारी रूढ़ि को अविश्वास की दृष्टि से नहीं देख सकते। क्षत्रिय-रूढ़ियों को उनके अपने आधार पर जाँचना और परखना चाहिए।

सम्बन्ध में अनेक उपयोगी बातें मालूम होंगी। पुराणों में केवल पुरुओं, कोशल और मगध के राजाओं का ही विस्तृत वर्णन नहीं है प्रत्युत उनमें अवरकालीन शिशुनागों, नन्दों, शुंगों, कण्वों और आन्ध्रों का भी वर्णन है। इस प्रकार पुराणों का भारी उपयोग है।

[पुराणों के आधार पर पार्जिटर ने सिद्ध किया है कि आर्य लोग पश्चिम की ओर बढ़कर देशान्तरवासी हुए। इस प्रसङ्ग में यह सिद्धान्त बड़ा ही रोचक प्रतीत होता है। पौराणिक रूढ़ि इलावर्त को, जो ऐलों (आर्यों) का मूल निवास-स्थान है, नाभि (भारत) के उत्तर में बतलाती है। यही दिशा है, उत्तर पश्चिम नहीं, जिसे आर्य लोग आज तक पवित्र मानते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि आर्य लोग सन् २७५० ई० पू० से पहले ही कभी हिमालय के बीच के प्रदेश से भारत में आए तथा द्रुह्यु १६०० ई० पू० के आस-पास भारत से उत्तर पश्चिम में गए। १४०० ई० पू० के बोग़ज़-कोइ के शिला-लेख में भारतीय देवताओं के नाम आते हैं। ऋग्वेद भारत में आए हुए आर्यों का प्राचीनतम लिखित ग्रन्थ माना जाता है और उस ऋग्वेद का ठीक-ठीक-सा काल विद्वानों ने लगभग २००० ई० पू० माना है। आजकल के प्रचलित आर्यों के पूर्व-गमन के वाद से इन बातों का ठीक-ठीक उत्तर नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि द्रुह्यु लोग १६०० ई० पू० के आस-पास भारत से जाते हुए, भारतीय देवताओं को भी अपने साथ लेते गए ऋग्वेद के एक मन्त्र (१०, ७५) में[1] भारतीय नदियों के नाम मिलते हैं। उन नामों का क्रम इस पश्चिम-गमन के सिद्धान्तानुसार ठीक बैठता है। पूर्व गमन का वाद अपेक्षाकृत पुराना है, इसके सिवा इस वाद का पोषक और कोई प्रबल तर्क नहीं है। जब तक विरोध में पर्याप्त युक्तियाँ न हों तब तक भारतीय रूढ़ि को मिथ्या नहीं ठहराया जा सकता। भारतीय रूढ़ि को मिथ्या ठहराने के लिए यह बताना होगा कि क्यों, कैसे और किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए यह घढ़ी गई थी।]

१ इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्यासुषोमया॥

(७) काल—विद्वान् पुराणों का समय उनमें उपलब्ध होने वाली नई से नई सूचनाओं के अनुसार निश्चित करते हैं। लेकिन वे इस बात की प्रायः उपेक्षा कर जाते हैं कि किसी मकान या साहित्यिक रचना का काल उसमें होने वाली नवीनतम वृद्धि के अनुसार निश्चित नहीं हो सकता[1]। विल्सन ने नवीनतम वृद्धियों के ही आधार पर ब्रह्मपुराण को, जिसे आदि पुराण भी कहते हैं, जिसमें पुरानी सामग्री प्रचुरता से पाई जाती है, १३वीं या १४वीं शताब्दी का बतलाया है। १८ पुराणों ने अपने पृथक् पृथक् नाम कब प्राप्त किए, यह निश्चय नहीं है। यह सब कुछ होने पर भी, उन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों के प्राचीन काल तक अच्छी तरह पहुँचाया जा सकता है। यह विश्वास नहीं हो सकता कि पुराणों का पुनर्निर्माण वेदों और ब्राह्मणों से थोड़ी-थोड़ी बातें लेकर उस समय हुआ होगा जिस समय किसी ने वेदों और ब्राह्मणों को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानने का स्वप्न भी नहीं देखा होगा—वेदों और ब्राह्मणों को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानने का काम तो १९वीं शताब्दी में हुआ है।

सब से प्राचीन (असली) पुराण की रचना के समय के विषय में अधोलिखित बातें ध्यान में रखने योग्य हैं:—

(१) बाण (६२० ई०) अपने हर्ष-चरित में वायु पुराण का उल्लेख करता है।

(२) ४७५ ई० तथा इसके आसपास के भूदान-पत्रों में, महाभारतस्थ बताए जाते हुए व्यास के कुछ श्लोक उद्धृत हैं, किन्तु वस्तुतः वे श्लोक पद्म और भविष्यत् पुराण मे पाये जाते हैं।

(३) मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड कहते हैं कि उन्होंने अपने वर्णन भविष्यत् से लिए हैं; और उनके आभ्यन्तरिक साक्ष्य से सिद्ध होता है कि भविष्यत् पुराण ईसा की तृतीय शताब्दी के मध्य में विद्यमान था।

१ 'कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑव् इण्डिया' के अन्तर्गत ई० जे० राप्सन लिखित पुराणों पर निबन्ध देखिए।

मत्स्य ने भविष्यत् से जो कुछ भी लिया वह उक्त शताब्दी के अन्त से पहले ही लिया और वायु तथा ब्रह्माण्ड ने चतुर्थ शताब्दी में लिया।

(४) आपस्तम्ब सूत्र (ई० पू० ३य शताब्दी से अर्वाचीन नहीं, किन्तु सम्भवतया दो शताब्दी और पुराना) भविष्यत् पुराण को प्रमाण रूप से उद्धृत करता है। 'भविष्यत् पुराण' में भविष्यत् (आगामी) और पुराण (गत) दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं, इससे प्रकट होता है कि नाम 'पुराण' केवल जातिवाचक के रूप में ही प्रयोग में आने लगा था। ऐसा प्रयोग प्रचलित होने में कम से कम दो सौ वर्ष अवश्य लगे होंगे, अतः पुराण कम से कम ५वीं शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भिक-काल में या शायद और भी दो शताब्दी पूर्व, अवश्य विद्यमान रहे होंगे।

[(आपस्तम्ब में उल्लिखित) भविष्यत् नाम और ई० की ३य शताब्दी के भविष्य नाम का अन्तर स्मरण रखने योग्य है। हमें आजकल विकृत रूप में भविष्य पुराण ही प्राप्त है।]

(५) कौटिल्य ने अनेक स्थानों पर अपने अर्थशास्त्र में पुराणों को उत्कृष्ट प्रमाण रूप से उद्धृत किया है।

(६) शाङ्खायन श्रौत सूत्र और आश्वलायन सूत्र पुराणों का उल्लेख करते हैं।

(७) शतपथ ब्राह्मण में प्रतिदिन इतिहास पुराण पढ़ने का विधान है।

(८) भिन्न-भिन्न पुराण परीक्षित से पहले की सब घटनाओं को 'भूत' तथा महाभारत के युद्ध (पार्जिटर के अनुसार ९५० ई० पू०) के १०० वर्ष बाद की सब घटनाओं को 'भविष्यत्' कहने में एकमत हैं। यह १०० वर्ष का काल सन्धि-काल है। इस काल के आस-पास सारी की सारी प्रचलित ऐतिहासिक जनश्रुतियाँ एक पुराण के रूप में संगृहीत हुई होंगी।

(९) ऐतिहासिक महाकाव्यों के समान पुराण भी भाटों ने प्राचीन परम्पराप्राप्त लोकवादों के आधार पर बनाए थे। उन लोकवादों को अथर्ववेद

में वाङ्मय का एक अङ्ग स्वीकार करके इतिहास-पुराण का साधारण (General) नाम दिया गया है। क्या छान्दोग्य उपनिषद् और क्या प्रारम्भिक बौद्ध-ग्रन्थ (सुत्त निपात) दोनों में ही वाङ्मय के इस अङ्ग को पचम वेद कहा गया है। और आज तक यह पंचम वेद के ही रूप में स्वीकृत किया जाता है।

पुराणों के काल की अवर सीमा।

सच तो यह है कि भिन्न-भिन्न पुराण, जिस रूप में वे आज हमें प्राप्त हैं उस रूप में, भिन्न-भिन्न काल में उत्पन्न हुए हैं।

हमारे प्रयोजन की वस्तुतः सिद्धि करने वाले महत्त्वपूर्ण पुराणों के काल की अवर सीमा के विषय में निम्नलिखित बातें मनन करने योग्य हैं—

(१) मत्स्य पुराण में आन्ध्रों के पतन (२३६ ई०) तक का और इसके बाद होने वाले किलकिल राजाओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार ऐतिहासिक आख्यान ईसा की तृतीय शताब्दी के लगभग मध्य तक पहुँच जाता है, इससे आगे नहीं बढ़ता।

(२) विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और भागवत पुराण इस आख्यान को और आगे बढ़ाकर गुप्तों के अभ्युदय तक ले आते हैं। समुद्रगुप्त की विजयों का तनिक भी उल्लेख नहीं मिलता। अतः यह ऐतिहासिक आख्यान अधिक से अधिक ३३० ई० तक बढ़ आता है। क्योकि वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य-पुराण भविष्य पुराण की असली सामग्री पर अवलम्बित हैं अतः यह परिणाम निकलता है कि भविष्य पुराण किसी न किसी रूप में ईसा की तृतीय शताब्दी के अन्त से पहले-पहले अवश्य बन चुका होगा। मत्स्य ने इससे तृतीय शताब्दी के चतुर्थ पाद में सामग्री प्राप्त की तथा वायु और ब्रह्माण्ड ने चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में, जब ये वर्णन प्रारम्भिक गुप्त राजाओं के वर्णनों को अपने में मिलाकर पर्याप्त बढ़ चुके थे।

(३) कलियुग[1] की बुराइयों के वर्णनों तथा ऐतिहासिक-ज्यौतिषिक विशेष-विशेष वर्णनों से भी ऊपर दिये हुए परिणाम की पुष्टि होती है।

(४) मूलग्रन्थीय विशेषताएँ भी उक्त परिणाम का समर्थन करती हैं।

(५) चिन्तामणि विनायक वैद्य ने वायुपुराण गत वक्ष्यमाण श्लोक की ओर ध्यान खींचा है :—

अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एताञ्जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

यह श्लोक उस अवस्था का परामर्श करता है जब ५०० ई० के बाद गुप्त शक्ति का अन्त हुआ।

(६) विष्णुपुराण निश्चय ही वायु के बाद का है क्योंकि इसमें वर्णन और भी आगे बढ़ गया है। यह किलकिल के यवन राजाओं का वर्णन करता है जो आन्ध्र देश में ८वीं और ९वीं शताब्दी में राज्य करते थे। इससे प्रकट होता है कि कम से कम इस शताब्दी तक पुराणों में प्रक्षेप होते रहे।

(७) चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भागवत पुराण का काल निश्चय करते हुए विस्तार से विचार किया है और वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह शंकर[2] (९वीं शताब्दी) के पश्चात् का और गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव[3] (११६४ ई०) से पूर्व का है और इस प्रकार बहुत करके १०वीं शताब्दी में बना है। यह पुराण सब पुराणों से अधिक सर्वप्रिय है। इस का अनुवाद भारत की प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं में हो चुका है।

---

१ विस्तृत युक्तियों के लिए पार्जिटर की 'कलियुग के राजवंश' पुस्तक देखिये। २ भागवत में बुद्ध को विष्णु का एक अवतार कहा गया है और शंकर बुद्ध का विरोधी था। ३ भागवत में राधा का नाम बिल्कुल नहीं आता, और गीत गोविन्द तो आश्रित ही राधा के कृष्णविषयक प्रेम पर है। यदि भागवत जयदेव के पश्चात् का होता तो इसमें राधा का नाम अवश्य आता।

अध्याय ३

भास, कालिदास और अश्वघोष

(१२) संस्कृत साहित्य में भास का स्थान

थोड़े समय पूर्व तक संस्कृतानुरागियों को भास के नाम के सिवा उसके विषय में और कुछ भी मालूम नहीं था। कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्र में उसका नाम आदर के साथ लिया है। कुछ अन्य संस्कृत-कृतिकारों ने भी उसका नाम लेकर उसे प्रतिष्ठित पद पर आरूढ़ किया है। राजशेखर कहता है:—

भासो रामिलसोमिलौ वररुचिः श्रीसाहसाङ्कःकविर्-
मेण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कन्धः सुबन्धुश्च यः।
दण्डी बाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः,
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपि ते॥

प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में कहा गया है:—

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरः,
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः,
केषां नैषा कथय कविता कामिनी कौतुकाय॥

सुभाषित-कोषों में वस्तुतः कुछ, बहुत ही ललित पद्य भास के नाम से दिए हुए मिलते हैं। सुभाषितावली में से दो नीचे दिए जाते हैं:—

बाला च सा विदितपञ्चशरप्रपञ्चा
तन्वी च सा स्तनभरोपचिताङ्गयष्टिः।
लज्जां समुद्वहति सा सुरतावसाने
हा काऽपि सा, किमिव किं कथयामि तस्याः ?

दुःखार्ते मयि दुःखिता भवति या हृष्टे प्रहृष्टा तथा
दीने दैन्यमुपैति रोषपरुषे पथ्यं वचो भाषते।
कालं वेत्ति, कथाः करोति निपुणा, मत्संस्तव रज्यति।
भार्या मन्त्रिवरः सखा परिजनः सैका बहुत्वं गता[1]॥

कोई दस श्लोक और हैं जो भास के कहे जाते हैं और जो शारङ्गधरपद्धति, सदुक्तिकर्णामृत और सूक्तिमुक्तावली में आए हैं।

इन इधर उधर के उद्धरणों के सिवा भास के बारे में और कुछ मालूम नहीं था। जब पं० गणपति शास्त्री ने तेरह नाटकों का पता लगाया तब भास के बारे में बहुत कुछ मालूम हुआ। ये तेरह नाटक त्रिवेन्द्रम पुस्तकमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुके हैं। प्रो० कीथ, जैकोबी, स्टेनकोनो, लैकाटे, विंटरनिट्ज़ आदि जैसे विद्वानों ने इन तेरह के तेरह नाटकों को भास की रचना बताया है[2]। वस्तुतः इस विचार के जन्मदाता स्वयं

१ मिलाइये Wordsworth;
'A perfect woman nobly planned,
To warm, to comfort and command.'
फिर मिलाइये Pope:
'Thou wert my guide, philosopher and friend.

२ इन तेरह नाटकों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है:—
(क) उदयन की कथा वाले—प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्त।
(ख) महाभारत पर आश्रित— ऊरुभङ्ग (संस्कृत में अकेला दुखान्त नाटक), बालचरित, दूतघटोत्कच, दूतवाक्य, कर्णभार, मध्यमव्यायोग, पञ्चरात्र।
(ग) रामायण पर अवलम्बित—अभिषेक नाटक, प्रतिमा नाटक।
(घ) कल्पनामूलक—अविमारक और चारुदत्त।

पं० गणपति शास्त्री ही थे। नाटक अपने गुणों के कारण वस्तुतः इस सम्मान के अधिकारी हैं जो उन्हें दिया जा रहा है। बार्नेट और सिलवन लेवी जैसे अन्वेषक उक्त विचार से सहमत नहीं हैं। अतः हम इस बात को ज़रा विस्तारपूर्वक कहेंगे। प्रश्न यह है—"कि ये तेरह के तेरह नाटक किसी एक ही के बनाए हुए हैं या इनके रचयिता अनेक व्यक्ति हैं" ? और "यदि उनका रचयिता एक ही व्यक्ति है, तो वह कौन है" ?

(१३) क्या इन नाटकों का रचयिता एक ही व्यक्ति है ?

विद्वान् इस बात में प्रायः सहमत हैं कि इन सब नाटकों का कर्ता एक ही व्यक्ति है। इस तर्क की पुष्टि के लिए निम्नलिखित हेतु दिए जाते हैं :—

(१) एक आश्चर्यजनक विशेषता रंगमंच सम्बन्धी संकेत-वाक्य 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' है। संस्कृत के दूसरे नाटकों मे यह संकेत-वाक्य आशीर्वादात्मक पद्य या पद्यों के बाद आता है।

(२) इन नाटकों में हम एक पारिभाषिक शब्द के लिए एक दूसरे पारिभाषिक शब्द का प्रयोग पाते हैं। यथा; प्रस्तावना के लिए स्थापना शब्द आया है। यद्यपि कुछ एक दूसरे नाटककारों के नाटकों में भी इस प्रकार के पारिभाषिक शब्द[1] देखे जाते हैं, तथापि ये तेरह नाटक अन्य नाटकों की कक्षा में नहीं रक्खे जा सकते। इनकी अपनी एक पृथक् ही श्रेणी है क्योंकि इनमें 'प्ररोचना' का अभाव है अर्थात् उनमें न ग्रन्थ का नाम दिया गया है और न ग्रन्थकार का।

(३) कम से कम चार नाटकों की नान्दी में मुद्रा अलङ्कार है अर्थात् नान्दी में नाटक के मुख्य-मुख्य पात्रों के नाम आ गए हैं।

(४) ये नाटक अनेक प्रकार से अन्योन्य सम्बन्ध रखते हैं :—

---

१ यह विशेषता इन नाटकों में देखी जाती है—शक्तिभद्र का आश्चर्य-चूडामणि, नृप महेन्द्रविक्रमवर्मा का मत्तविलास (ई० की ७वीं शताब्दी), चार भाण, और दो नाटक।

(क) स्वप्नवासवदत्त, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण का ऐसा ही उत्तरखण्ड है जैसा कि भवभूति का उत्तररामचरित उसके महावीरचरित का है। दोनों में पात्र भी वे ही हैं। दोनों में शैली, (वचन-विन्यास, और चरित्र-चित्रण) भी बहुत करके एक जैसी है। इतना ही नहीं, स्वप्नवासवदत्त में प्रतिज्ञा यौगन्धरायण के कुछ उद्देश भी हैं।

(ख) अविमारक (१म अंक) में राजा अपनी कन्या के लिए योग्य वर चुनने की चिन्ता में ग्रस्त है, प्रतिज्ञायौगन्धरायण में भी महासेन अपनी पुत्री वासवदत्ता के लिए योग्य—कुलीन एवं वीर—वर के चुनने की चिन्ता कर रहा है। इन दोनों दृश्यों में बड़ी समानता पाई जाती है।

(ग) बालचरित में तीसरे अंक का १म दृश्य (गोपाल-दृश्य) प्रायः वैसा ही है जैसा पञ्चरात्र में २य अंक का १म दृश्य।

(घ) कुछ वाक्य अभिषेक और स्वप्नवासवदत्त दोनों मे ज्यों के त्यों आए हैं। (यथा; किं वक्ष्यतीति हृदयं परिशङ्कितं मे)। इसी प्रकार कुछ वाक्य बालचरित और चारुदत्त में भी एक जैसे हैं। अभिषेक में बाली के अन्तिम शब्द वही हैं जो ऊरुभङ्ग में दुर्योधन के हैं।

(५) इन नाटकों में एक जैसी कविकल्पनाएँ (काव्यालङ्कृतियाँ) पाई जाती हैं। यथा;

(क) अविमारक, चारुदत्त और दूतवाक्य में बादलों में क्षणभर में चमक कर छिप जाने वाली बिजली की उपमा मिलती है।

(ख) प्रतिमा, बालचरित, दूतवाक्य, मध्यमव्यायोग और प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में राहु के मुख में पड़े चन्द्रमा की उपमा दी गई है।

(ग) बालचरित, दूतवाक्य, अभिषेक और प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में शक्तिशाली पुरुष (यथा, श्रीकृष्ण) की तुलना मन्दर पर्वत से की गई है।

(घ) कार्तिकेय के क्रौञ्च पर्वत पर आरोहण करने के पराक्रमों का वर्णन बहुधा आया है।

(ङ) दो प्रतिपक्षियों में से अधिक बलशाली की उपमा सिंह से और दूसरे की हाथी से बार बार दी गई है।

(च) शत्रु के क्रोध की उपमा के लिए प्रायः दूर देश तक फैली हुई अग्नि को चुना गया है।

(छ) उच्चध्वनि का सादृश्य प्रलयकालीन समुद्र गर्जन से दिखलाया गया है। उदाहरणार्थः—

शङ्खध्वनिः प्रलयसागरघोषतुल्यः।

(कर्णभार)

यस्य स्वनं प्रलयसागरघोषतुल्यम्।

(दूतवाक्य)

(१) इन नाटकों में कुछ विचारों की भी आवृत्ति पाई जाती है। उदाहरणार्थः—

(क) शपामि सत्येन भयं न जाने।

(मध्यम-व्यायोग)

किमेतद्भो! भयं नाम भवतोऽद्य मया श्रुतम्।

(बालचरित)

(ख) 'अथवा सर्वमलङ्कारो भवति सुरूपाणाम्'[1] अनेक नाटकों में आया है।

(ग) 'वीर की बाहु ही सच्चा शस्त्र है' यह विचार कई नाटकों में प्रकट किया गया है। ऐसे ही और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं।

---

१ मिलाइये, कालिदासकृत शाकुन्तल (१, १८),

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।

(७) इन नाटकों में प्रयुक्त शब्द-भण्डार (Vocabulary) तथा मनोभावप्रकाशन शैली (Expression) प्रायः एक जैसी पाई जाती है। उदाहरणार्थ प्रथम के लिए यवनिका शब्द का प्रयोग और द्वितीय के लिए 'अहो अकरुणा खु इस्सरा' देखिये।

(८) इन नाटकों में हम कुछ नाटकीय रचना नियमों तथा नाटकीय परिस्थितियों की पुनरावृत्ति पाते हैं। उदाहरणार्थ; स्वप्नवासवदत्त के छठे अङ्क की अभिषेक के तीसरे अङ्क से तुलना करो।

(९) प्रायः छः नाटकों में एक मरता हुआ आदमी 'आपस्तावत्' कहकर पानी माँगता है।

(१०) इन नाटकों में मृत्यु समय के करुण दृश्य प्रायः आए हैं।

(११) इन सब की एक भारी विशेषता यह है कि सभी में भूमिका छोटी छोटी हैं।

(१२) इन नाटकों में गौण पात्रों तक के नामों की आवृत्ति पाई जाती है। उदाहरणार्थ; विजया, द्वारपालिका और बादरायण, कञ्चुकी हैं, तथा गोपालों के नाम वृषभदत्त एवं कुम्भदत्त हैं।

(१३) एक और भेदक विशेषता यह है कि माता के नाम का व्यवहार बहुधा किया गया है। जैसे; यादवीमातः शौरसेनीमातः, सुमित्रामातः।

(१४) पाणिनी-व्याकरण के नियमों से हटकर चलने की बात साधारण है। यथा,

आपृच्छ् का प्रयोग परस्मैपद में किया गया है और राज्ञ शब्द समास में आया है (देखिये, काशिराज्ञे, सर्वराज्ञः इत्यादि)।

(१५) 'इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंह प्रशास्तु नः' यह भरत—वाक्य इन कई नाटकों में आया है।

इन कतिपय हेतुओं से एवं विरोधी युक्तियों के अभाव में यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि इन सब नाटको का कर्ता एक ही व्यक्ति है। जो इन्हें भास की रचना नहीं मानते, यह तो उन्हें भी मानना पड़ेगा ही कि ये सब किसी एक ही की रचना हैं।

(१४) तब इनका रचयिता कौन है?

श्री हर्ष (६०६-६४८ ई.) के दरबारी कवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित के उपोद्घात[1] के एक पद्य मे भास के नाटकों का उल्लेख किया है। वह पद्य यह है:—

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशोलेभे भासोदेवकुलैरिव॥

भास के नाटकों के सूत्रधार कृतारम्भैः[2], बहुभूमिकैः[3] और सपताकैः[4] ये तीनों विशेषण इन नाटकों के सम्बन्ध मे ठीक हैं।

राजशेखर (९वीं शताब्दी) ने 'भासनाटक चक्र' का उल्लेख किया है और कहा है कि स्वप्नवासवदत्त अग्निपरीक्षा[5] में पूरा उतरा था। देखिये,

स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः।

इन युक्तियों से सिद्ध होता है कि इन नाटकों का रचयिता भास था। किन्तु इस अनुमान के विरोधी विद्वान् राजशेखर के निम्न लिखित श्लोक को प्रस्तुत करते हैं:—

---

१ यह उपोद्घात ऐतिहासिक तथा काल-निर्धारिणी दृष्टि से बड़ा उपयोगी है। इसमें नामोल्लेख किए हुए ग्रन्थों के गुण जानने के लिये भी यह बड़े काम का है। २ सूत्रधार से प्रारम्भ होने वाले। ३ बहुत से पात्रों वाले। कालिदास के शकुन्तला नाटक में २३, और विक्रमोर्वशीय में १८ पात्र हैं। किन्तु इन नाटकों में से प्रत्येक में औसतन लगभग ३० पात्र हैं। ४ भिन्न-भिन्न नाटकों में भिन्न-भिन्न कथानक से युक्त। कालिदास के नाटक का विषय प्रायः एक ही है। ५ कठिन आलोचना।

कारणं तु कवित्वस्य न सम्पन्नकुलीनता ।
धावकोऽपि हि यद्भासः कवीनामग्रिमोऽभवत् ॥
आदौ भासेन रचिता नाटिका प्रियदर्शिका ।
तस्य रत्नावली नूनं रत्नमालेव राजते ॥
.... ।
नागानन्दं समालोक्य यस्य श्रीहर्ष विक्रमः ॥

इन श्लोकों द्वारा यही सिद्ध होता है कि या तो राजशेखर को भूल लगी है या दो भास हुए हैं जिनमें से एक कालिदास से पूर्व हुआ और दूसरा कालिदास के पश्चात् ।

ऐसा मानने पर कहा जावेगा कि स्वप्नवासवदत्त का रचयिता वह भास है जो कालिदास के पश्चात् हुआ । इस अर्थ-ग्रहण के अनुसार उक्त श्लोक में आए हुए धावक पद का अर्थ होगा 'धोबी' और भास का तात्पर्य होगा व्यक्ति विशेष । किन्तु ऐसा तभी माना जा सकता है जब इस भारतीय लोकवाद को, जो केवल लोकवाद ही नहीं है प्रत्युत जिसका समर्थन कई संस्कृत लेखक भी करते हैं, स्वीकार न करें कि धावक ने उपर्युक्त तीनों नाटकों (प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द) की रचना की थी और पारितोषिक रूप में तत्कालीन शासक नृप श्रीहर्ष से विपुलधन प्राप्त किया था । उक्त श्लोकों का यथार्थ अर्थ लेने पर तो यह मानना पड़ता है कि धावक कवि का असली नाम है भास (प्रकाशमान, सुप्रथित, यशस्वी) उसके विशेषण हैं । अतः राजशेखर ने जो लिखा है ठीक है ।

यह भी कहा जाता है[१] कि कई प्राचीन संस्कृत कवि जिसका उल्लेख करते हैं और राजशेखर ने जिसकी इस प्रकार प्रशंसा की है वह स्वप्नवासवदत्त नाटक आजकल का उपलभ्यमान स्वप्नवासवदत्त नाटक नहीं हो सकता । भास के नाम से प्रचलित इन तेरह नाटकों का रचयिता कोई अप्रसिद्ध दक्षिण

१ देखिये, "भाण्डारकर इंस्टीच्यूट जर्नल" (१९२५–२६) में देवधर का लेख ।

भारतीय कवि है जो ७वीं शताब्दी[1] में हुआ होगा। प्रो० सिलवेन लेवी ने रामचन्द्र गुणचन्द्र के नाट्यदर्पण नामक ग्रन्थ में से एक पद्य[2] प्रस्तुत किया है जो आजकल के स्वप्नवासवदत्त में नहीं मिलता। पद्य नहीं मिलता यह ठीक है, किन्तु इस पद्य का भाव; उपलभ्यमान स्वप्नवासवदत्त में अवश्य आया हुआ है, इससे निषेध नहीं हो सकता। इस विरोधी युक्ति द्वारा अधिक से अधिक यही सिद्ध हो सकता है कि स्वप्नवासवदत्त के नाना संस्करण हैं। इसके द्वारा वर्तमान स्वप्नवासवदत्त के असली होने का खण्डन कदापि नहीं हो सकता। ऐसा उदाहरण कालिदास का मालविकाग्निमित्र भी उपस्थित करता है। स्वप्नवासवदत्त के नाना संस्करण थे इस बात का समर्थन श्रीभोजदेव के शृंगारप्रकाश के साक्ष्य से भी होता है क्योंकि शृंगारप्रकाश का उद्धृत प्रकरण स्वप्नवासवदत्त के ५म अंक का सार है।

शारदा तनय (१२वीं शताब्दी) के भावप्रकाश में स्वप्नवासवदत्त से एक श्लोक[1] उद्धृत है, और वह श्लोक आजकल के स्वप्नवासवदत्त में पाया जाता है। इससे भी सिद्ध होता है कि यही स्वप्नवासवदत्त भास का असली स्वप्नवासवदत्त है। इस सब का सार यही है कि इन सब तेरह नाटकों का रचयिता भास ही था।

[सूचना—सुभाषित-कोशों में भास के नाम से दिए हुए पद्य इन नाटकों में नहीं मिलते। अतः सम्भव है कि भास ने कुछ और भी नाटक लिखे हों और कदाचित् कुछ फुटकर कविता भी की हो (जिसके संग्रह का नाम विष्णुधर्म हो) तथा अलंकारशास्त्र का भी कोई ग्रन्थ लिखा हो। मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के आधार पर यही अनुमान होता है।]

---

१ वार्नेट भी इस विचार से सहमत हैं।

२ पदाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्मं चेदं शिलासनम्।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता॥

३ चिरप्रसुप्तः कामो मे वीणया प्रतिबोधितः।
तां तु देवीं न पश्यामि यस्या घोषवती प्रिया॥

(१५) भास की शैली।

भास के काव्य का विशिष्ट गुण यह है कि उसकी भाषा प्राञ्जल और सुष्ठु है। इसमें भावों का उद्रेक, लय का मधुरसंगीत और ऊँची उड़ान भरने वाली निर्मल कल्पना है। कविकुलगुरु कालिदास प्रकृति के कवि और रमणीयता में प्रमाण माने जाते हैं, किन्तु मानवीय मनोवृत्तियों की व्याख्या में भास कदाचित उनसे भी बढ़ जाता है। उसके नाटकों के विषय विविध-विविध हैं, तथा उनका कथानक सदा रोचक एवं सरल है। वह केवल ललित भाषा लिखने में ही उच्च कोटि का सिद्धहस्त नहीं है, अपितु नाटकीय घटनानुरूप यथार्थ परिस्थिति पैदा कर देने में भी। उसकी शैली की एक और विशेषता यह है कि वह एक श्लोक के कई टुकड़े कर लेता है और प्रत्येक टुकड़े का वक्ता पृथक् पृथक् पात्र होता है। यह रीति मनोविनोदक उत्तर-प्रत्युत्तर के तथा ओजस्वी वार्त्तालाप के बहुत अनुरूप है। गद्य-पद्य दोनों में कवि अपने आपको काव्य-पद्धति का आचार्य सिद्ध करता है। आलङ्कारिकों के मतानुसार भास वैदर्भी रीति[२] का कवि है।

भास की कविता में श्लोक छन्द का प्राधान्य है। यह बात बहुत कुछ प्राचीनता की बोधक है। भास की शैली की एक और विशेषता यह है कि वह पाणिनि के नियमों का उल्लङ्घन कर जाता है (जैसा पहले कहा जा चुका है)। यह बात भी उसके प्राक्कालीन होने की सूचक है।

---

१ इसी अभिरुचि के लिए विशाखदत्त का मुद्राराक्षस देखिये। २ दण्डी के अनुसार वैदर्भीरीति में निम्नलिखित दस गुण पाए जाते हैं:

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारात्वमोजः कान्तिसमाधयः॥

(काव्यादर्श १, ४१)

[दण्डी इस बारे में भरत का अनुयायी है।]

(१६) काल

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भास के लिए भिन्न-भिन्न काल निश्चित किए हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिज्ञायौगन्धरायण में से श्लोक[1] आया है। इसी के आधार पर पं० गणपति शास्त्री ने भास को ई० पू० चतुर्थ शताब्दी का माना है। इस युक्ति में यह अनुमान कर लिया गया है कि अर्थशास्त्र ई० पू० चौथी शताब्दी में लिखा गया था, किन्तु आज हमें इतिहास का जो ज्ञान है उसके अनुसार हम उक्त विचार को निश्चय के साथ ठीक नहीं कह सकते। पं० रामावतार ने भास को ईसा की दशवीं शताब्दी में रक्खा है। उनका विचार है कि भास का चारुदत्त नाटक शूद्रक के मृच्छकटिक का भद्दा संक्षेप है[2]।

---

१ नर शराव सलिलस्य पूर्ण सुसस्कृत, दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरक च गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥

२ मृच्छकटिक और चारुदत्त में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि दोनों का स्वतन्त्र उद्भव असंभव प्रतीत होता है। उन्हें देखकर अनुमान करना पड़ता है कि या तो उनमें से कोई एक दूसरे के आधार पर लिखा गया है या दोनों किसी तीसरे ग्रन्थ पर अवलम्बित है। पहले पक्ष में भी दो मत है—या तो चारुदत्त (जो सर्वसम्मति से चारों अकों में एक अपूर्ण नाटक है) अभिनय के प्रयोजन से मृच्छकटिक का संक्षेप है, या मृच्छकटिक चारुदत्त का श्रमपूर्ण समुपबृंहित रूप है। इन दोनों विचारों में से भी प्रथम विचार के समर्थन में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं.—

(क) वामन और अभिनवगुप्त जैसे प्रारम्भिक आलंकारिक चारुदत्त की अपेक्षा मृच्छकटिक से अधिक परिचित थे। वामन का पाठ 'द्यूत हि नाम पुरुषस्यासिहासन राज्यम्' मृच्छकटिक मे आता है। श्लेष के प्रसग में वामन लिखता है कि यह शूद्रक तथा अन्य लेखकों के ग्रन्थों में बहुत पाया जाता है।

(ख) 'असत्पुरुषसेवेव' की उपमा प्रसङ्गानुसार मृच्छकटिक में बहुत अधिक ठीक बैठती है, चारुदत्त में यह केवल एक आलंकारिक तुच्छ पदार्थ प्रतीत होता है।

(ग) आभ्यन्तरिक साक्ष्य से ज्ञात होता है कि चारुदत्त अविस्पष्ट है और सारी अवस्था तभी विस्पष्ट होती है जब हम मृच्छकटिक को हाथ में उठाते है।

ये नाटक मत्तविलास के साथ सूचित करते हैं, इस आधार पर डा० बार्नेट ने इन्हें ७वीं शताब्दी का बताया है। डा० विंटरनिट्ज़ और

ये युक्तियाँ प्रबल होने पर भी पूर्ण साधक नहीं हैं। इस मत में निम्नलिखित बातों का समाधान नहीं होता:—

(अ) चारुदत्त में ऐसे प्रकरण हैं जो मृच्छकटिक में नहीं है।

(आ) चारुदत्त में उज्जन के राजनैतिक विप्लव का उल्लेख नहीं है।

यदि चारुदत्त मृच्छकटिक से बाद में बना होता, तो इसमें इस महत्त्वपूर्ण विप्लव का उल्लेख अवश्य होता।

दोनों नाटकों के वैषम्य के आधार पर भी कुछ परिणाम निकालने का प्रयत्न किया गया है। वैषम्य की कुछ मुख्य बातें ये हैं:—परिभाषिक शब्द, प्राकृतभाषाएँ, पद्यरचना और नाटकीय घटना।

पारिभाषिक शब्द—इस बारे में मुख्य दो शब्द ये हैं—(१) चारुदत की दोनों हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रसिद्ध नान्दी का अभाव है। (२) स्थापना में नाटककार का नाम नहीं दिया गया है। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में नान्दी भी है और नाटककार का नाम भी। परन्तु यह युक्ति किसी निश्चय पर नहीं पहुँचा सकती।

प्राकृत भाषाएँ—प्राकृतों का तुलनात्मक अध्ययन भी कुछ निश्चय नहीं करा सकता, विशेष करके इस अवस्था में जब कि हम जानते हैं कि चारुदत्त दक्षिण भारत का हस्तलिखित ग्रन्थ है अतः स्वभावतः उसमें पुराने शब्द सुरक्षित रह गए हैं। अतः इस युक्ति पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं।

पद्यरचना—दोनों नाटकों के पद्यों के तुलनात्मक अध्ययन से विदित होता है कि जहाँ जहाँ पाठगत भेद हैं वहाँ वहाँ मृच्छकटिक के पाठ अधिक अच्छे हैं। कुछ उदाहरण देखिये:—

(क) चारुदत्त में—यथान्धकारादिव दीपदर्शनम् (यथा और इनकी पुनरुक्ति)
मृच्छकटिक में—घनान्धकारादिव दीपदर्शनम्।

(ख) चारुदत्त में—यो याति दशा दरिद्रताम् (दो भाववाचक संज्ञाएँ एक अन्य के विशेषण के रूप में)

मृच्छकटिक में—... ...नरो....

स्टेन कोनो ने इन नाटकों की ईसा की दूसरी और चौथी शताब्दी के बीच का ठहराया है। उनके ऐसा मानने का कारण यह है कि इनकी प्राकृत भाषा अश्वघोष और कालिदास की प्राकृत भाषाओं के मध्य में बीते काल की भाषा प्रतीत होती है। किन्तु जैसा कहीं और कहा जा चुका है प्राकृतों के आधार पर निकाला हुआ कोई सिद्धान्त सच्चा सिद्धान्त नहीं हो सकता; कारण कि भास के नाटक दक्षिण भारत में और अश्वघोष के नाटक

(ग) चारुदत्त में—छिन्नखर्जूर पाण्डु (चन्द्रमा की उपमा के तौर पर उद्धृत पूर्वतया अकृत्रिम और मौलिक)

मृच्छकटिक में—कामिनी गण्डपाण्डु (परिष्कृत और रस सिद्धान्तानुकूल)। और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। इनसे अनुमान होता है कि मृच्छकटिक चारुदत्त के बाद में बना होगा, अन्यथा चारुदत्त के दुष्ट पाठों के लिए क्या उत्तर हो सकता है।

नाटकीय घटना—उपर्युक्त विचार का समर्थन नाटकीय घटना सम्बन्धी भेद से भी होता है। मृच्छकटिक का कथानक कहीं अधिक कौशलपूर्ण है। विशेष स्मरणीय बात यह है कि चारुदत्त नाटक के कई दोष मृच्छकटिक में सुधार दिए गए हैं। यथा; चारुदत्त में षष्ठी की सन्ध्या में देर से चन्द्रमा के निकलने का उल्लेख करके दो दिन बाद चन्द्रमा का आधी रात में छिपना बताया गया है। इस भूल को मृच्छकटिक में सुधार दिया गया है। यह कौन विश्वास करेगा कि अभिनय के लिए सक्षेप करते हुए एक सही प्राकृतिक घटना को गलत बनाकर ले लिया गया होगा।

अत. सिद्धान्त यही निकलता है कि मृच्छकटिक चारुदत्त का समुपबृंहित रूप है। यह कहना कठिन है कि ऐसा करने में प्रयोजन क्या था—काव्यार्थ की चोरी, या अपूर्ण ग्रन्थ को पूरा करना।

यदि कभी अन्य नए नए अन्वेषणों से चारुदत्त के विरुद्ध ही सामग्री मिलती रही अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि चारुदत्त मौलिक कृति नहीं है, तब भी हम अपने उपर्युक्त परिणाम से अनुबद्ध यह कल्पना कर सकते हैं कि चारुदत्त में अपने उपजीव्य मौलिक ग्रन्थ का पर्याप्त अश सुरक्षित है जिस पर मृच्छकटिक आश्रित है।

मध्य एशिया में मिले हैं। इन नाटकों के आभ्यन्तरिक साक्ष्य से जो बातें मालूम हो सकती हैं वे ये हैं:—

(१) भरत वाक्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है।

(२) 'यवनिका' शब्द पर्दे (Curtain) के लिये नहीं घूँघट (Veil) के लिये आया है।

(३) नए अंक के साथ घटनास्थल भी बदल जाता है, किन्तु घटनास्थल के लिये कोई संकेत नहीं दिया गया है।

(४) रुद्रदामा (ईसा की दूसरी शताब्दी) के शिलालेखों में जो कृत्रिम काव्य शैली मिलती है वह इनकी भाषा में नहीं है। इनमें व्यवहारच्युत (पुराने) व्याकरणीय प्रयोग मिलते हैं और अनुप्रास या लम्बे लम्बे समास नहीं हैं।

(५) इनमें अप्रचलित प्रयोग (Archaic expressons) मिलते हैं। उदाहरणार्थ;

(क) राजा (Peince) के अर्थ में आर्यपुत्र का प्रयोग हुआ है। ऐसा ही प्रयोग अशोक के सिद्धपुर वाले शिलालेख में भी मिलता है।

(ख) महाब्राह्मण शब्द का प्रयोग अचारज के अर्थ में नहीं अपितु वस्तुतः आदर सूचित करने के लिये हुआ है।

(ग) यक्षिणी का प्रयोग भूतिनी के अर्थ में हुआ है। प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में भी इस शब्द का ऐसा ही प्रयोग देखा जाता है।

(घ) भरतों के घर (वंश) को भास ने वेदों का घर बताया है। देखिये,

वेदाक्षरसमवायप्रविष्टो भारतोवंशः। (प्रतिज्ञायौगन्धरायण)

(६) एक कथा को कहते हुए वाक्य का प्रारम्भ इस प्रकार होता है :—काम्पिल्य का एक ब्रह्मदत्त राजा था। यह शैली जातकों में प्रसिद्ध है।

(७) पंचरात्र का कथानक उस कथा[1] पर अवलम्बित है जो वर्त्तमान महाभारत में नहीं मिलती।

(८) इन नाटकों मे उस समाज का चित्र है जिसने प्राचीन रूढ़ि के अनुसार बौद्ध बातें अपना ली थीं। यथा; प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में श्रमणक का चरित्र देखिये। साथ ही हमें बौद्धधर्म विरोधी मनोवृत्ति का[2] भी आभास मिलता है।

(९) इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः॥

इस श्लोक में 'एकातपत्र' राज्य का उल्लेख है जो हिमालय से विन्ध्य तक और समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था। ऐसा समय ई० पू० ३२५ और १०० के मध्य पड़ता है।

(१०) श्लोक छन्द की बहुलता और पाणिनि के नियमों की उपेक्षा, जैसा पहले कहा जा चुका है, प्राचीनता के चिह्न हैं। इन सब बातों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि पं० गणपति शास्त्री का बताया हुआ ईसा पूर्व की ४र्थ शताब्दी का काल संभवतया ठीक है। यह भास के काल की पर सीमा है।

अब रही अपर सीमा की बात। हम जानते हैं कि ये नाटक कालिदास के मालविकाग्निमित्र से तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी पुराने हैं। कालिदास का समय अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। अर्थशास्त्र के काल की अवर सीमा विद्वान् साधारणतया ईसा की दूसरी

---

१ पंचरात्र में कहा गया है कि दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को वचन दिया था कि यदि अज्ञातवास में रहने वाले पाण्डवों का पता पांच रातों मे लग जाए तो वह पाण्डवों को राज्य में भागहर बना लेगा। साथ ही यह भी कहा गया है कि अभिमन्यु दुर्योधन की ओर से विराट की सेना से लड़ रहा था और विराट की सेना के लोगों ने उसे पकड़ लिया था। २ ऐसा काल शुङ्ग और कण्वों के बौद्ध विरोधी साम्राज्य में था।

शताब्दी मानते हैं। अतः भास ईसा की दूसरी शताब्दी से पहले ही ... रहा होगा।

(१७) ईसापूर्व की प्रथम शताब्दी में संस्कृत का पुनरुज्जीवन।

जैसा आगे चलकर बताया जायगा, अश्वघोष संस्कृत का बहुत बड़ा कवि था। वह बौद्ध भिक्षु और महायान मतावलम्बी था। यह कनिष्क (ई० की प्रथम शताब्दी) का समसामयिक था। उसने बौद्ध धर्म के कई पाली-ग्रन्थों पर संस्कृत-टीकाएँ लिखी हैं। अपने धर्म-सिद्धान्तों के प्रचार के लिए बौद्ध प्रचारकों को भी संस्कृत का प्रयोग करना पड़ा, इससे अनुमान होता है कि ईसवी सन् से पूर्व ही संस्कृत का पुनरुज्जीवन अवश्य हुआ होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के शासन के बाद कोई ऐसा प्रबल राजनैतिक परिवर्त्तन हुआ जिसका विरोध महायान मतावलम्बी भी नहीं कर सके। शुङ्ग और कण्व जैसी कुछ राजशक्तियों का प्रभुत्व हुआ और उन्होंने संस्कृत को पुनः सर्व-प्रिय बनाया। तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय का प्रभाव दूर तक फैल रहा था। पता लगता है कि पुष्यमित्र ने ई० पू० के द्वितीय शताब्दी में साम्राज्य के केन्द्र में अश्वमेधयज्ञ किया था। इस काल में होने वाले पतञ्जलि ने अपने काल के कई ग्रन्थों का उल्लेख किया है। विशालकाय महाभारत का सम्पादन भी इसी काल में हुआ। पद्यबद्ध स्मृतियाँ—मनु और याज्ञवल्क्य—भी इसी काल की रचना हैं। पुराणों में बहु संख्यक पुराण भी इसी समय रचे गए। अतः ईसापूर्व का समय वह समय था जब संस्कृत में बहुत कुछ लिखा गया। तब संस्कृत का प्रभाव इतना हो गया था कि शिलालेख[1] भी संस्कृत में ही लिखे जाने लगे और बाद का जैनसाहित्य भी संस्कृत में ही प्रस्तुत हुआ।

---

१ रुद्रदामा का शिलालेख (शक सम्वत् ७२, ईसवी सन् १५०) संस्कृत का प्रथम शिलालेख कदापि नहीं। इसकी भाषा और शैली दोनों से प्रतीत होता है कि तब भाषा का पर्याप्त विकास हो चुका था।

विक्रमीय[1] सम्वत् ई० पू० ५७ से प्रारम्भ होता है। इस की प्रतिष्ठा या तो किसी बड़े हिन्दू राजा के सम्मान के लिए या किसी बड़ी हिन्दू-विजय की स्मृति-स्थापना के लिए रक्खी गई होगी। प्रायोवाद के अनुसार कालिदास[2] ईसापूर्व की प्रथम शताब्दी में हुए।

(१८) कालिदास

यह बात प्रायः सर्वसम्मत है कि कालिदास संस्कृत का सबसे बड़ा कवि है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि वह भारत का शेक्सपियर है। भारतीय विद्वान् और आलङ्कारिक उसका नाम महाकवि, कवि-शिरोमणि, कविकुलगुरु इत्यादि विशेषणों के साथ लेते हैं। खेद है कि ऐसे महाकवि के जीवन के[3] या काल तक के विषय में हम कुछ भी निश्चित रूप से नहीं जानते। उसके काल की पर और अपर सीमाओं में पाँच सौ वर्षों का अन्तर पाया जाता है। वह बड़ा भारी विद्वान् और अपने काल में प्रचलित सकल विद्याओं का, जिनमें राजधर्म, ज्योतिष और कामशास्त्र भी सम्मिलित हैं, बड़ा पण्डित था।

पता लगता है कि कालिदास नाटककार, गीतिकाव्यकर्ता और महाकाव्यनिर्माता था। उसके नाम से प्रचलित ग्रन्थों की संख्या अच्छी बड़ी है। उनमें से निम्नलिखित ग्रन्थ अधिक महत्त्व के हैं और विस्तृत वर्णन के अधिकारी हैं :—

---

१ पहले के शिलालेखों में एक सम्वत् को जो ५७ ई० पू०-का है कृत सम्वत् कहा गया है। २ कालिदास के काल के बारे में विस्तृत ज्ञान के लिए खण्ड २१ देखिये। ३ उसके जीवन के विषय में कई जनश्रुतियाँ हैं। एक जनश्रुति के अनुसार वह जवानी तक कुछ न पढ़ा और महामूर्ख था और कालीदेवी के वरदान से विद्यावान् हुआ था। दूसरी के अनुसार उसकी मृत्यु लंका में एक लालची वेश्या के हाथ से हुई। किन्तु इन जनश्रुतियों में बहुत कम विश्वास हो सकता है। अतः उनसे कोई विशेष परिणाम भी नहीं निकल सकता।

(१) मालविकाग्निमित्र । (२) विक्रमोर्वशीय । (३) अभिज्ञान शाकुन्तल ।	नाटक
(४) ऋतुसंहार । (५) मेघदूत ।	गीतिकाव्य
(६) कुमारसम्भव । (पहले ८ सर्ग) (७) रघुवंश ।	महाकाव्य

(१) मालविकाग्निमित्र—विलसन ने इस ग्रन्थ के कालिदास कृत होने में सन्देह प्रकट किया था; किन्तु विलसन के बाद अधिक अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो चुका है कि यह नाटक कालिदास की ही कृति है। जिन आधारों पर यह कालिदास की रचना मानी जाती है वे ये हैं:—

अ—हस्तलिखित प्रतियों का साक्ष्य,

आ—प्रस्तापना में आई हुई बातें,

इ—आभ्यन्तरिक साक्ष्य (यथा; चमत्कारपूर्ण उपमाएँ),

ई—पात्रों का चरित्र-चित्रण (प्रत्येक पात्र का चरित्र कालिदास की शैली के अनुरूप है)।

उ—नाटक-कला की उत्कृष्टता (कालिदास साधारण कथा में से भी एक आश्चर्यजनक सुन्दर कथानक घड़ लेता है।),

ऊ—शैली, और

ए—भाषा।

निस्सन्देह कालिदास का यह प्रथम नाटक है। इसकी प्रस्तावना में यह इस दुविधा में है कि भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जैसे कीर्तिमान् कवियों की कृतियों के विद्यमान होते हुए न जाने जनता उसके नाटक का

अभिनय देखेगी या नहीं। इसमें पाँच अंक हैं और विदिशा के महाराज अग्निमित्र तथा विदर्भ की राजकुमारी मालविका की संयोगान्त प्रेम-कथा वर्णित है। प्रसंग से इसमे कहा गया है कि महाराज अग्निमित्र ने अपने आपको सम्राट् घोषित करने के लिए अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ा; घोड़े के प्रधानरक्षक वसुमित्र (महाराज के पुत्र) ने सिन्धु के किनारे यवनों को परास्त किया और पुष्यमित्र[1] (महाराज के पिता) ने उत्तर दिशा से उक्त विजय का समाचार राजधानी में भेजा।

(२) विक्रमोर्वशीय—यह नाटक शकुन्तला से, जिसमें कवि ने नाटक कला मे प्राप्त पूर्णप्रौढि का परिचय दिया है, पहले लिखा गया हैं। इसमे पाँच अंक हैं। इसका विषय महाराज पुरुरवा और उर्वशी अप्सरा का परस्पर प्रेम है। प्रथम अंक में आता है कि केशी नामक दैत्य के वश में पड़ी हुई उर्वशी को अद्वितीय वीर महाराज पुरुरवा ने बचाया। तभी वे दोनों एक दूसरे के प्रेमपाश में बँध गए। दूसरे अंक की कथा है कि पुरुरवा विदूषक से उर्वशीविषयक अपने अनुराग का वर्णन करते हैं, उसी समय अदृश्य रूप में उर्वशी अपनी एक सखी के साथ वहाँ आती है और भोजपत्र पर लिखा हुआ अपना प्रेम सन्देश फेंक देती है। तब पुरूरवा और उर्वशी में वार्तालाप प्रारम्भ होता है। संयोग से एक नाटक में अभिनय करने के लिये उर्वशी शीघ्र स्वर्ग में बुला ली जाती है। राजा वह प्रेम सन्देश सँभाल कर रखने के लिए विदूषक को दे देता है किन्तु किसी न किसी प्रकार वह महारानी के हाथों में जा पहुँचता है और महारानी कुपित हो जाती है। राजा महारानी को मनाने का बड़ा प्रयत्न करता है, किन्तु सब व्यर्थ।

तीसरे अंक के आदि मे हमें बताया जाता है कि भरत ने उर्वशी को मर्त्यलोक में जाने का शाप दे दिया; क्योंकि उसने लक्ष्मी का अभिनय

---

१ अन्तिम मौर्य नृप को राज्यच्युत करके यह १७८ ई० पू० में सिंहासनारूढ हुआ और इसने शुङ्गवंश की नींव डाली।

यथायोग्य नहीं किया था और 'मैं पुरुषोत्तम (विष्णु) को प्यार करती हूँ' यह कहने की बजाए उसने कहा था कि 'मैं पुरुरवा को प्यार करती हूँ'। इन्द्र ने बीच में पड़कर शाप में कुछ परिवर्तन करा दिया जिसके अनुसार उसे पुरुरवा से उत्पन्न होने वाले पुत्र का दर्शन करने के बाद स्वर्ग में आने जाने का अधिकार हो गया। तीसरे अंक में महारानी का कोप दूर होकर महाराज और महारानी का फिर मेल-मिलाप हो जाता है। महारानी महाराज को अपनी प्रेयसी से विवाह करने की अनुमति दे देती है। उर्वशी अदृश्य होकर दम्पती की बातें सुनती रहती है और जब महारानी वहाँ से चली जाती है तब वह महाराज से जा मिलती है।

चौथे अंक के प्रारम्भ में महाराज पर आने वाली विपत्ति का संकेत है। उर्वशी कुपित होकर कुमार-कुंज में जा घुसती है जहाँ स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध था, फलतः वह लता बन जाती है। राजा उसे ढूँढता ढूँढता पागल हो जाता है और व्यर्थ में बादल से, मोर से, कोयल से, भौंरे से, हाथी से, हरिण से और नदी से उसका पता पूँछता है[1]। अन्त में उसे एक आकाशवाणी सुनाई देती है और वह एक जादू का रत्न पाता है जिसके प्रभाव से वह ज्यों ही लता को स्पर्श करता है त्यों ही वह लता उर्वशी बन जाती है।

अन्तिम (५म) अंक में उर्वशी को लेकर राजा प्रसन्नता के साथ अपनी राजधानी को लौटता है। इसके थोड़े समय बाद उक्त रत्न को एक गीध उठाकर ले जाता है; किन्तु उस गीध को एक बाण जख्मी कर देता है जिस पर लिखा है—'पुरुरवा और उर्वशी का पुत्र आयु'। इतने में ही एक तपस्विनी एक वीर क्षत्रिय बालक को आश्रम से राजा के सामने इसलिये पेश करती है कि उस बालक को उसकी माता उर्वशी को वापस कर दिया जाए, कारण कि उस बालक ने आश्रम के नियमों का भङ्ग किया था। यद्यपि राजा को इस पुत्र का कुछ पता नहीं था, तथापि

---

१ हम कह सकते हैं कि यह सारे का सारा अंक एक गीतिकाव्य है जिसमें वक्ता अकेला राजा ही है।

वह उसे देखकर प्रसन्न हो उठता है। उर्वशी अब राजा से बिछुड़ जाने[1] का विचार करके उदास हो जाती है। राजा भी खिन्न हो उठता है। थोड़ी देर बाद स्वर्ग से एक हर्ष का सन्देश लेकर देवर्षि नारद वहाँ आ जाते हैं। इन्द्र ने उस सन्देश से दैत्यों के विनाश के लिये राजा से सहायता करने की प्रार्थना की थी और उसे जीवनपर्यन्त उर्वशी के संयोग का आनन्द लेने की आज्ञा दी थी।

(२) अभिज्ञान शाकुन्तल—सर्व सम्मति से यह कालिदास की सर्वोत्तम कृति है जिसे उसने बुढ़ापे में प्रस्तुत किया था। गेटे (Goethe) तक ने फ़ास्ट (Faust) की भूमिका में इसकी प्रशंसा की है। सर विलियम जोन्स ने इसका प्रथम इंग्लिश अनुवाद किया। इसमें सात अंक हैं। प्रस्तावना में कहा गया है कि महाराज दुष्यन्त एक हरिण का तेज़ी से पीछा कर रहे थे कि वह महर्षि कण्व के तपोवन में घुस गए। तब महाराज रथ से उतर कर महर्षि को प्रणाम करने के लिए आश्रम में प्रविष्ट हुए, किन्तु महर्षि कहीं बाहर गए हुए थे। उस समय आश्रम की अधिष्ठात्री महर्षि की पालित-पुत्री शकुन्तला थी, जिसे वे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। एक भौंरे ने उसे घेर लिया और वह सहायता के लिए चिल्लाई। उसकी सहेली अनसूया और प्रियम्वदा ने हँसी हँसी में कहा कि आश्रमों का सुप्रसिद्ध रक्षक दुष्यन्त तुझे बचाएगा। राजा उस अवसर पर वहाँ प्रस्तुत ही था। उक्त सखियों से राजा को मालूम हुआ कि शकुन्तला वस्तुतः विश्वामित्र और मेनका की सुता थी। अतः वह उसके (राजा के) पाणिग्रहण के अयोग्य नहीं थी। इतने में राजा को तपोवन में उपद्रव मचाने पर उतारू दिखाई देने वाले एक जँगली हाथी को दूर हटाने के लिये वहाँ से जाना पड़ा, किन्तु उसके जाने से पहले ही उन दोनों के हृदयों में एक दूसरे के अनुराग का अङ्कुर प्रस्फुटित हो गया

---

१ यह कथा प्रसङ्ग से यह भी सूचित करती है कि स्त्री पुत्र की अपेक्षा पति को बहुत अधिक चाहती है।

(प्रथम अङ्क)। राजा अपने प्रेमानुभवों का वर्णन विदूषक से करता है और आश्रम को राक्षसों के उपद्रवों से बचाने का भारी बोझ अपने ऊपर लेता है। इसी समय एक त्योहार में शामिल होने के लिये राजा को राजधानी से बुलावा आ जाता है। वह स्वयं राजधानी न जाकर अपने स्थान पर विदूषक को भेज देता है, और उससे कहता है कि शकुन्तला के प्रेम के बारे में मैंने तुझ से जो कुछ कहा था वह सब विनोद ही था उसे सच न मान लेना (द्वितीय अङ्क)।

शकुन्तला अस्वस्थ है और उसकी दोनों सखियों को उसके स्वास्थ्य की बड़ी चिन्ता है। दुष्यन्तविषयक उसका प्रेम बहुत घनिष्ठ हो गया है; सखियों के कहने से वह एक प्रेम-व्यञ्जक पत्र लिखती है। दुष्यन्त, जो छिपकर उनकी बात सुन रहा था, प्रकट हो जाता है। शकुन्तला और राजा में देर तक वार्त्तालाप होता है; अन्त में तपस्विनी गौतमी का उधर आना सुनकर राजा को वहाँ से हटना पड़ता है (तृतीय अङ्क)। राजा अपनी राजधानी को लौट जाता है। वहाँ जाकर वह शकुन्तलाविषयक प्रेम को बिल्कुल भूल जाता है। एक दिन शकुन्तला राजा के प्रेम में वेसुध बैठी थी, कि क्रोधी ऋषि दुर्वासा वहाँ आ पहुँचे। आत्मविस्मृत शकुन्तला ने उनका यथोचित आतिथ्य न किया तो ऋषि ने उसे कठोर शाप दे दिया। सखियों ने दौड़कर क्षमादान की प्रार्थना की तो ऋषि ने शाप में परिवर्तन करते हुए कहा कि अच्छा, जब वह अपने पति को अभिज्ञान का चिह्न रूप उस (पति) की अँगूठी दिखा देगी, तब उसके पति को उसकी याद आ जाएगी, वरना उसका पति उसे भूला रहेगा। यही सारी कथावस्तु का बीज है।

कण्व अपने समाधिबल से शकुन्तला के गान्धर्व विवाह को जान जाते हैं। अनिच्छा होने पर भी वे किसी को साथ देकर शकुन्तला को उसके पति के घर भेजने का निश्चय करते हैं। तब विरक्त महर्षि को भी कन्या-वियोग की व्यथा विह्वल कर डालती है। वृद्ध महर्षि पिता, प्यारी

सखियों, पक्षियों और उन पौधों को, जिन्हें उसने अपने हाथ से सींच-सींचकर बड़ा किया था, छोड़ते हुए शकुन्तुला का भी जी भर आता है। सारा अङ्क करुणारस से आप्लावित दिखाई देता है। यहाँ कालिदास की लेखनी की चमत्कृति देखने के योग्य है (४र्थ अङ्क)। धर्मात्मा राजा राज-काल में संलग्न सभा मे बैठा है, द्वारपाल दो तपस्वियों और एक स्त्री के आने की सूचना देता है। दुर्वासा के शाप के वश राजा अपनी पत्नी को नहीं पहचानता और उसे अङ्गीकार करने से निषेध करता है। तपस्वी यत्न करते हैं कि राजा होश में आए और अपना कर्तव्य पहचाने; किन्तु वह अपनी लाचारी प्रकट करता है। अन्त में निश्चय करते हैं कि शकुन्तला को उसके पति के सामने छोड़कर उन्हे वापिस हो जाना चाहिए। तभी सहसा मानवीय रूप में एक दिव्यज्योति प्रकट होकर शकुन्तला को उठाकर ले जाती है और सब देखने वालों को अश्चर्य में डाल जाती है (५म अङ्क)।

एक धीवर के पास राजा की अँगूठी पकड़ी जाती है जो मार्ग में एक तीर्थ में स्नान करते समय शकुन्तला की अंगुली से पानी में गिर गई थी। धीवर पर चोरी का अपराध लगाकर पुलिस उसे गिरफ्तार कर लेती है। राजा अँगूठी को पहचान लेता है। शाप का प्रभाव समाप्त हो चुकने के कारण अब राजा को शकुन्तला तथा उसके साथ हुई सब बातों का स्मरण हो आता है। वह अपनी भीषण भूल पर खूब पछताता और अपने परपत्य होने के कारण बड़ा दुःखी होता है। थोड़ी देर बाद उसे विदूषक के रोने की आवाज़ आती है। वह उसे बचाने दौड़ता है तो क्या देखता है कि इन्द्र का सारथि मातलि उसकी दुर्गत बना रहा है। तभी उसने मातलि से सुना कि इन्द्र को दैत्यों के संहार के लिये उसकी सहायता चाहिये (६ष्ठ अङ्क) स्वर्ग में दैत्यों पर विजय प्राप्त कर चुकने के बाद मातलि राजा को स्वर्ग की सैर कराता है। सैर करते करते राजा मारीच महर्षि के आश्रम में पहुँचता है, जहाँ वह देखता है कि बालक खेल खेल में एक शेर के बच्चे को खीच रहा है। कुछ देर में राजा को मालूम हो जाता है कि वह वीर बालक उसका अपना बेटा है। शकुन्तला तपस्विनी के वेष

में आती है और महर्षि मारीच उन दोनों का पुनर्मिलन करा देते हैं और शकुन्तला से कहते हैं कि तेरे इतने दुःख उठाने में राजा का कोई अपराध नहीं है (७म अङ्क)।

(४) ऋतुसंहार—यह कालिदास का गीत-काव्य है जो उसने अपने कवि-जीवन के प्रारम्भिक काल में लिखा था। यह ग्रीष्म के ओजस्वी वर्णन से प्रारम्भ होकर वसन्त के प्रायः निःसत्त्व वर्णन के साथ समाप्त होता है, जिसमें तरुण राग युवा बनकर कालिदास के हाथों परम-प्रौढि को प्राप्त कर लेता है। छहों ऋतुओं की विशेषताओं का बहुत ही रमणीय रीति से निरूपण किया गया है और प्रत्येक ऋतु में अनुरागियों के हृदयों में उठने वाली भाव-लहरियों को कुशाग्र कूची से अभियुक्त कर दिखाया गया है। वसन्त के भास्वर दिवस तरुण प्राणियों के लिए महा-दाहक हैं, उन्हें तो इस ऋतु में शीतल रजनियों में ही शान्ति मिलती है। जब चन्द्रमा भी सुन्दर तरुण रमणियों से द्वेष करने लगता है और जब विरही जन विरहाग्नि में भुनते रहते हैं। वर्षा ऋतु में अद्रि-मौलियों का चुम्बन करती हुई सी बादलों की घनी घटा झुकती है और युवक-युवतियों के हृदयों में अनुराग-भावो का उद्रेक उत्पन्न कर देती है। शरद् का लावण्य निराला ही है। इस ऋतु में वियोगिनी युवतियों की दशा उस प्रियङ्गुलता के सामान हो जाती है जिससे आँधी के झोंको की चोट विह्वल कर डालती है; किन्तु जिनके पति पास हैं वे इस ऋतु को सर्वोत्तम ऋतु अनुभव करती हैं। अन्त में वसन्त ऋतु आती है जिसकी शोभा आम की म । बढ़ाती हैं जो युवतियो के हृदय को बीधने के लिये काम-बाण का काम करती हैं ।।

सारे ग्रन्थ में १५३ पद्य और छः सर्ग हैं। (प्रत्येक सर्ग में एक एक ऋतु का वर्णन है।) छन्द भी खूब परिवर्त्तित हैं। इस प्रारम्भिक रचना से भी कालीदास की सूक्ष्मईक्षिका और पूर्ण प्रसादगुणशालिता का पता लगता है। "प्रकृति के प्रति कवि की गहरी सहानुभूति, सूक्ष्मईक्षिका और

भारतीय प्राकृतिक दृश्यों को विशद रंगों मे चित्रित करने की कुशलता को जितने सुन्दर रूप मे कालिदास का यह ग्रन्थ सूचित करता है, उतने मे कदाचित् उसका कोई भी दूसरा ग्रन्थ नही करता[1]।" कालिदास के दूसरे किसी भी ग्रन्थ मे "वह पूर्ण प्रसाद गुण नहीं है जिसे आधुनिक अभिरुचि कविता की एक बड़ी रमणीयता समझती है, चाहे अलङ्कारशास्त्रियों को इसने बहुत आकृष्ट न भी किया हो[2]।"

(५) मेघदूत—यह कालिदास के प्रौढ काल का गीत-काव्य है। हम कह सकते हैं कि यह संस्कृत साहित्य में ग्रीक-करुणागीत (Elegy) है। कुबेर[3] अपने सेवक एक यक्ष को एक वर्ष के लिए निर्वासित कर देता है। अपनी पत्नी से वियुक्त होकर वह (मध्यभारत में) रामगिरि नामक पर्वत पर जाकर रहने लगता है। वह एक दिन किसी मेघ को उत्तर दिशा की ओर जाता हुआ देखता है तो उसके द्वारा अपनी पत्नी को सान्त्वना का सन्देश भेजता है। वह मेघ से कहता है कि जब तुम आम्रकूट पर्वत पर होकर वृष्टि द्वारा दावानल को बुझाते हुए आगे बढ़ोगे, तो वहा तुम्हें विन्ध्य-पर्वत के नीचे बहती हुई नर्मदा और वेत्रवती के किनारे बसी हुई विदिशा नगरी मिलेगी। फिर वहा से उज्जयिनी को जाना। वहाँ से कुरुक्षेत्र पहुँच कर पवित्र सरस्वती का मधुर जल पीना। उससे आगे कनखल आएगा, कनखल से कैलास और कैलास से मानस-सर। मानस-सर के मधुर शीतल जल से मार्ग-परिश्रान्ति दूर करने के बाद तुम अलका पहुँचोगे। अलका ही उसका—अथवा सच कहा जाए तो उसकी पत्नी का—निवास स्थान है। इसके बाद यक्ष अपनी पत्नी के निवास का पूरा पता देता है जिससे उसे ढूँढने में कठिनता न हो। तदनन्तर यक्ष मेघ से

---

१ मैकडानल —संस्कृत साहित्य का इतिहास (इंग्लिश), चतुर्थ संस्करण पृष्ठ ३३७। २ ऐ- बी कीथ:—सस्कृत साहित्य का इतिहास (इग्लिश), पृष्ठ ८४। ३ कीथ ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में (इग्लिश पृष्ठ ८५) कुबेर के स्थान पर भूल से शिव लिख दिया है।

अभ्यर्थना करता है कि तुम अपनी बिजली को ज़ोर से न चमकने देना और अपनी ध्वनि को ज़रा धीमी कर देना; क्योंकि ऐसा न हो कि मेरी पत्नी कोई ऐसा स्वप्न देख रही हो जिस में वह मेरा ही ध्यान कर रही हो और वह चौंक कर जाग पड़े। वह कहता है कि मेरी प्रिया मेरे वियोग में पाण्डु और कृश हो गई होगी। जब वह स्वयं जाग जाए, तभी तुम उसे मेरे सच्चे प्रेम का सन्देश देना और उसे यह कहकर धैर्य बँधाना कि शीघ्र ही हमारा पुनः संयोग अवश्य होगा।

इस काव्य की कथावस्तु का आधार वाल्मीकि की रामायण में ढूँढा जा सकता है। उदाहरणार्थ; खोई हुई सीता के लिए राम का शोक; वियुक्तयक्ष का अपनी पत्नी के लिये शोक करने का आदर्श उपस्थित करता है, और रामायण (४, २८) में आया हुआ वर्षा-वर्णन भी कुछ समानता के अंशों की ओर ध्यान खींचता है। फिर भी कालिदास का वर्णन कालिदास का ही है और कथावस्तु के बीज से उसने जो पादप उत्पन्न किया है वह भी अत्यन्त सरस है। कालिदास का प्रतिपाद्यार्थ निस्सन्देह मौलिकता पूर्ण और उसका शब्द-विन्यास विच्छित्तिशाली है। सारी कविता दो भागों में विभक्त है और कुल में ११०[1] से लेकर १२० तक पद्य पाए जाते हैं। सारी कविता में मन्दाक्रान्ता छन्द है जिसमें कवि पूर्ण कृतहस्त प्रतीत होता है।

इसी प्रकार की कथावस्तु शिलर (Schiller) के मेरिया स्टुअर्ट में भी आई है। इसमें भी एक बन्दी रानी अपने प्रमोदमय यौवन का सन्देश स्वदेश की ओर उड़ने वाले बादलों के द्वारा भेजती है। इसमें

---

१ वल्लभदेव (११०० ई०) की टीका में १११, दक्षिणावर्तनाथ (१२०० ई०) की में ११० और मल्लिनाथ (१४०० ई०) की में ११८ पद्य हैं। ८वीं शताब्दी के जिनसेन को १२० पद्यों का पता था। उसने उन १२० को लेकर, समस्यापूर्ति की कला के अभ्यास के रूप में, उनसे पार्श्वनाथ का जीवन लिख डाला। प्रक्षेपों का कारण ग्रन्थ का अत्यन्त सर्वप्रिय होना प्रतीत होता है।

रानी का विरह अनन्त है और उसका विधुर जीवन पाठक के हृदय को द्रवित कर देता है।

मेघदूत के पढ़ने-पढ़ाने का प्रचार खूब रहा है। इसकी नकल पर अनेक काव्य लिखे गए हैं। भिन्न-भिन्न शताब्दियों में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इस पर अनेक टीकाएँ लिखी हैं। मन्दसोर में वत्सभट्टि की लिखी विक्रम सम्वत् ५३० (सन् ४७३ ई०) की जो प्रशस्ति मिलती है जिसे उसने दशपुर में सूर्य मन्दिर की प्रतिष्ठा के लिए बड़े परिश्रम से लिखा था। उसको लिखने में वत्सभट्टि ने मेघदूत को अवश्य अपना आदर्श रक्खा है। यद्यपि यह प्रशस्ति गौड़ी रीति में लिखी गई है और कालिदास की रीति वैदर्भी है, तथापि कुछ पद्य बहुत ही चारु हैं, और ४४ पद्यों की संक्षिप्त प्रशस्ति में वत्सभट्टि ने दशपुर का दीर्घचित्र और वसन्त एवं शरद् का वर्णन दे दिया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मेघदूत का तिब्बती भाषा में एक अनुवाद तजोर में सुरक्षित है, साथ ही इसका एक अनुवाद लंका की भाषा में भी है। इसके अतिरिक्त, इसके अनेक पद्य अलंकार के सन्दर्भों में भी उद्धृत मिलते हैं। १२वीं शताब्दी में धोयीक ने इसी के अनुकरण पर पवनदूत लिखा है।

यह छोटा-सा काव्य-ग्रन्थ भूगोल के रसिकों के भी बड़े काम का है; क्योंकि इससे हमें कालिदास के समय की कई भौगोलिक बातों का परिचय होता है।

(६) कुमारसम्भव—यह एक महाकाव्य है जिसमें १७ सर्ग हैं। इनमें ९ से १७ तक के सर्ग बाद के किसी लेखक की रचना हैं[1]। जैसा कि नाम से प्रकट होता है इसमें शिव-पार्वती के पुत्र कुमार कार्तिकेय के जन्म का वर्णन है, जिन्होंने देवताओं के पीड़क और संसार के प्रत्येक रम्य पदार्थ के ध्वंसक तारकदैत्य का वध किया था। प्रथम सर्ग में हिमालय का परम रमणीय वर्णन है। किन्नर और किन्नरियाँ तक हिमालय के अन्दर

---

१ देखिये खण्ड १९।

रँगरेलियाँ करने के लिये आती हैं। शिव की भवित्री अर्द्धाङ्गिनी पार्वती ऐसे ही हिमालय में जन्म ग्रहण करती हैं और अद्भुत लावण्यवती युवती हो जाती हैं। यद्यपि पार्वती युवती हो चुकी हैं, तथापि उनका पिता शिव से उनका वाग्दान स्वीकार करने की अभ्यर्थना करने का साहस नहीं कर सका; उसे डर था कहीं ऐसा न हो कि शिव उसके प्रणय का प्रतिषेध कर दे—

अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे।

इन सब बातों के समक्ष पार्वती का पिता पार्वती को कुछ सखियों के साथ जाकर शिव की सेवा मे उपस्थित होने और उनकी भक्ति करने की अनुज्ञा दे देता है (प्रथम सर्ग)। इसी बीच में देवता तारकासुर से त्रस्त होकर ब्रह्मा के पास जाते हैं और सहायता की याचना करते हैं। ब्रह्मा भी लाचार है, वह तो तारकासुर का वर-प्रदाता ही है, अपने लगाए हुए विष-वृक्ष का भी काटना उचित नहीं है। देवों का संकट-मोचक तो केवल पार्वती-गर्भ-जात शिव का पुत्र ही हो सकता है (२य सर्ग)। इन्द्र कामदेव को याद करता है। कामदेव प्रतिज्ञा करता है कि यदि मेरा मित्र वसन्त मेरे साथ चले तो मैं शिव का व्रत भंग कर सकता हूँ। वसन्त के शिव के तपोवन में जाने पर सारी प्रकृति पुनरुच्छ्वसित हो उठती है; यहाँ तक कि पशु और पक्षी भी मन्मथोन्मथित हो जाते हैं। पार्वती शिव के सामने आती है और शिव का धैर्य कुछ परिलुप्त हो जाता है। समाधि तोड़कर शिव ने देखा तो सामने कामदेव को अधिज्यधन्वा पाया। बस फिर क्या था? तत्काल क्रुद्ध शिव का तृतीय नेत्र खुला और उसमें से निकली हुई अग्नि-ज्वाला ने पल के अन्दर-अन्दर कामदेव को भस्म कर दिया (३य सर्ग)। रति को अपने पति कामदेव का वियोग असह्य हो गया। वह अपने पति के साथ सती हो जाने का निश्चय करती है। वसन्त उसे धैर्य बँधाता है पर उसका क्षोभ दूर नहीं होता। इतने में आकाशवाणी होती है कि जब पार्वती के साथ शिव का विवाह हो जाएगा। तब तेरा पति पुनरुज्जीवित हो जाएगा। इस आकाशवाणी को सुनकर रति ने धैर्य

धारण किया। वह उत्सुकता से पति के पुनरुज्जीवन के शुभ दिन की प्रतीक्षा करने लगी (चतुर्थ सर्ग)। अपने प्रयत्नों में असफल होकर पार्वती ने अब तप के द्वारा शिव को प्राप्त करने का निश्चय किया। माता ने बेटी को तप से विरत रहने की बहुत प्रेरणा की, किन्तु सब व्यर्थ। पार्वती एक पर्वत के शिखर पर जाकर ऐसा भयंकर तप करने लगी कि उसे देख कर मुनि भी आश्चर्य में पड़ गए। उसने स्वयं गिरते हुए पत्तों तक को खाने से निषेध कर दिया और वह अयाचित केवल प्राप्त जल पर ही रहने लगी। उसके इस तप को देखकर शिव से न रहा गया। वे ब्राह्मण ब्रह्मचारी का रूप बनाकर उसके सामने आए और पार्वती की पति-भक्ति की परीक्षा लेने के लिए शिव की निन्दा करने लगे। पार्वती ने उचित उत्तर दिया और कहा कि तुम शिव के यथार्थ रूप से परिचित नहीं हो। महापुरुषों की निन्दा करना ही पाप नहीं है प्रत्युत निन्दा सुनना भी पाप है यह कहते हुए पार्वती ने वहाँ से चल देना चाहा। तब शिव ने यथार्थ रूप प्रकट करके पार्वती का हाथ पकड़ लिया और कहा कि मैं आज से तपःक्रीत तुम्हारा दास हूँ (पञ्चम सर्ग)। अरुन्धती के साथ सप्तर्षि पार्वती के पिता के पास आए और वर की प्रशंसा करने लगे। पिता के पास खड़ी हुई पार्वती सिर नीचा करके उनकी सब बातें सुनती रही। पार्वती के पिता ने पार्वती की माता से पूछा कि तुम्हारी क्या सम्मति है, क्योंकि कन्याओं के विषय में गृहस्थ लोग प्रायः अपनी पत्नियों की अनुमति पर चलते हैं। पार्वती की माता तुरन्त स्वीकार कर लेती है। (षष्ठ सर्ग)। राजवैभव के अनुसार विवाह की तैयारियाँ होने लगीं और बड़ी शान के साथ विवाह हुआ। कवि पार्वती की माता के हर्ष-विषाद के मिश्रित भावों का बड़ी विशदता के साथ वर्णन करता है (सप्तम सर्ग)। इस सर्ग में कामशास्त्र के नियमानुसार शिव-पार्वती की प्रेमलीला का विस्तृत वर्णन है।

हमें आनन्दवर्धन (३, ७) से मालूम होता है कि समालोचकों ने जगत् के माता-पिता (शिव-पार्वती) के सुरत का वर्णन करना अच्छा

नहीं माना। कदाचित् इस आलोचना के कारण ही कालिदास ने आगे नहीं लिखा और ग्रन्थ को कुमार के जन्म के साथ ही समाप्त कर दिया। 'कुमार सम्भव' नाम भी यही सूचित करता है। ऐसा मालूम होता है कि कवि की मृत्यु के कारण यह ग्रन्थ अपूर्ण नहीं रहा; क्योंकि यह माना जाता है कि रघुवंश कवि की प्रौढावस्था की रचना है और इसी की तरह अपूर्ण भी है।

बाद के सर्गों में कहानी को ग्रन्थ के नाम द्वारा सूचित होने वाले स्थल से आगे बढाया गया है। युद्ध के देवता स्कन्द का जन्म होता है। वह युवा होकर अद्वितीय पराक्रमी वीर बनता है। अन्त में जाकर उसके द्वारा तारकासुर के पराजित होने का वर्णन है।

(७) रघुवश—यह १९ सर्ग का महाकाव्य है और विद्वान् मानते हैं कि कवि ने इसे अपनी प्रौढावस्था में लिखा था। यद्यपि कथानक लगभग वही है जो रामायण और पुराणों में पाया जाता है, तथापि कालिदास की मौलिकता और सूक्ष्मईक्षिका दर्शनीय हैं। ग्रन्थ महाराज दिलीप के वर्णन से प्रारम्भ होता है। दिलीप के अनेक गुणों का वर्णन किया गया है। दुर्भाग्य से एक बार महाराज इन्द्र की गौ सुरभि का यथोचित आदर न कर पाए, जिससे उसने उन्हें निरपत्य होने का शाप दे दिया। इस शाप की शक्ति केवल सुरभि की सुता नन्दिनी से प्राप्त किए हुए एक वर से ही नष्ट हो सकती थी (१म सर्ग)। वसिष्ठ के उपदेश से दिलीप ने वन में नन्दिनी की सेवा की। एक बार एक सिंह ने नन्दिनी के ऊपर आक्रमण करना चाहा। राजा ने सिंह से प्रार्थना की कि तुम मेरे शरीर से अपना पेट भर कर इस गाय को छोड़ दो। इस प्रकार उसने अपनी सच्ची भक्ति का परिचय दिया। सिंह कोई सच्चा सिंह नहीं था, वह महादेव का एक सेवक था। राजा की परीक्षा लेने के लिए भेजा गया था। अब राजा को नन्दिनी से अभीष्ट वर मिल गया (२य सर्ग)। राजा के यहाँ एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम रघु रक्खा गया। रघु के बचपन का वर्णन है। जब वह युवा हो गया तब राजा ने उसे अश्वमेध के घोड़े की रक्षा का

भार सौंपा। रघु को घोड़े की रक्षा के लिए इन्द्र तक से युद्ध करना पड़ा (३य सर्ग)। दिलीप के पश्चात् रघु गद्दी पर बैठा। अब उसकी दिग्विजय का संक्षिप्त किन्तु बड़ा ओजस्वी वर्णन आता है। दिग्विजय के बाद उसने विश्वजित् यज्ञ किया जिसमें विजयों में प्राप्त सारी सम्पत्ति दान में दे दी, 'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव' (४र्थ सर्ग)। औदार्य के कारण रघु अकिंचन हो गया। जब कौत्समुनि दान मांगने के लिये उसके पास आये तो वह किंकर्तव्यविमूढ हो गया। कुबेर की समयोचित सहायता ने उसकी कठिनता को दूर कर दिया। उसके एक पुत्र हुआ। उसका नाम अज रक्खा गया (५म सर्ग)। तब इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन आता है। कोई न कोई बहाना बनाकर अनेक राजकुमारों को वरने से छोड़ दिया जाता है। एक वीर राजकुमार को राजकुमारी केवल यह कहकर नापसन्द कर देती है कि प्रत्येक की अभिरुचि पृथक् पृकक् है। अन्त में अज का वरण हो जाता है (६ष्ठ सर्ग)। विवाह हो जाता है। स्वयंवर में हार खाए हुए राजा वर-यात्रा पर आक्रमण करते हैं किन्तु रघु अपने अद्भुत वीर्य-शौर्य द्वारा उनको केवल मार भगाता है और दया करके उनकी जान नहीं लेता (७म सर्ग)। फिर अज के शान्तिपूर्ण शासन का वर्णन होता है। इन्दुमती की सहसा मृत्यु से अज पर वज्रपात-सा हो जाता है। उसका धैर्य टूट जाता है और उसे जीवन में आनन्द दिखाई नहीं देता। उस पर किसी सान्त्वना का कोई प्रभाव नहीं होता। वह चाहता है कि उसकी अकाल मृत्यु हो जाए जिससे वह अपनी प्रिया से स्वर्ग में फिर मिल सके (८म सर्ग) उसके बाद उसका पुत्र दशरथ राजा होता है। श्रवणकुमार की कथा वर्णित है (९म सर्ग)। अगले छः सर्गों में राम की कथा का सविस्तर वर्णन आता है। सोलहवें सर्ग में कुश की, सत्रहवें में कुश के पुत्र की और अठारहवें तथा उन्नीसवें सर्ग में उनके अनेक उत्तराधिकारियों की कथा दे दी जाती हैं। उत्तराधिकारियों में से कुछ के तो केवल नाम मात्र ही दिये गए हैं। काव्य अपूर्ण रहता है। कदाचित् इसका कारण कवि की मृत्यु है।

(१९) कालिदास के ग्रन्थों के मौलिक भाग

ऊपर[1] कहा जा चुका है कि विल्सन ने दुर्बल आधार पर ही माल विकाग्निमित्र को कालिदास की रचना मानने में सन्देह प्रकट किया था, और वास्तव में यह कालिदास की ही रचना है। शेष दोनों नाटक सर्व सम्मति से उसकी ही कृति माने जाते हैं।

ऋतुसंहार कालिदास कृत है या नहीं, इस बारे में बड़ा विवाद पाया जाता है। विरोधी पक्ष कहता है कि :—

(१) नाम के अन्दर 'संहार' शब्द 'चक्कर' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और कालिदास ने कुमारसम्भव में इस शब्द का प्रयोग बिल्कुल ही भिन्न अर्थ में किया है, यथा—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।

(२) यह काव्य ग्रीष्म ऋतु के विशद वर्णन से प्रारम्भ होकर वसन्त के क्षीण वर्णन के साथ समाप्त होता है। इससे पतत्प्रकर्ष अथवा अनुपात-शून्यता (Disproportion) सूचित होता है। हम कालिदास से ऐसी आशा नहीं कर सकते।

(३) अलङ्काराचार्यों ने ऋतु वर्णन के उदाहरण ऋतुसंहार से न देकर रघुवंश से दिये हैं।

(४) मल्लिनाथ ने कालिदास के काव्य-त्रय पर टीका लिखी है, ऋतुसहार पर नहीं।

(५) १०वीं शताब्दी से प्रारम्भ करके अनेक विद्वानों ने कालिदास के दूसरे ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं किंतु ऋतुसंहार पर १८वीं शताब्दी तक कोई टीका नहीं लिखी गई।

---

१ देखिये खण्ड १८ का (१)।

समर्थक पक्ष के लोगों का कथन है कि ऋतुसंहार कालिदास की अन्यकृतियों में न्यून श्रेणी का अवश्य है किन्तु यह इसलिए है कि कवि का यह प्रारम्भिक प्रयत्न है। टैनिसन और गेटे तक की आदिम और अन्तिम रचनाओं में ऐसा ही भारी अन्तर्वैषम्य देखा जाता है। इस से इस बात का भी समाधान हो जाता है कि आलङ्कारिकों ने ऋतुसंहार की अपेक्षा रघुवंश में से उद्धरण देना क्यों पसन्द किया? ऋतुसंहार को सरल समझ कर ही मल्लिनाथ या किसी अन्य टीकाकार ने इस पर टीका लिखने की भी आवश्यकता नहीं समझी। किसी भी प्राचीन विद्वान् ने इसके कालिदासकृत होने में कभी सन्देह नहीं किया। साथ ही यह भी संभव जान पड़ता है कि वत्सभट्टि को इस काव्य का पता था और उसने मन्दसोर प्रशस्ति (५२० वि०) इसी के अनुकरण पर लिखी थी।

मेघदूत के बारे मे हमें पता लगता है कि इसके प्राचीनतम टीकाकार वल्लभदेव को केवल १११ पद्यों का पता था, किन्तु मल्लिनाथ की टीका में ११८ पद्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष करके उत्तरार्द्ध के कुछ पद्य प्रक्षिप्त हैं।

रघुवंश के बारे में हिलब्रैंड (Hillebrandt) का 'कालिदास' पृष्ठ ४२ में कहना है कि इसके १७ से १९ तक के तीन सर्ग कालिदास कृत नहीं हैं। यह ठीक है कि गुणों में ये सर्ग न्यून श्रेणी के हैं, और न इनमें काव्यविषयिणी अन्तर्दृष्टि ही पाई जाती है, न वह तीव्र भावोष्मा, जो कालिदास में पर्याप्त देखी जाती है; किन्तु इससे हम यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि ये कालिदास कृत नहीं हैं। किसी अन्य विद्वान् ने इन सर्गों के प्रक्षिप्त होने की शङ्का नहीं की। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि इन सर्गों में कालिदास की उत्कृष्ट काव्य-शक्ति का चमत्कार देखने को नहीं मिलता।

अब कुमारसम्भव को लेते हैं। ९वें से १७वें तक के सर्ग निश्चय ही बाद में जोड़े गए हैं। मल्लिनाथ की टीका केवल ८वें के अन्त तक मिलती

है। आलङ्कारिकों ने भी पहले ही आठ[1] सर्गों में से उदाहरण दिए हैं। शैली, वाक्य-विन्यास और कथा-निर्माण कौशल के आभ्यन्तरिक प्रमाणों से भी अन्त के इन सर्गों का प्रक्षिप्त होना एकदम सिद्ध होता है। इनमें कुछ ऐसे वाक्य-खण्ड बार बार आए हैं जो कालिदास की शैली के विरुद्ध हैं। छन्दःपूर्ति के लिए नूनम्, खलु, सद्यः, अलम् इत्यादि व्यर्थ के शब्द भरे गए हैं। कई स्थलों पर प्रथम और तृतीय चरण के अन्त में यति का भी अभाव है। अव्ययीभाव समासों और कर्मणि प्रयोग आत्मनेपद में लिट् के प्रयोगों का आधिक्य है। समास के अन्त में 'अन्त' (यथा समासान्त) पद का प्रयोग लेखक को बड़ा प्यारा लगता है। इस 'अन्त' की तुलना मराठी के अधिकरण कारक की 'आंत' विभक्ति से की जा सकती है। इसी आधार पर जैकोबी का विचार है कि कदाचित् इन सर्गों का रचयिता कोई महाराष्ट्रीय होगा।

(२०) नाटकों के नाना संस्करण

कालिदास के अधिक सर्व-प्रिय नाटकों के नाना संस्करणों का मिलना स्वाभाविक ही है। मालविकाग्निमित्र का अब तक एक ही संस्करण मिलता आ रहा है; किन्तु साहित्यदर्पण मे एक लम्बा प्रकरण इस में से उद्धृत किया गया है जो वर्तमान संस्करण के प्रकरण से पूरा पूरा नहीं मिलता, इससे अनुमान होता है कि इस का भी कोई दूसरा संस्करण रहा होगा। वर्तमान मालविकाग्निमित्र का प्रकरण साहित्यदर्पण में उद्धृत प्रकरण का समुपबृंहित रूप है।

विक्रमोर्वशीय दो संस्करणों में चला आ रहा है, (१) उत्तरीय (बंगाली और देवनागरी लिपि में सुरक्षित) और (२) दक्षिणीय (दक्षिण भारत की भाषा की लिपियों में सुरक्षित)। पहले पर रंगनाथ (१६५६ ई०)

---

१ इसके विपरीत हम देखते हैं कि आलङ्कारिकों ने रघुवंश के सब सर्गों में से उदाहरण लिए हैं।

ने और दूसरे पर काटयवेम (१४०० ई०) ने टीका लिखी है । उत्तरीय-संस्करण का चौथा अंक बहुत उपबृंहित है। इसमें अपभ्रंश के अनेक ऐसे पद्य हैं जिनके गीत-स्वर भी साथ ही निर्देश कर दिए गए हैं। नायक, नाट्य-शास्त्र के विरुद्ध, अपभ्रंश में गाता है; परन्तु इस नियमोल्लंघन का समाधान इस आधार पर किया जाता है कि नायक उन्मत्त है। यह विश्वास नहीं होता कि कालिदास ने ये पद्य अपभ्रंश में लिखे होंगे। इस अंक[1] की अनुकृति पर लिखे अनेक सन्दर्भों मे से किसी में भी अपभ्रंश का कोई पद्य नही पाया जाता। इसके अतिरिक्त, कालिदास के काल में ऐसी अपभ्रंश बोलियों के होने में भी सन्देह किया जाता है। उत्तरीय संस्करण में नाटक को 'त्रोटक' का और दक्षिणीय में नाटक का नाम दिया गया है।

अभिज्ञान शाकुन्तल के चार संस्करण उपलब्ध है—बंगाली, देवनागरी, काश्मीरी और दक्षिण भारतीय, पहले दो विशेष महत्व[2] के हैं। बंगाली संस्करण मे २२१ श्लोक हैं और शंकर एवं चन्द्रशेखर इस पर टीका लिखने वाले हैं। देवनागरी संस्करण में १९४ पद्य हैं और इस पर राघव भट्ट की टीका मिलती है। यह बताना यद्यपि कठिन है कि इन दोनों में से कौन-सा संस्करण अधिक अच्छा है तथापि प्रमाण बृहत्तर संस्करण के पक्ष में अधिक झुकता है। ईसा की ७वीं शताब्दी में हर्ष ने बंगाली संस्करण का अनुकरण किया था; क्योंकि रत्नावली का वह दृश्य जिसमें नायिका सागरिका जाती है, वापिस आती है, छुपकर राजा की बातें सुनती है और उसके सामने प्रकट होती है, बृहत्तर संस्करण के एक ऐसे ही दृश्य के लगभग पूरे अनुकरण पर लिखा गया है। दूसरी तरफ़,

---

१ देखिये—भवभूति के मालतीमाधव का नवम अङ्क, राजशेखर के बालरामायण का पञ्चम अङ्क, जयदेव के प्रसन्नराघव का षष्ठ अङ्क और महानाटक का चतुर्थ अङ्क। २ काश्मीरी तो बंगाली और देवनागरी का सम्मिश्रण है, तथा दक्षिणभारतीय देवनागरी से बहुत ज्यादा मिलता जु ता है।

देवनागरी संस्करण अपूर्ण है। सम्भवतया यह अभिनय के लिये किया हुआ वृहत्तर संस्करण का संक्षिप्त रूप[1] है। इसमें 'दोपहर हो रहा है' कहकर राजा शकुन्तला को रोकता है, इतने मे 'शाम हो गई है' कहती हुई गौतमी आ जाती है। वृहत्तर संस्करण में कालविषयक ऐसा व्याघात दोष नहीं पाया जाता है। इसके सिवा, बंगाली संस्करण की प्राकृत भी निस्सन्देह अधिक शुद्ध है। यह बात भी बहुत कुछ ठीक है कि राजशेखर को बंगाली संस्करण का पता था, किसी अन्य का नहीं। देवनागरी संस्करण के प्राचीनतर होने में वैबर (Weber) की दी हुई युक्तियाँ संशयापहारिणी नहीं हैं।

(२१) कालिदास का काल

दुर्भाग्य की बात है कि भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि के काल के बारे में कोई निर्णायक प्रमाण नहीं मिलता। काल की अवरसीमा का निश्चय तीन बातों से होता है—(१) शक सम्वत् ५५६ (६३४ ई०) का ऐहोल का शिला-लेख जिसमें कालिदास की कीर्ति का उल्लेख है; (२) बाण (६२० ई०) के हर्ष चरित की भूमिका जिस में उसने कालिदास की मधुरोक्तियों की प्रशंसा की है; और (३) सुबन्धु का एक परोक्ष संकेत। इतना दिगन्तव्यापी यश समुपार्जित करने के लिये कम से कम १०० वर्ष का भी समय मानें तो कालिदास १०० वर्ष पहले विद्यमान रहा होगा। पर सीमा की अभिव्यक्ति मालविकाग्निमित्र (लगभग ई० पू० १२५) है जो शुंगवंश का प्रवर्तक था। इन दोनों सीमाओं के बीच, भिन्न भिन्न विद्वान्, कालिदास का भिन्न भिन्न काल निश्चित करते हैं।

(१) ई. पू. प्रथम शताब्दी का अनुश्रुतवाद।

जनश्रुति के अनुसार कालिदास विक्रमादित्य शकारि की सभा के नवरत्नों में से एक था। यह विक्रमादित्य भी वही विक्रमादित्य कहे जाते हैं

१ बोलेनसेन (Bollenson) का भी यही मत है।

जिन्होंने शकविजय के उपलक्ष्य में ५७ ई० पू० में अपना सम्वत् प्रवर्त्तित किया था। कालिदास के विक्रमादित्य-पालित होने की सूचना विक्रमोर्वशीय नाटक के नाम से भी होती है। इस नाम में उसने द्वन्द्वसमास के अन्त में लगने वाले 'ईय' प्रत्यय के नियम का उल्लङ्घन केवल अपने आश्रयदाता के नाम को अमर बनाने के लिए किया है। इस वाद का समर्थन वक्ष्यमाण युक्तियों से होता है:—

(क) मालविकाग्निमित्र की कथा से प्रतीत होता है कि कवि को शुङ्ग वंश के इतिहास का, जो पुराणों तक में नहीं मिलता है, खूब परिचय था। नाटक की बातें अर्थात् पुष्यमित्र का सेनापति होना, पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र का यवनों को सिन्धु के तट पर परास्त करना, पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ करना ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। कालिदास को यह सारा पता स्वयं शुङ्गों से लगा होगा। इसके अतिरिक्त, नाट्यशास्त्र के अनुसार कथावस्तु तथा नायक सुप्रसिद्ध होने चाहिएँ। यदि कालिदास गुप्त-काल में जीवित होता तो उसके समय अग्निमित्र का यश मन्द हो चुका होने के कारण उसे नायक बनाने की बात सन्देहपूर्ण हो जाती है।

(ख) भीटा के एक मुद्रा-चित्र में एक राजा रथ मे बैठकर हरिण का आखेट करता हुआ दिखाया गया है। यह दृश्य शकुन्तला नाटक के प्रथम अंक के दृश्य से बहुत मिलता है; इस दृश्य के समान सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य मे कोई दूसरा दृश्य नहीं है। यह मुद्रा-चित्र शुङ्ग-साम्राज्य की सीमा के अन्तर्गत प्राप्त हुआ था। अतः कालिदास शुङ्ग-वंश के अन्त (अर्थात् २५ ई० पू०) से पहले ही जीवित रहा होगा।

(ग) कालिदास की शैली कृत्रिमता से मुक्त है। यह महाभाष्य से बहुत मिलती जुलती है। अतः कालिदास का काल श्रम-सम्पन्न एवं कृत्रिम शैली के उत्तम आदर्शभूत नासिक और गिरनार के शिलालेखो के काल से बहुत पहले होना चाहिए।

(घ) कुछ शब्दों के इतिहास से ऐसा ज्ञात होता है कि संस्कृत कालिदास के काल के शिक्षितों की बोल-चाल की भाषा थी। उदाहरणार्थ;

परमेष्ठी और पेलव शब्द का प्रयोग अमरकोप में दिए अर्थ से बिल्कुल भिन्न अर्थ में हुआ है।

(ङ) कुछ वैदिक शब्दों के व्यवहार से ऐसा प्रतीत होता है कि वह वैदिक और श्रेण्य साहित्य के सन्धिकाल मे हुआ और यह काल ३०० ई० पू० से ईसवी सन् के प्रारम्भ तक माना जाता है। ईसवी सन् के प्रारम्भिक काल के लेखक तक भी अपनी रचनाओं मे किसी वैदिक शब्द का प्रयोग कहीं करते।

(च) कालिदास ने परशुराम को केवल ऋषि माना है विष्णु का अवतार नहीं। परशुराम को अवतार मानना पश्चात् में आरम्भ हुआ।

(छ) कालिदास और अश्वघोष के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन दोनों के लेख परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं[1]। बहुत ही कम विद्वान् इस से निषेध करेंगे कि अश्वघोष कालिदास की अपेक्षा अधिक कृत्रिम है। अश्वघोष प्रायः ध्वनि के लिये अर्थ की उपेक्षा कर देता है। काव्य शैली का इतिहास प्रायः इसकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कृत्रिमता का इतिहास है। ऐसी अवस्था में कालिदास को अश्वघोष (ईसा की प्रथम शताब्दी) से पहले रखना ही स्वाभाविक होगा। यद्यपि दूसरे भी आधार हैं, तथापि यही अधिक न्यायपूर्ण प्रतीत होता है कि बौद्ध कवि ने बुद्धचरित मे कालिदास के ग्रन्थों में से दृश्यों का अनुकरण किया हो। यह विश्वास कम होता है कि संस्कृत साहित्य के, सर्वतोमुखी-प्रज्ञावान्, सर्वश्रेष्ठ कवि ने अश्वघोष के बुद्धचरित की नकल की हो और लज्जावनत मुख से, एक ही नहीं, दोनों महाकाव्यों मे चुराए हुए माल से दुकान विभूषित की हो।

(ज) हाल (ईसा की प्रथम शताब्दी) की सतसई में एक पद्य में महाराज विक्रमादित्य की दानस्तुति आई है।

---

१ देखिये खण्ड २६ और २८।

(क) बौद्धधर्म-परामर्शी स्थलों तथा शकुन्तला में आए बौद्धधर्म सम्बन्धी राज-संरक्षणों की बातों से मालूम होता है कि कालिदास ईसवी सन् के प्रारम्भ से कुछ पूर्व हुआ होगा। यह वह काल था जिस तक राजा लोग बौद्धधर्म का संरक्षण करते आ रहे थे। 'प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्' की प्रार्थना उसके व्यथित हृदय से ही निकली होगी।

किन्तु उक्त वाद त्रुटियों से बिल्कुल शून्य नहीं है।

(क) इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ई० पू० की प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य नामक किसी राजा ने (चाहे हाल की सतसई में आया हुआ विक्रमादित्य सम्बन्धी उल्लेख सत्य ही हो) शकों को परास्त किया हो।

(ख) बहुत सम्भव है कि विक्रमादित्य, जिसके साथ परम्परागत रूढ़ि के अनुसार कालिदास का नाम जोड़ा जाता है, कोई उपाधि मात्र हो और व्यक्तिवाचक संज्ञा न हो।

(ग) इसका कोई प्रमाण नहीं कि ५७ ई० पू० में प्रवर्तित सम्वत् विक्रम सम्वत् ही था। लेखों के साक्ष्य के आधार पर हम इतना ही जानते हैं कि ५७ ई० पू० में प्रवर्तित सम्वत् छः सौ वर्षों तक कृत सम्वत् या मालव सम्वत के नाम से प्रचलित रहा। बहुत देर के बाद (८०० ई० के लगभग) यह सम्वत् विक्रम सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(घ) नवरत्नों में कालिदास के नाम के साथ अमरसिंह और वराह-मिहिर के भी नाम लिए जाते हैं; किन्तु अन्य स्वतन्त्र प्रमाणों से पता लगता है कि ये दोनो बाद में हुए हैं।

(२) छठी शताब्दी का वाद।

(क) फ़र्गुसन (Fergusson) का विचार था कि विक्रमादित्य नामक किसी राजा ने ५४४ ई० में हूणों को परास्त किया था। अपनी विजय की स्मृति में उसने विक्रम सम्वत् की नीवँ डाली और अपने सम्वत्

को प्राचीनता का महत्त्व देने के लिए इसे ६ शताब्दी पूर्व से प्रारम्भ किया[1]। प्रो० मैक्समूलर के 'पुनरुज्जीवन वाद ने, जिसके अनुसार छः सौ वर्ष तक सोने के बाद ईसा की पाँचवीं शताब्दी में संस्कृत का पुनर्जागरण हुआ, इस वाद को कुछ महत्त्व दे दिया। किन्तु लेख-लब्ध प्रमाणों ने बतलाया कि न तो मैक्समूलर का वाद समभ्युपगत हो सकता है और न फ़र्गुसन का, क्योंकि ५७ ई० पू० का सम्वत् कम से कम एक शताब्दी पहले कृत या मालव सम्वत् के नाम से शिलालेखों में ज्ञात था।

(ख) यद्यपि फ़र्गुसन का वाद उपेक्षित हो चुका था, तथापि कुछ विद्वान् कतिपय स्वतन्त्र प्रमाणों के आधार पर कालिदास का काल छठी शताब्दी ही मानते रहे। डा० हार्नली (Hoernle) के मत से कालिदास महाराज यशोधर्मा[2] (ई० की छठी शताब्दी) का आश्रित था। इस विचार का आधार मुख्यतः रघुवंशगत दिग्विजय का वर्णन और हूणों का उस देश (काश्मीर) में रहना बताना है जहाँ केसर[3] पैदा होती है। इस विचार का समर्थन कोई विद्वान् नहीं करता। यह विचार भ्रान्त नींव पर खड़ा मालूम होता है।

(२) पञ्चम शताब्दी वाला वाद।

(क) कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य कालिदास का आश्रयदाता था।

---

१ जगत् के इतिहास में इस प्रकार के सम्वत् के प्रारम्भ होने का कोई दृष्टांत नहीं मिलता, तो भी यह काल्पनिक वाद कुछ काल तक प्रचलित रहता रहा। २ जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसायटी (१९०९) ३ केसर का नाम मात्र सुनकर किसी ने कालिदास (कालि के दास) को काश्मीर निवासी मातृगुप्त (माता से रक्षित) मान लिया है। शायद इसका कारण नाम के अर्थ का साम्य है। पर इस विचार में कोई प्रमाण नहीं मिलता और इसके समर्थक भी नहीं है।

(ख) मेघदूत में, रघुवंशस्थ दिग्विजय एवं राम के लंका से लौटने में कालिदास ने जो भौगोलिक परिस्थिति प्रकट की है वह गुप्तकाल के भारत को सूचित करती है।

(ग) रघु की दिग्विजय का ध्यान समुद्रगुप्त की दिग्विजय से आया होगा जिसका क्रम भी प्रायः यही है।

(घ) कदाचित् कुमारसम्भव कुमारगुप्त के जन्म की ओर संकेत करता हो।

(ङ) समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया था। मालविकाग्निमित्र मे जो अश्वमेध वर्णित है वह कदाचित् उसी की ओर संकेत हो।

(च) इस बात की पुष्टि वत्सभट्टि (४७२ ई०) रचित कुमारगुप्त के मन्दसौर के शिलालेख से भी होती है। इस शिलालेख के कुछ पद्य कालिदास के रघुवंश और मेघदूत के पद्यों का स्मरण कराते हैं। उदाहरणार्थ;

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र॥

कैलासतुङ्ग शिखरप्रतिमानि चान्यान्याभान्ति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि।
गान्धर्वशब्दमुखराणि निविष्टचित्रकर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि॥

वत्सभट्टि के ये पद्य मेघदूतस्थ अधोलिखित पद्य का पदान्तर करणमात्र है—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥

(छ) दिग्विजय में पारसीकों और हूणों का निवास भारत की उत्तर-पश्चिमीय सीमा पर बताया गया है, यह बात पंजाब तक को सम्मिलित

करके समग्र उत्तर भारत के ऊपर शासन करने वाले गुप्त राजाओं के समय के बाद संभव नहीं हो सकी होगी।

(ज) मल्लिनाथ की टीका के आधार पर यह माना जाता है कि कालिदास ने मेघदूत में दिङ्नाग और निचुल की ओर संकेत किया है। मल्लिनाथ का काल कालिदास से बहुत पश्चात् है, अतः उसका कथन पूर्ण विश्वसनीय नहीं है। किसी प्राचीन लेखक के लेख में मल्लिनाथ की बात का बीज नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त, श्लेष कालिदास की शैली के विरुद्ध है। यह भी सम्भव नहीं कि कोई व्यक्ति आदरसूचक बहुवचन में अपने शत्रु के नाम की ओर संकेत करे जैसा कि कालिदास के ग्रन्थ मे पाया जाता है (देखिये, दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्)। और यदि इस संकेत को सत्य मान भी लें, तो भी इसकी कालक्रम की दृष्टि से, इस वाद से मुठभेड़ नहीं होती। दिङ्नाग के गुरु वसुबन्धु का ग्रन्थ ४०४ ई० में चीनी भाषा में अनूदित हो चुका था और चन्द्रगुप्त द्वितीय ४१२ ई० तक जीवित रहा।

(झ) कालिदास ने माना है कि पृथिवी की छाया पड़ने के कारण चन्द्र-ग्रहण होता है। इसी बात को लेकर कहा जाता है कि कालिदास ने यह विचार आर्यभट्ट (४९९ ई०) से लिया था। चन्द्रमा के कलङ्क को छोड़कर, यह बात किसी अन्य बात की ओर सङ्केत करती है, इसमे सन्देह है और यदि कालिदास के चन्द्र ग्रहण सम्बन्धी उक्त विचार को यथार्थ भी मान लें तो भी कहा जा सकता है कि उसने यह विचार रोमक सिद्धान्त (४०० ई०) से लिया होगा।

(ञ) कालिदास ने ज्योतिष शास्त्र का 'जामित्र' शब्द प्रयुक्त किया है। यह शब्द यूनानी भाषा का प्रतीत होता है। प्रो० कीथ के मतानुसार यह शब्द कालिदास का जो काल सूचित करता है वह ३२० ई० से पहले नहीं पड़ सकता।

(ट) कहा गया है कि कालिदास की प्राकृत भाषाएँ अश्वघोष की प्राकृतों से पुरानी नहीं हैं, परन्तु यह भाषा-तुलना यथार्थ नहीं हो सकती, कारण कि अश्वघोष के ग्रन्थ मध्य एशिया में और कालिदास के भारत में उपलब्ध हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास का समय दो सीमाओं के अर्थात् ई० पू० प्रथम शताब्दी और ४०० ई० के मध्य पड़ता है। "जब तक ज्ञात-काल शिलालेखों के साथ तथा संस्कृत के प्राचीनतम अलंकार-ग्रन्थों में दिए नियमों के साथ मिलाकर उसके प्रत्येक ग्रन्थ की भाषा, शैली और साहित्यिक (आलंकारिक) परिभाषाओं का गहरा अनुसन्धान न हो जाए तब तक उसके काल के प्रश्न का निश्चित हल सम्भव नहीं है।"

(२२) कालिदास के विचार

कालिदास पूर्णता को प्राप्त ब्राह्मण (वैदिक) धर्म के सिद्धान्तों का सच्चा प्रतिनिधि है। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों और इनके शास्त्रोक्त-धर्मों का मानने वाला है।

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ्य और संन्यास इन चारों आश्रमो एवं इनके शास्त्र-विहित कर्तव्यों का पक्षपाती है। इस अनुमान का समर्थन रघुवंश की प्रारम्भिक पङ्क्तियों से ही हो जाता है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्याना यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

(बचपन में वे विद्याभ्यास करते थे युवावस्था में विषयोपभोग। बुढ़ापे में वे मुनियों जैसा जीवन व्यतीत करते थे और अन्त में योगद्वारा शरीर त्याग।)

---

१ मैक्डानल, संस्कृत साहित्य का इतिहास (इंग्लिश) पृष्ठ ३२५।

जीवन के चार फलों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—में उसका पूर्ण विश्वास है। काम और अर्थ की प्राप्ति मोक्षप्राप्ति के उद्देश्य से धर्म के अनुसार होनी चाहिये। यह सिद्धान्त उसने अपने नाना ग्रन्थों में भली भाँति व्यक्त किया है—जब तक दुष्यन्त को यह निश्चय नहीं हो जाता कि शकुन्तला क्षत्रिय-कन्या है अतएव राजा से ब्याही जाने के योग्य है तब तक वह उसके लिए इच्छा प्रकट नहीं करता। फिर, वह दरबार में शकुन्तला को ग्रहण करने से केवल इसलिये निषेध कर देता है कि वह उसकी परिणीत पत्नी नहीं है।

प्रेम के विषय में कालिदास का मत है कि तपस्या से प्रेम निखरता है। प्रेमियों की दीर्घ तपस्या से प्रेम उज्ज्वल होकर स्थायी बन जाता है। उसके रूपकों में शकुन्तला एवं अन्य नायिकाएँ घोर क्लेश सहन करने के बाद ही पतियों के साथ स्थिर पुनः संयोग प्राप्त कर सकी हैं। यही दशा दुष्यन्तादि नायकों की भी है। तप पारस्परिक और समान रूप से उग्र है। उसके काव्यों में भी यही बात पाई जाती है। इस प्रसङ्ग में कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में पार्वती के प्रति शिव की उक्ति सोलहों आने ठीक है।

अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि! तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिः........................।

शिव को आकृष्ट करने वाला पार्वती का अलौकिक सौन्दर्य नहीं, तप था।

ऐसा मालूम होता है कि कालिदास ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवों की पारमार्थिक एकता का मानने वाला है। कुमारसम्भव के दूसरे सर्ग में उसने ब्रह्मा की स्तुति की है, रघुवंश में विष्णु को परमेश्वर माना है और दूसरे ग्रन्थों में शिव को महादेव माना है। सच तो यह है कि वह

---

१ संस्कृत साहित्य के इतिहास में इंग्लिश (पृ० ९८) कीथ कहता है—कालिदास 'उन्हें दिलीप के पुत्रों में मूर्त देखता है'। कदाचित् दिलीप से कीथ का तात्पर्य दशरथ से है; क्योंकि दिलीप के तो केवल एक पुत्र—रघु था।

काश्मीर शैव सम्प्रदाय का अनुयायी था। 'विस्मरण' के बाद 'प्रत्यभिज्ञान' होता है। यह सिद्धान्त उसके रूपकों में, विशेषतः अभिज्ञान शाकुन्तल में सम्यक् उन्नीत हुआ है। जगत्-प्रकृति के बारे में सांख्य और योगदर्शन के सिद्धान्तों का मानने वाला है। यह बात रघुवंश से बहुत अच्छी तरह प्रतीत होती है। बुढ़ापे मे रघुवंशी जंगल में जाकर वर्षों तप करते हैं और अन्त में योगद्वारा[1] शरीर छोड़ देते हैं। वह पुनर्जन्म में, जो हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों में सब से मुख्य है, विश्वास रखता है। इस विश्वास को उसने खूब खोलकर दिखलाया है:—अगले जन्म में इन्दुमती से मिलने की आशा से अज अकाल मृत्यु का अभिनन्दन करता है, आगामी जीवन में अपने पति से पुनः संयोग प्राप्त करने के लिए रति काम के साथ चिता पर अपने आप को जलाने को उद्यत है, और सीता इसीलिए कठोर तप करती है कि भावी जीवन में वह राम से पुनः मिल सके।

(२३) कालिदास की शैली।

कालिदास वैदर्भी रीति का सर्वोत्तम आदर्श है। संस्कृत साहित्य का वह एक कण्ठ से सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। ऐहोल के शिलालेख (६३४ ई०) में उसका यश गाया गया है और बाण अपने हर्षचरित की भूमिका में उसकी स्तुति करता हुआ लिखता है:—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

वस्तुतः भारतीयों की सम्मति में कालिदास अपना सानी नहीं रखता:—

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठकाधिष्ठित कालिदासा।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

---

१ जीवन का अन्तिम लक्ष्य सर्वोपरि शक्ति के साथ ऐक्य स्थापित करना है; वह शक्ति ही ब्रह्म है जो जगत् की धारणी है। यह एकता भी योगाभ्यास से ही सम्भव है।

जर्मन महाकवि गेटे (Goethe) ने अभिज्ञान शाकुन्तल का, सर विलियम जोन्स कृत (१७८९ ई०), अनुवाद ही पढ़कर कहा था:—

'क्या तू उदीयमान वर्ष के पुष्प और क्षीयमाण वर्ष के फल देखना चाहता है? क्या तू वह सब देखना चाहता है जिससे आत्मा मन्त्रमुग्ध, मोद-मग्न, हर्षोप्लावित और परितृप्त हो जाती है? क्या तू द्युलोक और पृथ्वीलोक का एक नाम में अनुगत हो जाना पसन्द करेगा? अरे, [तब] मैं तेरे समक्ष शकुन्तला को प्रस्तुत करता हूँ और बस सब कुछ एक दम इस ही में आगया'।

उसके काव्य की प्रथम श्रेणी की विशेषता व्यञ्जकता है (मिलाइये, काव्यस्यात्मा ध्वनिः)। वह उस सुनहरी पद्धति पर चला है जो पुराणों की घोर प्रसाद-गुण-पूर्णता और अर्वाचीन कवियों की सीमा से बढ़कर कृत्रिमता के मध्य होकर गई है। कभी कभी हमें उसमें भास की सी प्रसाद-गुण-पूर्णता देखने को मिलती है, किन्तु उसमें भी एक अनोखापन और लालित्य है। कालिदास के अधोलिखित पद्य की तुलना भास के उस पद्य से की जा सकती है जो वल्लभदेवकृत सुभाषितावली में १३५३वें क्रमांक पर आया है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वा वद: किं न मे हृतम्॥

भास कहता है—

'भार्या मन्त्रिवरः सखा परिजनः सैका बहुत्वं गता।

कालिदास मे कथानक का विकास करने का असाधारण कौशल और चरित्र-चित्रण की अद्भुत शक्ति है। शेक्सपियर के समान उसके प्रत्येक पात्र में अपना स्वतः व्यक्तित्व है। उदाहरणार्थ, अभिज्ञान शाकुन्तल में तीन ऋषि आते हैं—कण्व, दुर्वासा और मारीच। केवल एक ही वाक्य दुर्वासा के क्रोधी स्वभाव का, या अन्य ऋषियों की भिन्न २ प्रकार की

प्रकृति का, चित्र खींच देता है। एवं शकुन्तला की दो सखियों अनसूया और प्रियम्वदा में से अनसूया गम्भीर प्रकृति और प्रियम्वदा विनोदप्रिय है। कण्व के दोनों शिष्यों में व्यक्तित्व के लक्षण विस्पष्ट हैं। कालिदास की भाषा भाव और पात्र के बिल्कुल अनुरूप हैं:—गृह-पुरोहित अपने वार्त्तालाप में दार्शनिक सूत्रों का प्रयोग करता है और स्त्रियाँ साधारण प्राकृत ही मे बोलती हैं।

कालिदास की अधिक प्रसिद्धि उपमाओं[1] के लिए हैं जो योग्य, मौलिक और मर्मस्पर्शिनी हैं। वे भिन्न २ शास्त्रों मे से संकलित हैं, यहाँ तक कि व्याकरण और अलंकार शास्त्र को भी नहीं छोड़ा गया है। न केवल सकेत मात्र ही, अपितु औपम्य पूर्णता को पहुँचाया गया है। वर्ड्स्वर्थ के समान उसका भी प्रकृति के साथ तादात्म्य है। उसका प्रकृति पर्यवेक्षण उत्कृष्ट कोटि का है; वह जड़ पर्वतो, पवनों और नदियों तक को अपनी बात सुना सकता है और उनकी सुन सकता है। उसके वृक्षों, पौधों, पशुओं एवं पक्षियों में भी मानव-हृदय के भाव—हर्ष, शोक, ध्यान और चिन्ता हैं। उसके इस विशिष्ट गुण का अतिक्रमण तो क्या; कोई तुलना भी नहीं कर सकता।

उपमा के अतिरिक्त उसने उत्प्रेक्षा, अर्थान्तर न्यास और यमकादि का भी प्रयोग पूर्ण सफलता से किया[2] है। रघुवंश के नवम सर्ग में उसने अनुप्रास के विभिन्न भेदों और नाना छन्दों के प्रयोग में पूर्ण कौशल दिखाया है। किन्तु वह श्लेष का रसिक नहीं था।

---

१ देखिये,

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥

२ उसके शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों के प्रयोग में बहुत सुन्दर सम-तुलन है। अर्थ की बलि देकर शब्द का चमत्कार उत्पन्न करने की ओर उसकी अभिरुचि नहीं है।

उसके ग्रन्थों ने अन्य कवियों के लिये आदर्श का काम किया है। मेघदूत के अनुकरणों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। हर्ष के दोनों नाटक मालविकाग्निमित्र के अनुकरण पर लिखे गए हैं। मालतीमाधव में भवभूति ने उसके उच्छ्वसन का आश्रय लिया है। दण्डनी का पद्य 'मलिनं हिमांशो र्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' कालिदास से ही उधार लिया प्रतीत होता है। वामन (८वीं शताब्दी) ने कालिदास के उदाहरण लिए हैं और आनन्दवर्धनाचार्य के समय से लेकर कालिदास के समय तक पठन-पाठन का पर्याप्त प्रचार रहा है और उसके ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी गई हैं।

कालिदास छन्दों के प्रयोग में बड़ा निपुण है। मेघदूत में उसने केवल मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग किया है। उसके अधिक प्रयुक्त छन्द इन्द्रवज्रा [कुमारसम्भव में सर्ग १, ३ और ७; रघुवंश में सर्ग २, ५, ७, १३, १४, १६ और १७;] और श्लोक [कुमारसम्भव में सर्ग २ और ६, रघुवंश में सर्ग १, ४, १०, १२, १५, और १९] हैं। कुमारसम्भव की अपेक्षा रघुवंश में नाना प्रकार के छन्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं।

(२४) अश्वघोष

अश्वघोष भी संस्कृत के बड़े बड़े कवियों में से एक है। यह महाकाव्य नाटक और गीति-काव्यों का निर्माता है। यह बौद्ध भिक्षु था। जनश्रुति के अनुसार यह कनिष्क का सम-सामयिक था।[1] तिब्बत, चीन और मध्य एशिया में फैलने वाले महायान सम्प्रदाय का प्रवर्तक नहीं तो यह बहुत बड़ा आचार्य अवश्य था। अश्वघोष के एक जीवन-चरित[2] के अनुसार यह

---

१ सयुक्तरत्नपिटक और धर्मपिटकनिदान, जिनका अनुवाद चीनी में ४७२ई० में हुआ, बताते हैं कि अश्वघोष कनिष्क का गुरु था। २ चीनी में इसका अनुवाद याओ-जिन (Yao-Tzine) (३८४-४१७ ई०) वंश के राज्यकाल में कुमारस्य (कुमारशील ?) ने किया उस अनुवाद से एम्० वैसिलीफ़ (M. Vassilief) ने सक्षिप्त जीवन तैयार किया, उसका अनुवाद मिस ई० लायल ने किया।

मध्य भारत[1] का निवासी था और पूज्य पार्श्व[2] का शिष्य था जिसने अपने उत्कृष्ट बुद्धि-वैभव के बल से इसे बौद्धधर्म में दीक्षित किया था। एक और जनश्रुति कहती है कि इसका भाषण इतना मधुर था कि घोड़े भी चरना छोड़कर इसका भाषण सुनने लग जाते थे।

(२५) अश्वघोष की नाट्य-कला

प्रो० लूडर्स को धन्यवाद है जिसके प्रयत्नों से हम जानते हैं कि अश्वघोष ने कुछ नाटक लिखे थे। मध्य एशिया में ताडपत्रवाली हस्तलिखित पुस्तकों के टुकड़ों में से जो तीन बौद्ध नाटक उपलब्ध हुए हैं उनमें शारिपुत्र प्रकरण (पूरानाम, शारद्वती पुत्र प्रकरण) भी है। यह नाटक निस्सन्देह अश्वघोष की कृति है; क्योंकि (१) ग्रन्थान्त में सुवर्णाक्षी के पुत्र अश्वघोष का नाम दिया है; (२) एक पद्य ज्यों का त्यों बुद्धचरित में से लिया गया है; और (३) लेखक ने अपने सूत्रालंकार में दो बार इस ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है। इस नाटक से पता लगता है कि किस प्रकार बुद्ध ने तरुण मौद्गल्यायन और शारिपुत्र को अपने धर्म का विश्वासी बनाया। कहानी बुद्धचरित में वर्णित कहानी से कुछ भिन्न है; क्योंकि ज्यों ही ये शिष्य बुद्ध के पास आए त्यों ही उसने सीधी इनसे अपनी भविष्यद्वाणी करदी। मृच्छकटिक और मालतीमाधव के समान यह नाटक भी 'प्रकरण' है। इसमें नौ अंक हैं। इस नाटक में नाट्यशास्त्र में वर्णित नाटक के नियमों का यथाशक्य पूर्ण पालन किया गया है। नायक शारिपुत्र धीरोदात्त है। बुद्ध और उसके शिष्य संस्कृत बोलते हैं। विदूषक और अन्य हीनपात्र प्राकृत बोलते हैं। जो ऐसे नायक के साथ भी अश्वघोष ने विदूषक रक्खा इससे अनुमान होता है कि उसके समय से पूर्व ही संस्कृत नाटक का वह स्वरूप निश्चित हो चुका था जो हमें बाद के साहित्य में देखने को मिलता

---

१ तिब्बती बुद्धचरित की समाप्ति की पंक्तियाँ कहती हैं कि अश्वघोष साकेत का निवासी था [इंडियन एंटिक्वेरियन सन् १९०३, पृ० ३५०]। २ पूर्णयश लिखित जीवनचरित के अनुसार यह पार्श्व के किसी अन्तेवासी का शिष्य था।

है भारतवाक्य में[1] 'अतः परम्' शब्दों का प्रयोग भी बड़े कौशल से किया गया है।

नाटकीय नियमों के अनुसार भिन्न-भिन्न पात्र अपने सामाजिक पद के अनुसार भिन्न २ भाषा बोलते हैं। इस नाटक में तीन प्रकार की प्राकृतें पाई जाती हैं। 'दुष्ट' की प्राकृत मागधी से, 'गोबम्' की अर्द्धमागधी से और विदूषक की उक्त दोनों के मिश्रण से मिलती जुलती हैं।

शेष दो बौद्ध नाटकों के रचयिता के विषय में हम ठीक-ठीक कुछ नहीं जान सकते, क्योंकि ये खण्डितरूप में ही मिलते हैं; किन्तु हम उन्हें किसी और कृतिकार की कृति मानने की अपेक्षा अश्वघोष की ही कृति मानने की ओर अधिक झुकेंगे। इनमें से एक रूपकाख्यान के रूप में है और कृष्णमिश्ररचित प्रबोधचन्द्रोदय से मिलता जुलता है जिसमें कुछ भाववाचक संज्ञाओं को व्यक्तिवाचक संज्ञाएं मानकर पात्रों की कल्पना की गई है और वे संस्कृत बोलते हैं।

(२६) अश्वघोष के महाकाव्य

[बुद्धचरित और सौन्दरानन्द]

संस्कृत साहित्य के पुष्पोद्यान में अश्वघोष एक परम लोचनासेचनक कुसुम है। इसके इस यश के विस्तारक इसके अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा

---

१ कुछ एक विद्वानों का कथन है कि इस नाटक में 'अत' परमपि प्रियमस्ति ?' वाला प्रश्न नहीं आया है और भरतवाक्य को नायक नहीं बोलता है। इस बात से लूडर्स ने यह परिणाम निकाला कि संस्कृत नाटक का अन्त्यांश अभी निर्माणावस्था में था। किन्तु यह हेतु वस्तुतः हेत्वाभास है। लूडर्स के ध्यान में यह बात नहीं आई, कवि भरतवाक्य में 'अत. परम्' शब्द रखकर नाटकीय नियमों का यथाशक्ति पूर्णपालन करने का यत्न कर रहा है। इसके अतिरिक्त, बाद की शताब्दियों में भी भरतवाक्य, नायक को छोड़, अन्य श्रद्धेय व्यक्तियों द्वारा भी बोला गया है। उदाहरणार्थ, भट्टनारायणकृत वेणीसंहार में इसका वक्ता कृष्ण और दिङ्नाग की कुन्दमाला में इसका वक्ता वाल्मीकि है।

इसके महाकाव्य—बुद्धचरित और सौन्दरानन्द ही अधिक हैं। बुद्धचरित की शारदालिपि में एक हस्तलिखित प्रति मिलती है जिसमें तेरह सर्ग पूर्ण और चौदहवें सर्ग के केवल चार पद्य हैं। इस ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में (४१४–४२१ ई० में) हो चुका है और इत्सिङ्ग इसे अश्वघोष[1] की रचना बतलाता है। केवल चीनी अनुवाद ही नहीं तिब्बती अनुवाद भी हमें बतलाता है कि असली बुद्धचरित में २८ सर्ग थे। कहानी बुद्ध-निर्वाण तक पूर्ण है।

इत्सिङ्ग के वर्णन से मालूम होता है कि ईसा की छठी और सातवीं शताब्दी में सारे भारतवर्ष में बुद्धचरित के पठन-पाठन का प्रचार था। १९वी शताब्दी में अमृतानन्द ने विद्यमान १३ सर्गों में ४ सर्ग और जोड़कर कहानी को बुद्ध के काशी में प्रथमोपदेश तक पहुँचा दिया।

बुद्धचरित अत्युत्तम महाकाव्य है। इसमें महाकाव्य के सब मुख्य मुख्य उपादानतत्त्व मौजूद हैं—इसमें प्रेम-कथा के दृश्य, नीतिशास्त्रसिद्धान्त और साङ्ग्रामिक घटनाओं का वर्णन भी है। कमनीय कामिनियों की केलियाँ, गृह-पुरोहित का सिद्धार्थ को उपदेश, सिद्धार्थ का मकर-ध्वज के साथ संग्राम, ये सब दृश्य बड़ी विशद और चित्राई शैली से अङ्कित किए हैं।

यद्यपि कवि बौद्ध था, तथापि काव्य पौराणिक तथा अन्य-हिन्दू-कथा-ग्रन्थीय परामर्शों से पूर्ण है। निदर्शनार्थ, इसमें पाठक इन्द्र, माया, सहस्राक्ष इन्द्र, पृथु, कक्षिवान्, वाल्मीकि, कौशिक, सगर, स्कन्द के नाम, मान्धाता, नहुष, पुरुरवा, शिव-पार्वती की कथाएँ और अतिथि-सत्कार की सनातनी रीति पाएँगे। उपनिषदो, भगवद्गीता, महाभारत और रामायण

---

१ इस बारे में एक कहानी है। कहा जाता है कि कनिष्क अश्वघोष को पाटलिपुत्र से ले गया था। उसे कनिष्क की आयोजित बौद्धों की परिषद् का उपप्रधान बनाया गया। फलत महाविभाषा की रचना हुई जो चीनी भाषा में अब तक विद्यमान है और जिसे बौद्ध-दर्शन का विश्वकोष कहा जाता है।

के उल्लेख भी देखने को मिलते हैं। इन बातों से विस्पष्ट है कि कवि ने ब्रह्मसम्बन्धि (वैदिक साहित्य का गहरा अध्ययन किया होगा।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बुद्धचरित में कालिदासीय महाकाव्यों की-सी अनेक बातें पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए; बुद्धचरित में (सर्ग ३, १३-१९) जब सिद्धार्थ का जुलूस पहली बार बाज़ार में निकलता है तब स्त्रियाँ उसे देखने के लिए अट्टालिकाओं मे इकट्ठी हो जाती हैं, रघुवंश (सर्ग ७, ५-१२) में भी रघु के नगर-प्रवेश के समय ऐसा ही वर्णन है। विचार और वर्णन दोनों दृष्टियो से बुद्धचरित का (सर्ग १३, ६) काम का सिद्धार्थ पर आक्रमण कुमारसम्भव के (सर्ग ३, ९) काम के शिव पर किए आक्रमण से मिलता है। ऐसे और भी अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं[1]। हम एक बात और देखते हैं। बुद्धचरितगत सोती हुई स्त्रियों का वर्णन रामायण गत ऐसे ही वर्णन से बहुत मिलता-जुलता है। सम्पूर्णकाव्य मे वैदर्भी रीति है अतः इसमे विशदता और प्राञ्जलता का होना स्वाभाविक है। कालिदास के ग्रन्थों के समास इसमे भी लम्बे-लम्बे समास नहीं हैं। भाषा सरल, सुन्दर, मधुर और प्रसाद गुण पूर्ण है।

सौन्दरानन्द में ऐतिहासिक महाकाव्य की पद्धति का अनुसरण करते हुए बुद्ध के सौतेले भाई नन्द और सुन्दरी की कथा दी गई है और बतलाया

१ सच तो यह है कि सभी विद्वानों ने कालिदास और अश्वघोष में बहुत अधिक समानता का होना स्वीकार किया है। किन्तु कौन पहले हुआ और कौन बाद में, इस बारे में बड़ा मतभेद है। धिष्ण्य (स्थान), निर्वाहण आदि शब्द एव कतिपय समास दोनों ने एक जैसे अर्थों में प्रयुक्त किए हैं। यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि दोनों में तीन शताब्दियों का तो नहीं, एक शताब्दी का अन्तर होगा। कालिदास के विपरीत, अश्वघोष की रचना में वैदिक शब्द नहीं पाए जाते। वह वैदिक-लौकिक-संस्कृत-सन्धि-काल के बाद हुआ। साथ ही ऐसा भी मालूम होता है कि कालिदास की अपेक्षा अश्वघोष अधिक कृत्रिमता-पूर्ण है। अश्वघोष की रचना में प्रायः ध्वनि-सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए अर्थ की बलि कर दी गई है।

गया है कि बुद्ध ने नन्द को, जो सुन्दरी के प्रेम में डूबा हुआ था, किस प्रकार अपने सम्प्रदाय का अनुगामी बनाया। इसके बीस के बीस सर्ग सुरक्षित चले आ रहे हैं। यह ग्रन्थ निस्सन्देह अश्वघोष की ही कृति है, कारण कि:—

(१) सौन्दरानन्द और बुद्धचरित में एक सम्बन्ध देखा जाता है। वे दोनों एक दूसरे की पूर्त्ति करते हैं। उदाहरण के लिए बुद्धचरित में कपिलवस्तु का वर्णन संक्षिप्त है और सौन्दरानन्द में विस्तृत। बुद्धचरित में बुद्ध के संन्यास का विस्तृत वर्णन है और सौन्दरानन्द में संक्षिप्त। बुद्धचरित में नन्द के बौद्ध होने का वर्णन संक्षिप्त किन्तु सौन्दरानन्द में विस्तृत है। ऐसे और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं।

(२) इन दोनों काव्यों में काव्यीय-सम्प्रदाय, रामायण, महाभारत, पुराण और भी हिन्दूसिद्धान्तों का उल्लेख एक जैसा पाया जाता है।

(३) इन दोनों काव्यो मे ऋष्यश्रृङ्ग आदि अनेक दृश्यों का वर्णन एक क्रम से हुआ है। सौन्दरानन्द में अपने से पहले किसी काव्य की ओर संकेत नहीं पाया जाता, इसी आधार पर प्रो० कीथ ने यह कल्पना कर डाली है कि सौन्दरानन्द अश्वघोष की प्रथम रचना है। परन्तु इसके विपक्ष का प्रमाण अधिक प्रबल है। सूत्रालङ्कार में बुद्धचरित के तो नाम का उल्लेख पाया जाता है, सौन्दरानन्द का नही। बुद्धचरित में महायान का एक भी सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता; किन्तु सौन्दरानन्द के अन्तिम भाग में कवि का महायान के सिद्धान्तों से परिचित होना ज्ञात होता है। सौन्दरानन्द में कवि दार्शनिक-वादो का वर्णन करता है और बड़े कौशल के साथ बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा देता है। शैली की परिष्कृति और विच्छित्ति की दृष्टि से सौन्दरानन्द बुद्धचरित से बहुत बढ़कर है। सौन्दरानन्द की कविता वस्तुतः अनवद्य तथा हृद्य है, और केवल पद्यात्मक वर्णन है।

---

१ कीथकृत 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' (इंग्लिश) पृष्ठ ५७।

सौन्दरानन्द का प्रकाशन प्रथम बार १९१० ई० में हुआ। इसके सम्पादक पं० हरप्रसाद शास्त्री थे जिन्होने नेपाल में प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इसका सम्पादन किया था। इस काव्य की तुलना टैनिसन के 'इन मैमोरियम' से की जा सकती है।

(२७) अश्वघोष के अन्य ग्रन्थ

कुछ और भी ग्रन्थ हैं जिन्हें अश्वघोष की कृति कहा जाता है। इनसे ज्ञात होता है कि कवि में वस्तुतः बहुमुखी प्रज्ञा थी।

(१) सूत्रालङ्कार—इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है और इसका पता हमें तिब्बती अनुवाद से लगता है। इसमे कवि ने बौद्धधर्म के प्रचारार्थ एक कहानी के घुमाने-फिराने में अपनी योग्यता का प्रदर्शन किया है।

(२) महायान श्रद्धोत्पाद—यह बौद्धों की प्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें महायान सम्प्रदाय के बाल्यकाल के सिद्धान्तों का निरूपण है। जनश्रुति के अनुसार यह सन्दर्भ अश्वघोष का लिखा हुआ है। यदि जनश्रुति ठीक है तो अश्वघोष एक बहुत बड़ा प्रकृति-विज्ञान-शास्त्री था।

(३) वज्रसूचि—ब्राह्मणों ने बौद्धधर्म का इस लिए भी विरोध किया था कि वे उच्चवर्णिक (ब्राह्मण) होकर अपने से हीन वर्णिक (क्षत्रिय) का उपदेश क्यों ग्रहण करे। इस ग्रन्थ में ब्राह्मणों के चातुर्वर्ण्य-सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

(४) गण्डि-स्तोत्र गाथा—अनल्प महत्त्व का यह एक गीति काव्य है। भिन्न-भिन्न छन्दों में इसमें अनेक सुन्दर पद (गीत) हैं जिनसे किसी भी कविता का गौरव बढ़ सकता है। इससे पता चलता है कि कवि संगीत का विशेषज्ञ और छन्दःशास्त्र का विद्वान् था। इस कविता का उद्देश्य बौद्धधर्म का प्रचार है।

(२८) अश्वघोष की शैली

अश्वघोष वैदर्भी रीति का बहुत सुन्दर कवि है। उसकी भाषा सुगम और शुद्ध, शैली परिष्कृत और विच्छित्तिशाली, तथा शब्दोपन्यास विशद और शोभायुक्त है। उसके ग्रन्थों का मुख्य लक्ष्य, जैसा कि सौन्दरानन्द की समापक पंक्तियों से प्रतीत होता है, आकर्षक वेष से भूषित करके अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना है जिससे लोग सत्य का अनुभव करके निर्वाण प्राप्त कर सकें। इसी लिए हम देखते हैं कि अश्वघोष दीर्घ समासों का रसिक नहीं है और न उसे बड़े डील-डौल वाले शब्दों अथवा बनावटीपन से भरे हुए अर्थों द्वारा पाठक पर प्रभाव डालने का शौक़ है। यहां तक कि दर्शनों के सूक्ष्म सिद्धान्त भी बड़ी सादी भाषा में व्यक्त किए गए हैं। एक उदाहरण देखिए:—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
(सौन्दरानन्द १६, २८-२९)

इतना ही नहीं कि यहाँ भाषा सुबोध है, बल्कि उपमा भी बिल्कुल घरेलू और दिल में उतर जाने वाली है। कुछ विद्वान् समझते हैं कि योग्य उपमाओं की दृष्टि से कहीं कहीं वह कालिदास से भी आगे बढ़ गया है। इसके समर्थन में निम्नलिखित उद्धरण दिया जाता है—

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः, शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥
(कु० सं० ५, ८५)

(मार्ग में आए पर्वत से क्षुब्ध नदी के समान पार्वती न चली न ठहरी)।

सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ, तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः।
(सौन्दरानन्द ४, ४२)

(तरंगों में तैरते हुए राजहंस के समान वह अनिश्चय के कारण न गया न ठहरा)।

दूसरे विद्वान् कहते हैं कि तरंगों में तैरते हुए हंस का निश्चल कहना सन्देहपूर्ण है अतः निस्सन्देह होकर यह भी नहीं कहा जा सकता कि अश्वघोष की उक्त उपमा कालिदास की उक्त उपमा से उत्कृष्ट है।

दिलीप का वर्णन करते हुए कालिदास कहता है—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।

(रघुवंश १, १२)

नन्द का वर्णन करता हुआ अश्वघोष भी कहता है—

दीर्घबाहुर्महावक्षाः सिंहांसो वृषभेक्षणः।

(सौन्द० २, ५८)

उक्ति में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी अश्वघोष की उपमा कालिदास की उपमा के समान हृदयग्राहिणी नहीं है। अश्वघोष ने आँखों की जो उपमा बैल की आँखों से दी है वह पाठक पर अधिक प्रभाव नहीं डाल सकती। "कालिदास ने यहाँ दिलीप की आँखों की ओर आँख उठाकर देखा ही नहीं, वह तो उसके एक कन्धे को सांड की ठाट के तुल्य देख रहा है। बेचारे अश्वघोष ने कुछ भेद रखना चाहा और अपना भगड़ा स्वयं फोड़ बैठा" (चट्टोपाध्याय)।

अश्वघोष आदर्श-अनुराग का चित्र सरल-शब्दों में खींच सकता है। देखिए—

तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः, सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः।
द्वन्द्वं ध्रुवं तद् विकलं न शोभेतान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ[१]॥

(सौन्द० ४, ७)

---

१ यदि नन्द उस सुन्दरी को न प्राप्त करे या वह विनम्र-भ्रूवती उसको प्राप्त न कर सके, तो भग्न उस जोड़े की कुछ शोभा नहीं, जैसे एक दूसरे के बिना रात्रि और चन्द्रमा की [कुछ शोभा नहीं]।

अश्वघोषकृत सुन्दरी के सौन्दर्य का वर्णन सरल और प्रभाव-शाली है—

स्वेनैव रूपेण विभूषिता हि विभूषणानामपि भूषणं सा[1] ॥

(शौन्द० ४, १२)

अश्वघोष अकृत्रिम और सुबोध यमकों का रसिक है। सुनिए—

प्रणष्टवत्सामिव वत्सलां गाम्[2]।

अथवा

उदारसंख्यैः सचिवैरसंख्यैः[3] ॥

अश्वघोष अच्छा वैयाकरण है और कभी कभी वह व्याकरण के अप्रसिद्ध प्रयोगो का भी प्रदर्शन करता है। निदर्शनार्थ; उसने उपमा के अवयव के तौर पर 'अस्ति'[4] का प्रयोग किया है। सौन्दरानन्द के दूसरे सर्ग में उसने लुङ् के प्रयोगों में पाण्डत्य दिखाते हुए 'मा' 'मि' और 'मी' तीनों धातुओं से कर्मणि प्रयोग मे सिद्ध होने वाले 'मीयते' पद का प्रयोग किया है। रामायण-महाभारत तथा बौद्ध लेखकों के प्रभाव से कहीं-कहीं व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग भी देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए देखिए, कृदन्त 'गृह्य' और 'विवर्धयितव्य,' किम् उत के स्थान पर किम् वत, चेद् के स्थान पर सचेद्। हाँ इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह छन्दो के प्रयोग में बड़ा सिद्ध हस्त है और उद्गाता जैसे कम प्रयोग में आने वाले छन्दों का भी प्रयोग सफलता से कर सकता है।

सूचना—अश्वघोष के कुछ पद्य भास के पद्यों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। देखिए—

---

१ वह अपने लावण्य से ही अलंकृत थी; क्योंकि अलंकारों की तो वह अलंकार थी। २ जिसका बछड़ा मर गया है, प्यार करने वाली, उस गाय के तुल्य। ३ उत्तम परामर्श देने वाले असंख्य मन्त्रियों के साथ। ४ सौन्दरानन्द १२, १०।

काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद्,
भूमिस्तोयं काम्यमाना ददाति।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां,
मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति॥
[भास]

और,

काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशनं,
भूमिं खनन् विन्दति चापि तोयम्।
निबन्धिनः किञ्चिन्नास्त्यसाध्यं,
न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम्॥
[अश्वघोष]

ऐसे भी स्थल हैं जिन में मालूम होता है कि अश्वघोष का अनुकरण हर्ष ने नैषध में किया है। देखिए—

रामामुखेन्दूनभिभूतपद्मान्, मन्त्रापयातोऽप्यवमान्य भानुः।
सन्तापयोगादिव वारि वेष्टुं, पश्चात् समुद्राभिमुखं प्रतस्थे॥
[अश्वघोष]

और,

निजांशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिर्मुधा विधुर्वाञ्छति लाञ्छनोन्मृजाम्।
त्वदास्यतां यास्यति तावतापि किं वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः॥
[नैषधीय]

अध्याय ४

काव्य

संस्कृत साहित्य में अनेक बड़े प्रतिभाशाली महा-काव्य-रचयिता कवि हो चुके हैं जिनमें अमर, अचल और अभिनन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। ये कवि सम्भवतया कालिदास की श्रेणी में रक्खे जा सकते थे, किन्तु अब हमें सूक्ति-संग्रहों में इनके केवल नाम[1] ही उपलब्ध होते हैं। प्रकृति की संहारिणी शक्तियों ने इनके ग्रन्थों का संहार कर दिया है। इनके अतिरिक्त घटिया दर्जे के और भी कवि हुए हैं जिनका साहित्य में बार बार उल्लेख पाया जाता है; परन्तु दुर्भाग्य है कि इनके ग्रन्थ हम तक नहीं पहुँच पाए हैं। अतः इस अध्याय में केवल उन कवियों की चर्चा की जायगी जिनके ग्रन्थ प्राप्य हैं।

सुप्रसिद्ध रामायण और महाभारत से पृथक् राज-सभा-काव्यों या [संक्षेप में] काव्यों की एक स्वतन्त्र श्रेणी है। इस श्रेणी के ग्रन्थों में प्रतिपाद्यार्थ की अपेक्षा रीति, अलङ्कार, वर्णन इत्यादि बाह्य रूप-रङ्ग के सँवारने में अधिक परिश्रम किया गया है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों काव्य में कृत्रिमता की वृद्धि होती गई। इस काव्य के दो प्रकार

---

१ कविरमरः कविरचल. कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च।
अन्ये कवयः कपयश्चापलमात्र परं दधति ॥

हैं—महाकाव्य[1] और काव्य। पहले हम महाकाव्य के शेष कवियों की चर्चा करेंगे और तत्पश्चात् काव्य के लेखकों को लेंगे।

(२९) भारवि (लगभग ५५० ई.)

काव्य-जगत् में भारवि का बड़ा उच्च स्थान है। कालिदास के काव्यों के समान इसका किरातार्जुनीय भी महाकाव्यों में परिगणित होता है। इसके काव्य की प्रभा की तुलना सूर्य[2] की प्रभा से की जाती है। कालिदास के समान इसके भी जीवन का वृत्तान्त अन्धकार के गर्भ में छिपा पड़ा है।

भारवि का समय।

भारवि के समय के बारे में अधोलिखित बाह्य साक्ष्य उपलब्ध होता है—

(१) ऐहोल के शिला-लेख में (६३४ ई) कालिदास के साथ इसका भी उल्लेख यशस्वी कवि के रूप में किया गया है।

(२) काशिकावृत्ति में इसकी रचना में से उदाहरण दिया गया है।

---

१ दण्डी ने अपने काव्यादर्श १, १४—२० में महाकाव्य का जो लक्षण दिया है उसके अनुसार महाकाव्य का प्रारम्भ आशी', नमस्क्रिया अथवा कथावस्तु-निर्देश से होना चाहिए। विषय किसी जनश्रुति से लिया गया हो अथवा वास्तविक हो। उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से कोई एक हो। नायक धीरोदात्त होना चाहिए। इसमें सूर्योदय, चन्द्रोदय, ऋतु, पर्वत, समुद्र, नगर इत्यादि भौतिक पदार्थों, अनुरागियों के वियोग अथवा संयोग, पुत्रजन्म, युद्ध, नायक-विजय इत्यादि का ललित वर्णन होना चाहिए। यह संक्षिप्त न हो। इसमें रसों और भावों का पूर्ण समावेश हो। सर्ग बहुत बड़े-बड़े न हों। छन्द आकर्षक हों और सर्ग की समाप्ति पर नए शब्द का प्रयोग हो। एक सर्ग की कथा से दूसरे सर्ग की कथा नैसर्गिक रूप में मिलती हो।

२ प्रकाशं सर्वतो दिव्यं विदधाना सतां मुदे।
प्रबोधनपरा हृद्या भा रवेरिव भारवेः॥

(३) ऐसा प्रतीत होता कि इस पर कालिदास का प्रभाव पड़ा है और इसने माघ के ऊपर अपना प्रभाव डाला है।

(४) बाण ने अपने हर्षचरित की भूमिका में इसका कोई उल्लेख नहीं किया। सम्भवतः बाण के समय तक भारवि इतना प्रख्यात नहीं हो पाया था। अतः हम इसका काल ५५० ई० के आस-पास रखेगे।

किरातार्जुनीय—इस ग्रन्थ का विषय महाभारत के वन-पर्व से लिया गया है। काव्य के प्रारम्भिक श्लोकों से ही पता लग जाता है कि कृती कलाकार के समान भारवि ने अपने उपजीव्य अर्थ को कितना परिष्कृत कर दिया है। महाभारत में पाण्डव-बन्धु वनवासकी अवस्था में रहते हुए मन्त्रणा करते हैं, किन्तु भारवि इस मन्त्रणा को गुप्तचर से प्रारम्भ करते हैं जिसे युधिष्ठिर ने दुर्योधन के कार्यों का पता लगाने के लिए नियुक्त किया था। जब द्रौपदी को मालूम हुआ कि दुर्योधन सत्कार्यों के द्वारा प्रजा का अनुराग-भाजन बनता जा रहा है, तब उसने तत्काल युद्ध छेड़ देने की प्रेरणा की (सर्ग १)। भीम द्रौपदी के कथन का शक्त शब्दों में समर्थन करता है, किन्तु युधिष्ठिर अपने वचन को तोड़ने के लिए तैयार नहीं है (सर्ग २) युधिष्ठिर व्यास से परामर्श देने की प्रार्थना करता है। व्यास ने परामर्श दिया कि अर्जुन को हिमालय पर जाकर कठिन तपस्या द्वारा दिव्य साहाय्य प्राप्त करना चाहिए। अर्जुन को पर्वत पर ले जाने के लिए इतने में वहाँ एक यक्ष आ जाता है (सर्ग ३)। चौथे से ग्यारहवें तक आठ सर्गों में कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रस्फुटित होती है। इन सर्गों मे शिशिर, हिमालय, स्नान-क्रीडा, सन्ध्या, सूर्यास्तगमन, चन्द्रोदय इत्यादि प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण बड़े ही रमणीय रङ्गों में किया गया है। इसके बाद इसमें अर्जुन का स्कन्द के सेनापतित्व में आई हुई शिव की सेना के साथ (सर्ग १५) और अन्त में किरात (प्रच्छन्न शिव) के साथ युद्ध वर्णित है। युद्ध में शिव अर्जुन से प्रसन्न होकर उसे दिव्य अस्त्र प्रदान करते हैं जिन की अर्जुन को उत्कट अभिलाषा थी।

आलोचना—जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, कवि ने अपनी बुद्धि पर ताला लगाकर महाभारत की कथा का अनुसरण नहीं किया, किन्तु उसमें अपनी ओर से कुछ नवीनताएँ पैदा कर दी हैं। उदाहरण के लिए स्कन्द के सेनापतित्व मे शिव की सेना का अर्जुन के साथ युद्ध लीजिए, जिसमें दोनों ओर से दिव्य शस्त्रों[1] का प्रयोग हुआ है। युद्ध के वर्णन को लम्बा कर देने से अप्सराओं की गन्धर्वों के साथ प्रणय-केली और अर्जुन का व्रत-भङ्ग करने की व्यर्थ कोशिश जैसे कुछ विचारों की कहीं-कहीं पुनरुक्ति हो गई है।

शैली—पुरानी परम्परा के अनुसार भारवि में अर्थ-गौरव[2] का विशेष गुण पाया जाता है। इसकी वर्णन-योग्यता भारी और वचनोपन्यास-शक्ति श्लाघनीय है।

(२) इसकी शैली मे शान्ति-पूर्ण गर्व है जो एक दम पाठक के मन में गड़ जाता है। इसका यह प्रभावशाली गुण प्रथम सर्ग में ही देखने को मिल जाता है।

(३) प्रकृति और युवति के सौन्दर्य को सूक्ष्मता से देखने वाली इसकी दृष्टि बड़ी विलक्षण है। शिशिर ऋतु का वर्णन सुनिए—

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः[3] ॥

---

१ इस प्रकार के पौराणिक अंश का समावेश सम्भवतया वाल्मीकि की देखा-देखी होगा।

२ देखिए, उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

३ इसके बाद काम का अद्वितीय मित्र, वसन्त के आगमन का सूचक, हेमन्त का अन्तकारी, आम की अल्प मञ्जरी के कारण रमणीय, स्वल्प कोहरेवाला सिन्दुवार (सिभालु) के खिले हुए थोड़े से फूलों वाला शिशिर ऋतु का समय आगया।

(४) भारवि की कुछ पंक्तियाँ इतनी हृदयस्पर्शिणी हैं कि वे लोकोक्तियाँ न गई हैं। उदाहरणार्थ—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥
या, न हि प्रियं, प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥

(५) इसकी उत्प्रेक्षाएं बड़ी सुस्थिर और व्यापक हैं।

(६) संस्कृत के महाकाव्य-साहित्य में यह विशेषता देखी जाती है, कि ज्यों ज्यों इसकी आयु बढ़ती गई त्यों त्यों यह अधिक बनाव-सिंगार से पूर्ण होता गया। भारवि भी शैली-सम्बन्धिनी कृत्रिमता से मुक्त नहीं रह सका। इस कृत्रिमता की संस्कृत के अलङ्कार शास्त्री चाहे जितनी प्रशंसा करें परन्तु यह कविता के आधुनिक प्रमाणों (Standards) के अनुरूप नहीं है। शायद इसका कारण यह है कि इस कृत्रिमता की ख़ातिर खींच-तान करनी पड़ती है और इस तरह स्वभाविक प्रवाह का विघात हो जाता है। पन्द्रहवें सर्ग में भारवि ने शब्दालङ्कारों के निर्माण मे कमाल किया है। एक पद्य के चारों चरण एकही चरण की आवृत्ति से बनाए गए हैं। एक ऐसा पद्य है जिसके तीन अर्थ निकलते हैं। एक पद्य ऐसा है जिसे बाईं ओर से दाहिनी ओर को पढ़ो चाहे दाहिनी ओर से बाईं ओर को पढ़ो एक जैसा पढ़ा जाएगा। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पद्य का निर्माण केवल 'न' से किया गया है, 'त्' एक बार केवल अन्त में आया है—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेनानुन्ननुन्ननुत् ॥

(७) भारवि की शैली मे लम्बे लम्बे समास नहीं हैं। सारे को मिला जुलाकर देखा जाए तो इसकी शैली में क्लिष्टता का दोष नहीं है।

(८) भारवि निपुण वैयाकरण था। पाणिनि के अप्रसिद्ध नियमो के उदाहरण देने में यह अपने पूर्वगामी कालिदास और पश्चिमगामी माघ दोनों से बढ़कर है। उदाहरणार्थ इसके भूत-कालवाची नियमित प्रयोगों को

लीजिए। इसने लुङ् का प्रयोग निकट भूत कालीन घटनाओं के लिए और लङ् का वक्ता के अपने अनुभव से सम्बन्ध रखने वाली चिरभूत कालीन घटनाओं के लिए किया है। इस प्रकार परोक्ष भूतकाल कथा-वर्णन करने का भूतकाल रह गया। इसने इस तरह सब मिलाकर लुङ् का प्रयोग केवल दस स्थलों पर किया है। माघ ने इसका प्रयोग दो सौ बहत्तर स्थलों पर किया है।

(९) छन्द का प्रयोग करने में तो यह पूर्ण सिद्ध है। कभी-कभी इसने कठिन और अप्रयुक्त छन्द का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, १२वें सर्ग में अकेला उद्गाता छन्द है। इस बात को छोडकर देखें तो यह छन्दों के प्रयोग में बहुत ही विशुद्ध है और इसने छन्दो के विविध प्रकारों का प्रयोग पर्याप्त संख्या मे किया है। अकेले पाँचवें सर्ग में सोलह प्रकार के छन्द आए हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो प्रसिद्ध नाटककार भवभूति का प्रिय छन्द है भारवि ने उस शिखरिणी छन्द का प्रयोग बहुत ही कम किया है।

(३०) भट्टि (लगभग ६०० ई०)

भट्टि भी महाकाव्य रचयिता एक प्रसिद्ध कवि है। एसके काव्य का नाम 'रावणवध' है जिस को साधारणतया भट्टिकाव्य कहते हैं। यह राम की कथा भी कहता है और व्याकरण के नियमों के उदाहरण भी उपस्थित करता है। इस प्रकार इससे 'एक पन्थ दो काज' सिद्ध होते हैं।' भारतीय लेखक भट्टिकाव्य को महाकाव्य मानते हैं। इस काव्य में २१ सर्ग हैं जो चार भागों में विभक्त हुए हैं। प्रथम भाग में (सर्ग १—४) फुटकर नियमों के उदाहरण हैं। द्वितीयभाग में (सर्ग ५—९) मुख्य-मुख्य नियमों के उदाहरण हैं और तृतीय भाग में (सर्ग १०—१२) कुछ अलङ्कारों के उदाहरण हैं। तेरहवें सर्ग में ऐसे श्लोक हैं जिन्हें संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के कह सकते है। चतुर्थ भाग में (सर्ग १४-२२) 'कालों' और 'प्रकारों' (tenses & moods) के प्रयोगों का निरूपण है।

शैली—भट्टि की शैली प्राञ्जल और सरल है परन्तु इसमें ओज और आभा का अभाव है। इसकी रचना में न कालिदास की-सी विशिष्ट उपमाएँ और न भारवि की सी वचनोपन्यास शक्ति है। इसकी शैली आश्चर्य-जनक रूप से दीर्घ समासों और विचारों की जटिलता से बिल्कुल मुक्त है। इसकी शैली में दूसरों की अपेक्षा जो अधिक प्रसादपूर्णता है उसका कारण इसका छोटे-छोटे छन्दों पर अनुराग है। इसके कुछ श्लोक[1] तो वस्तुतः बहुत ही बढ़िया हैं और कालिदास के पद्यों की श्रेणी मे रक्खे जा सकते हैं।

समय—(क) स्वयं भट्टि से हमें इस बात का पता लगता है कि उसने वलभी के राजा श्रीधर सेन के आश्रय में रहकर अपना ग्रंथ लिखा। किन्तु इस नाम के चार राजा हुए हैं। उनमें से अंतिम राजा लगभग ६४१ ई० में मरा। अतः भट्टि को हम ६०० ई० के आस-पास रख सकते हैं। सम्बन्ध में निम्नलिखित बाह्य साक्ष्य भी कुछ उपयोग का हो सकता है।

(ख) सम्भवतया भामह को भट्टि का पता था, क्योंकि भामह ने लगभग पूर्णतया मिलते जुलते शब्दों में भट्टि का निम्नलिखित श्लोक अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

व्याख्यागम्यमिदं काव्यं उत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत् प्रियतया मया॥

(ग) दण्डि और भामह के अलङ्कारों से मिलाकर देखने पर भट्टि के अलङ्कार बहुत कुछ मौलिक प्रतीत होते हैं।

(घ) माघ ने भट्टि का अनुकरण किया है—विशेष करके व्याकरण में अपनी योग्यता दिखाने का महाप्रयत्न करने में।

भट्टि कौन था? हमारे ज्ञान की जहाँ तक पहुँच है उसके अनुसार यह बताना सम्भव नहीं कि कौन से कवि का नाम भट्टि था। कोई कोई

१ निम्नलिखित पद्य को विक्रमोर्वशीय २, १६ से मिलाइये,

रामोऽपि दाराहरणेन तप्तो, वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः।
तप्तेन तप्तस्य यथायसो नः, सन्धिः, परेणास्तु विमुञ्च सीताम्॥

कहते हैं कि वत्सभट्टि और भट्टि दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं। किन्तु यह कोरी कल्पना मालूम होती है क्योंकि वत्सभट्टि ने व्याकरण की कई अशुद्धियाँ की हैं। किसी किसी का कहना है कि भट्टि शब्द भर्तृ का प्राकृ रूप है अतः भर्तृहरि ही भट्टि है; किन्तु यह सिद्धान्त भी माननीय नह हो सकता। अधिक सम्भावना यही है कि भट्टि कोई इन सब से पृथ ही व्यक्ति है।

(३१) माघ (६५०–७०० ई०)

महाकाव्यो के इतिहास में माघ का स्थान बडा उच्च है। कालिदास अश्वघोष, भारवि और भट्टि के ग्रन्थों के समान माघ का ग्रन्थ 'शिशुपालवध' (जिसे 'माघ काव्य' भी कहते हैं) महाकाव्य गिना जाता है। कई बातों में वह अपने पुरस्सर भारवि[1] से भी बढ़ जाता है।

शिशुपाल वध में २० सर्ग हैं। इसमें युधिष्ठिर का राजसूययज्ञसमाप्त होने पर कृष्ण के हाथों शिशुपाल के मारे जाने का वर्णन है। महाभारत में यह कहानी बहुत ही सादी है किन्तु माघ ने इसमें अनेक सुन्दर सुधार कर दिये हैं। महाभारत मे यज्ञ का वर्णन केवल एक पंक्ति मे समाप्त कर दिया गया है। माघ में इसका चित्र उतारा गया है। महाभारतगत पक्ष-विपक्ष की वक्तृताओ को संक्षिप्त कर दिया गया है। युद्ध की प्रारम्भिक

---

१ भारतीय सम्मति देखिये।

तावद् भा भारवेर्भातियावन्माघस्य नोदयः।
उदिते तु माघे भारवे र्भा रवेरिव॥
उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥
माघो माघ इवाशेष क्षमः कम्पयितु जगत्।
श्लेषामोदभरं चापि सम्भावयितुमीश्वरः॥

यह जानना चाहिये कि माघ की जो महती प्रशंसा की गई है वह निराधार नहीं है।

कार्यवाहियाँ प्रतिपक्षियों द्वारा नहीं दूतों द्वारा पूर्ण कराई गई हैं। प्रतिपक्षियों के युद्ध से पूर्व उनकी सेनाओं का युद्ध दिखलाया गया है। महाभारत की कथा कठिनता से ही किसी महाकाव्य का विषय बनने के योग्य थी, किन्तु कवि की वर्णन करने की शक्ति ने असली कथा की त्रुटियों को पूर्ण कर दिया है। भारवि ने अपने काव्य में शिव की, और माघ ने अपने काव्य में विष्णु की स्तुति की है।

शैली—(१) माघ भाव प्रकाशन की सम्पदा से परिपूर्ण और कल्पना की महति शक्ति का स्वामी है।

(२) माघ काम सूत्र का बड़ा पण्डित था। उसके शृङ्गार रस के श्लोक बहुधा माधुर्य और सौंदर्य से परिपूर्ण हैं। किन्तु कभी-कभी वर्णन इतने विस्तृत हो गए हैं कि वे पाश्चात्यों को मन उकता देने वाले मालूम होते हैं।

(३) माघ अलंकारो का बड़ा शौकीन है। इसके अलंकार बहुधा सुन्दर हैं, और पाठक के मन पर अपना प्रभाव डालते हैं। इसके अनुप्रास सुन्दर और विशद हैं। श्लेष की ओर भी इसकी पर्याप्त-अभिरुचि देखी जाती है। उदाहरण देखिये—

अभिधाय तदा तदप्रियं शिशुपालोऽनुशयं परं गतः।
भवतोऽभिमना समीहते सरुषः कर्तुमुपेत्य माननाम्[१] ॥

(४) सम्पूर्ण पर दृष्टि डालने के बाद हम कह सकते हैं कि इसकी शैली प्रयासपूर्ण है और शब्द तथा अर्थ की शोभा में यह भट्टि और कुमारदास की तुलना करता है।

(५) कई बातों में इसकी तुलना भारवि से की जा सकती है:—

---

१ तब अप्रिय वचन कहकर शिशुपाल अत्यन्त कुपित हो गया। वह निर्भय होकर आपके सामने आना चाहता है। और आपको मारना चाहता है।

'नागानन्द' का परिचय था। किसी किसी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सुबन्धु ने माघ के ग्रन्थ से लाभ उठाया है। परन्तु यह प्रयत्न न तो बुद्धिमत्ता से पूर्ण है और न विश्वासोत्पादक।

(३२) रत्नाकर कृत हरविजय (८५० ई० के लगभग)

यह ५० सर्गों का एक विपुल-काय महाकाव्य है। इसे ८५० ई० के आस-पास रत्नाकर[1] ने लिखा था। इसमें अन्धक के ऊपर प्राप्त की हुई शिव की विजय का वर्णन है। काव्य में आनुपातिक सम्बन्ध का अभाव है। यह सर्वप्रिय भी नहीं है। कवि पर माघ का समधिक प्रभाव सुव्यक्त है। क्षेमेन्द्र कवि की वसन्ततिलका के निर्माण में कृती होने का समर्थन करता है।

(३३) श्रीहर्ष (११५०–१२०० ई०)

महाकाव्य की परम्परा में अन्तिम महाकाव्य नैषधीय-चरित या नैषधीय है जिसे कन्नौज के महाराज जयचन्द्र के आश्रय में रहने वाले श्रीहर्ष ने[2] १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखा था। इस काव्य में २२ सर्ग[3] हैं और दमयन्ती के साथ नल के विवाह तक की कथा वर्णित है। उसके अन्तिम सर्ग में सहसा दमयन्ती की प्रणय-कल्पनाएँ दी गई हैं। यद्यपि कवि एक नैयायिक था, तथापि उसने विवाह के विषय का वर्णन करने में काम-शास्त्र को कविता का रूप दे दिया है। कवि में वर्णन करने की अद्भुत योग्यता है। उसने एक साधारण कथा को एक महाकाव्य का

---

१ इसकी शैली राजानक और वागीश्वर की शैलियों से मिलती है। २ इस ने और भी कई ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें से (खण्डनखण्डखाद्य) अधिक प्रसिद्ध है जिसमें इसने वेदान्त की उपपत्तिमत्ता सिद्ध की है। ३ कहा जाता है कि असली ग्रन्थ में ६० या १२० सर्ग थे और आशा की जाती है कि शेष सर्गों की हस्तलिखित प्रति भी शायद कभी मिल जाए (कृष्णाचार्यकृत संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४५), किन्तु यह सन्दिग्ध ही प्रतीत होता है कि कवि ने २२ सर्गों से अधिक लिखा हो।

वर्णनीय विषय का रूप दे दिया है। भारतीय आलङ्कारिकों ने श्रीहर्ष को महाकवि कहकर सम्मानित किया है और कवि इस सम्मान का अधिकारी भी है। एक जनश्रुति है कि श्रीहर्ष मम्मट का भानजा था। श्रीहर्ष ने अपनी रचना (नैषध) को अभिमानपूर्ण हृदय के साथ मम्मट को दिखलाया। मम्मट ने खेदानुभव के साथ कहा कि यदि यह ग्रन्थ मुझे अपने (काव्य प्रकाश के) दोषाध्याय के लिखने से पहले देखने को मिलता तो मुझे दूसरे ग्रन्थों में से दोषों के उदाहरण ढूँढने का इतना प्रयास करना न पडता। किन्तु इस जनश्रुति में सत्यता का बहुत थोड़ा अंश प्रतीत होता है।

श्रीहर्ष में श्लिष्ट रचना करने की भारी योग्यता है। यह भाषा के प्रयोग में सिद्धहस्त और सुन्दर-मधुर भाव-प्रकाशन में निपुण है। इसकी अनुप्रास की ओर अभिरुचि बहुत अधिक है। कभी कभी यह अन्त्यानुप्रास की भी छटा बाँध देता है। इसने सब उन्नीस प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है जिन में से उपजाति और वंशस्थ अधिक आए हैं।

सूचना—हरविजय को छोडकर उपर्युक्त सब महाकाव्यों पर सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने टीकाएँ लिखी हैं।

(३४) काव्य-निर्माता

(१) वत्सभट्टि (४७२-४७३ ई०)—यह कोई बड़ा प्रसिद्ध कवि नहीं है। इसने वि० सम्वत् ५२९ में मन्दसोर में स्थित सूर्य-मन्दिर की प्रशस्ति लिखी थी। इसमे गौडी रीति में लिखे हुए कुल ४४ पद्य हैं। इस प्रकार इसमे लम्बे लम्बे समास हैं, कभी कभी सारी की सारी पंक्ति में एक ही समास चला गया है। कवि ने पद पद मे यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि यह काव्य के नियमों को भली भाँति जानता है। इसने इस प्रशस्ति में दशपुर नगर का और वसन्त तथा शरद् का वर्णन दिया है। कुल छन्दो की संख्या बारह है और सब से अधिक प्रयुक्त वसन्ततिलका है। प्रायः एक ही बात तीन पद्यों में जाकर समाप्त हुई है किन्तु काव्य श्रेष्ठ पद्धति मे

कोई अन्तर नहीं पड़ा। कभी कभी इसकी रचना में, शब्द में, अर्थ की प्रतिध्वनि पाई जाती हैं; उदाहरण के लिए, ५, २६ के पहले तीन चरणों में, जिनमें राजा के सद्गुणों का वर्णन है, मृदु और मधुर ध्वनि से युक्त शब्द हैं, परन्तु चौथे चरण में, जिसमें उसके भीषण वीर्य का वर्णन है, कठोर-श्रुति-युक्त शब्द हैं [द्विड्दसपत्नत्रयणैकदत्तः]। ११वें और १२वें पद्य में इसने कालिदास के मेघदूत और ऋतुसंहार का अनुकरण किया है।

(२) सेतुबन्ध—यह काव्य महाराष्ट्री में है। कई विद्वानों की धारणा है कि इसे कवि ने कश्मीर के राजा प्रवरसेन द्वारा वितस्ता (जेहलम) पर बनवाए हुए पुल की स्मृति को स्थायी बनाने के लिए लिखा था। यह कालिदास की कृति कही जाती है। दण्डी और बाण ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। किन्तु दीर्घ समास तथा कृत्रिमतापूर्ण शैली को देखकर विश्वास नहीं होता कि यह कालिदास की रचना है।

(३) कुमारदास का जानकीहरण (७वीं शताब्दी)

(क) जानकीहरणकाव्य का पता इसके शब्द-प्रतिशब्द सिंहाली अनुवाद से लगा था। इसी के आधार पर पहले इसका प्रकाशन भी हुआ, किन्तु अब दक्षिण भारत में इसकी हस्त-लिखित प्रति भी मिल गई है।

(ख) कहा जाता है कि इसका लेखक लंका का कोई राजा (५१७-२६) में था और कालिदास की मृत्यु में उसका हाथ था। किन्तु ये बातें माननीय नहीं प्रतीत होतीं।

(ग) असली काव्य के २५ सर्ग हैं। इसकी कथा वही है जो रघुवंश की है। ग्रन्थ को देखने से मालूम होता है कि कवि में वर्णन करने की भारी योग्यता है। यही कारण है कि इसमें जो वर्णनात्मक चित्र देखने को मिलते हैं उनमें से कुछेक ये हैं—दशरथ, उसकी पत्नियों और अयोध्या का चित्र (सर्ग १), जलक्रीड़ा, वसन्त, सूर्यास्त, रात्रि और प्रभात का (सर्ग ३), सूर्यास्त का और रात्रि का (सर्ग ८), वर्षा ऋतु का (सर्ग ११) और पतझड़ का (सर्ग १२)।

(घ) कालिदास का प्रभाव—क्या विषय के निर्वाचन और क्या शैली के निर्धारण दोनों ही में लेखक पर कालिदास का प्रभाव परिलक्षित होता है। यह मानना पड़ता है कि यह कवि कालिदास का बड़ा भक्त था और इसने विषय के साधारण प्रतिपादन[1] एवं रीति दोनों बातों में उसका यथेष्ट अनुकरण किया। इसका 'स्वामिसम्मदफलं हि मण्डनं' वाक्य कालिदास के 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' (कु० सं० ५, १) वाक्य से बिल्कुल मिलता है। जानकी हरण के सर्ग ८ में वर्णित विवाहित जीवन के आनन्द का चित्र कुमारसंभव के सर्ग ८वें में वर्णित ऐसे ही चित्र से मिलाकर देखना चाहिए।

(ङ) शैली—(१) इसने वैदर्भी रीति का अवलम्बन लिया है। अनुप्रास पर इसका विशेष स्नेह है किन्तु यह कृत्रिमता की सीमा को नहीं पहुँचा है।

(२) इस कवि की विशेषता सौन्दर्य में है। प्रो. ए. बी. कीथ[2] का कथन है कि इसकी रचना में सुन्दर सुन्दर अलंकारों की प्रचुरता है जो मधुर वचनोपन्यास के द्वारा अभिव्यक्त किए गए हैं। साथ ही इसकी रचना में ध्वनि (स्वनन) और छन्द का वह चमत्कार है जो संस्कृत को छोड़ कर किसी अन्य भाषा में उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।

(३) यह सुन्दर चित्र तथा रमणीय परिस्थितियाँ चित्रित करने की शक्ति रखता है:—

पश्यन् हतो मन्मथबाणपातैः, शक्तो विधातुं न निमीलचक्षुः।
उरू विधात्रा हि कृतौ कथ तावित्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः[3] ॥

---

१ रघुवश, सर्ग १२ को जानकीहरण के तत्तुल्य अंश-अंश से मिलाकर देखिये। २ संस्कृत साहित्य का इतिहास (इग्लिश) (१९२८), पृष्ठ १२१। ३ ब्रह्मा ने उन जंघाओं को कैसे बनाया होगा? यदि उसने उनपर निगाह डाली होगी तो वह काम के वाणों से बिद्ध हो जाना चाहिये और यदि उसने आँख मींचली होगी तो वह बना नहीं सकता था। इस प्रकार प्रतिभाशाली पुरुष भी उस (स्त्री) के विषय में विचार करता हुआ सशय मग्न था।

निम्नलिखित पद्य में किशोर राम का एक सुन्दर चित्र उतारा गया है:—

न स राम इह क्व यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः।
निजहस्तपुटावृताननो, विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः[1] ॥

(४) यह व्याकरण का बड़ा विद्वान् है, और हलचर्म (Furrow) जैसे अप्रसिद्ध पदों का प्रयोग करता है। यह काशिका में से अचकमत और मर्माविध् जैसे अप्रसिद्ध प्रयोग लेता है। यह पश्यतोहर, जम्पती और सौख्यरात्रिक जैसे विरल-प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग करता है। निस्सन्देह भाषा पर इसका अधिकार बहुत भारी था।

(५) छन्दो के प्रयोग में यह बड़ा निपुण है। सर्ग २, ६ और १० में श्लोक तथा सर्ग ३, ५, ९, और १२ में वंशस्थ प्रधान है।

(च) काल—(१) इसे काशिका वृत्ति (लगभग ६५० ई.) का पता था, यह तो सन्देह से परे है।

(२) यह माघ से प्राचीन है क्योंकि माघ में इसके एक पद्य की छाया दिखाई देती है।

(३) वामन (८०० ई०) ने वाक्य के प्रारम्भ में 'खलु' शब्द के प्रयोग को दूषित बताया है; पर ऐसा प्रयोग कुमारदास की रचना में पाया जाता है। अतः विश्वास होता है कि वामन को इसका पता था।

(४) राजशेखर (९०० ई०) इसके यश को स्वीकार करता हुआ कहता है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते भुवि।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः॥

---

१ सामने खड़ी हुई स्त्रियों ने पूछा, क्या राम यहाँ नहीं है? वह कहाँ गया है? बालक [राम] ने अपने हाथों से अपना मुँह छिपाकर झूठ मूठ की आँख मिचौनी खेली।

अतः कुमारदास को ६५० और ७०० ई० के मध्य में कहीं रख सकते हैं।

(४) वाक्पति का गउडवह (८वीं शताब्दी का प्रारम्भ)—गउडवह (गौडवध) प्राकृत-काव्य है जिसे ८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वाक्पति ने लिखा था। इसमें कवि के आश्रयदाता कन्नौज के अधिश्वर यशोवर्मा द्वारा गौड-नरेश के पराजित होने का वर्णन है। इसमें लम्बे लम्बे समास हैं जिनसे प्रकट होता है कि कृतिम शैली के विकास मे प्राकृत-कविता किस प्रकार संस्कृत-कविता के साथ साथ चलती रही। वाक्पति भवभूति का ऋणी है।

(५) कविराज कृत राघवपाण्डवीय (१२वी शताब्दी)—इस कवि को सूरि या पण्डित भी कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका लेखक कादम्ब-कामदेव (लगभग ११९० ई०) के आश्रय मे रहता था। इस काव्य में श्लेष के बल से रामायण और महाभारत की दो भिन्न भिन्न कथाएँ एक साथ चलती हैं। कवि ने यह एक ऐसा कठिन काम करके दिखाया है जो संस्कृत को छोड जगत् की किसी अन्य भाषा मे देखने को नहीं मिलता, पाठक के मनोविनोदार्थ एक उदाहरण दिया जाता है—

नृपेण कन्या जनकेन दित्सिताम् अयोनिजां लम्भयितुं स्वयंवरे।
द्विजप्रकर्षेण स धर्मनन्दनः सहानुजस्तां भुवमप्यनीयत[1]॥

कवि ज़ोर देकर कहता है कि वक्रोक्ति के प्रयोग में सुबन्धु और बाण को छोडकर उसके जोड का दूसरा कोई नहीं है।

---

१ द्विजोत्तम (विश्वामित्र) महाराज जनक द्वारा दी जाने वाली अयोनिजा कन्या को प्राप्त कराने के लिए छोटे भाई सहित उस धर्मनन्दन [राम] को स्वयंवर भूमि में लाए।

द्विजोत्तम (व्यास) पिता द्वारा दी जाने वाली अयोनिजा कन्या को प्राप्त कराने के लिए छोटे भाइयों सहित उस धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) को स्वयंवर भूमि में लाए।

(६) हरदत्त सूरिकृत राघवनैषधीय—इसका रचना काल पता नहीं है। इसमे भी श्लेष द्वारा राम और नल की कथा का एक साथ वर्णन है।

(७) चिदम्बर कृत यादवीय राघवपाण्डवीय—यह भी लोकप्रिय नहीं है। इसमें श्लेष द्वारा रामायण, महाभारत और भागवत की कथा का एक साथ वर्णन है।

(८) हलायुधकृत कविरहस्य—साहित्य की दृष्टि से यह महत्वशाली नहीं है। इसकी रचना १०वीं शताब्दी में क्रियाओं की रूपावली के नियम समझाने के लिए की गई थी। प्रसङ्ग से यह राष्टकूटवंशीय नृप कृष्ण (९४०-५६ ई०) की प्रशस्ति का भी काम देता है।

(९) मेण्ठ—(जो भर्तृमेण्ठ और हस्तिपक के नाम से भी प्रख्यात है)। नृप मातृगुप्त ने इसके हयग्रीववध की बडी प्रशंसा की है। वाल्मीकि, मेण्ठ, भवभूति और राजशेखर इन आध्यात्मिक गुरुओं की श्रेणी मे मेण्ठ को दूसरे स्थान पर आरूढ होने का सौभाग्य प्राप्त है। मङ्ख ने इसे सुबन्धु भारवि और बाण की कक्षा में बैठाया है। सुभाषित भाण्डागारो में इसके नाम से उद्धृत कई सुन्दर पद्य मिलते हैं। यह छठी शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ होगा।

(१०)—मातृगुप्त—कल्हण के अनुसार यह काश्मीराधिपति प्रवरसेन का पूर्वगामी था। कोई कोई इसे और कालिदास को एक ही व्यक्ति मानते हैं किन्तु यह बात मानने योग्य नहीं जँचती। इसके काल का पता नहीं, कहा जाता है कि इसने भरत के नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी। अब इस टीका के उद्धरणमात्र मिलते हैं।

(११) भौमक का रावणार्जुनीय (ई० की ७वी शताब्दी के आसपास)—इसमें २७ सर्ग हैं और रावण तथा कार्तवीर्य अर्जुन के कलह की कथा है। कवि का मुख्य उद्देश्य व्याकरण के नियमों का व्याख्यान करना है।

(१२) शिवस्वामी का कप्फनाभ्युदय (९वीं शताब्दी)—यह एक रोचक बौद्धकाव्य है किन्तु लोकप्रिय नहीं है। इसका रचयिता शिवस्वामी बौद्ध

था, जिसने इसे काश्मीर-पति अवन्तिवर्मा के आश्रय में रहकर ९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखा था। इसकी कथा अवदानशतक में आई हुई एक कथा पर आश्रित है और इसमें दक्षिण के किसी राजा के बौद्धधर्म की दीक्षा लेने का वर्णन है। कवि पर भारवि और माघ का प्रभाव पड़ा दिखाई देता है। इसमें हर्षकृत नागानन्द की ओर भी संकेत पाया जाता है।

(१३) कादम्बरीकथासार (९वीं शताब्दी)—इसका लेखक काश्मीर में ९वीं शताब्दी में होने वाला कवि अभिनन्द है। यह काव्य के रूप में बाण की कादम्बरी का सार है।

(१४) क्षेमेन्द्र (११वी शताब्दी)—इसने १०३७ ई० में भारतमञ्जरी (महाभारत का सार) और १०६६ ई० में दशावतार चरित की रचना की। इसने बुद्ध को नौवाँ अवतार माना है। इसने रामायणमंजरी (रामायण का सार) और पद्य-कादम्बरी भी लिखी थी। यह काश्मीर का निवासी था।

(१५) मङ्ख का श्रीकण्ठचरित्र (१२वीं शताब्दी)—इस काव्य में २५ सर्ग हैं। इसमें श्रीकण्ठ (शिव) द्वारा त्रिपुरासुर की पराजय का वर्णन है। मङ्ख काश्मीर का रहने वाला था, और १२वीं शताब्दी मे हुआ था।

(१६) रामचन्द्रकृत रसिकरञ्जन (१५४२ ई०)—इसकी रचना अयोध्या में १५४२ ई० में हुई। इस काव्य का सौन्दर्य इस बात में है कि इसके पद्यों को एक ओर से पढ़िये तो श्रृङ्गारमय काव्य प्रतीत होगा, और दूसरी ओर से पढ़िये तो साधु-जीवन की प्रशंसा मिलेगी। इसकी तुलना मैदीना निवासी लिओन के अपने गुरु मोसस बसीला के ऊपर लिखे शोक-गीत से हो सकती है जिसे चाहे इटैलियन भाषा का काव्य मानकर पढ़लो चाहे हिब्रू का।

(१७) कतिपय जैन-ग्रन्थ—कुछ महत्त्वपूर्ण जैनग्रन्थ भी प्राप्त हैं, किन्तु वे अधिक लोकप्रिय नहीं हैं। यहाँ उनका साधारण उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा।

(क) वादिराजकृत यशोधरचरित्र। इसकी रचना १०वीं शताब्दी में हुई थी। इसमें सब चारसर्ग और २९६ श्लोक हैं।

(ख) हेमचन्द्र का (११६०–११७२ ई०) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित।

इस ग्रन्थ में दस पर्व हैं जिनमें जैनधर्म के तरेसठ ६३ श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन-चरित वर्णित हैं [उनमे से २४ जिन, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ विष्णुद्विट् हैं]। यह ग्रन्थ विस्तृत और चित्त उकता देने वाला होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

(ग) हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय। इस ग्रन्थ में २१ सर्ग हैं। इसके निर्माणकाल का पता नहीं है। इसमें तेरहवें तीर्थङ्कर धर्मनाथ का जीवन वर्णित है।

(३५) ईसा की छठी शताब्दी में संस्कृत के पुनरुत्थान का वाद।

(India what can it teach us) 'इण्डिया ह्वट् कैन इट् टीच् अस' नामक अपने ग्रन्थ में प्रो० मैक्समूलर ने बडी योग्यता के साथ यह वाद प्रतिपादित किया है कि ईसा की छठी शताब्दी के मध्य में संस्कृत का पुनरुत्थान हुआ। अनेक त्रुटियाँ होने पर भी कई साल तक यह वाद क्षेत्र मे डटा रहा॥

प्रो० मैक्समूलर की मूल स्थापना यह थी कि शक (सिथियन) तथा अन्य विदेशियों के आक्रमण के कारण ईसवी सन् की पहली दो शताब्दियों मे संस्कृत भाषा सोती रही। परन्तु इस सिद्धान्त में वक्ष्यमाण त्रुटियाँ थीं:—

(१) सिथियनों ने भारत का केवल पाँचवाँ भाग विजय किया था।

(२) वे लोग अपने जीते हुए देशों में भी स्वयं शीघ्र ही हिन्दू होगये थे।

उन्होने केवल हिन्दू नाम ही नहीं अपना लिए थे, प्रत्युत हिन्दू भाषा (संस्कृत) और हिन्दू धर्म भी अपना लिया था। उपभदत्त (ऋशभदत्त) नामक एक सिथियन वीर ने तो संस्कृत और प्राकृत की मिली-जुली भाषा में अपने वीर्य-कर्म भी उत्कीर्ण करवाए थे। कनिष्क स्वयं बौद्धधर्म का बहुत बड़ा अभिभावक था।

(३) यह बात निर्विवाद मानी जाती है कि इन्हीं राजाओं के संरक्षण में मथुरा में भारत की जातीय वास्तुकला और शिल्पकला (Soulpture) ने परम उत्कर्ष प्राप्त किया था।

आधुनिक अनुसन्धानों ने तो मैक्समूलरीय इस सिद्धान्त का अन्त ही कर दिया है। हम देख चुके हैं कि बौद्ध महाकवि अश्वघोष ईसा की प्रथम शताब्दी में ही हुआ और उस समय संस्कृत का इतना बोलबाला था कि उसे भी अपने धर्मोपदेश के ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखने पड़े। गिरनार और नासिक दोनों स्थानों के शिलालेख ईसा की दूसरी शताब्दी के हैं (जो अब उपलब्ध हुए हैं) वे मार्जित काव्य-शैली में लिखे हुए हैं। कई दृष्टियों से इनकी शैली की तुलना अन्य संस्कृत के कथा-काव्यों की तथा गद्यकाव्यों की शैली के साथ की जा सकती है। ये लेख निश्चय रूप से सिद्ध करते हैं कि तत्कालीन राजाओं के दर्बारों में संस्कृत काव्यों की रचना खूब होती होगी। सच तो यह है कि ईसा की दूसरी शताब्दी के पीछे आने वाली शताब्दियों में भी संस्कृत काव्य के निर्माण का कार्य निरन्तर जारी रहा। हरिषेणलिखित ३५० ई० वाली समुद्रगुप्त की प्रशस्ति से पता चलता है कि वह कवियों का बड़ा आदर करने वाला और स्वयं कवि था। उसकी प्रशस्ति में कहीं कहीं वैदर्भी शैली है (जैसी कालिदास और दण्डी के ग्रन्थों में है) और कही कहीं लम्बे लम्बे समासो का गद्य है (एक समास तो ऐसा है जिसमे एक सौ बीस से भी अधिक वर्ण हैं)। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल के अनेक शिलालेख मिले हैं जो काव्य-शैली में लिखे हैं। शिलालेखों के इन प्रमाणों से पूर्णतया प्रमाणित होता है कि ईसा की छठी शताब्दी तक संस्कृत कभी नहीं सोई। ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी में इसके सोने की शङ्का का अवसर तो और भी कम रह जाता है।

प्रो० मैक्समूलर का मुख्य विषय था कि ईसा की छठी शताब्दी का मध्यकाल संस्कृत काव्य के इतिहास में सुवर्ण युग था। मैक्समूलर की इस धारणा का आधार फ़र्गुसन (Feigusson) महोदय की वह

स्थापना प्रतीत होती है जिसमें उन्होंने कहा है कि उज्जैन के विक्रमादित्य नामक किसी राजा ने ५४४ ई० में सिथियनों को परास्त करके उन्हें भारत से निकाल दिया और अपनी विजय की स्मृति में विक्रम सम्वत् प्रवर्तित किया और साथ ही पुरातनता के नाम पर प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के प्रयोजन से इसे ६०० वर्ष पुराना प्रसिद्ध किया[१]। परन्तु फ्लीट (Fleet) महोदय ने शिलालेखों का गहन अनुसन्धान करके अब यह निर्भ्रान्ततया सिद्ध कर दिया है कि ५७ ई० पू० वाला भारतीय सम्वत् उक्त विक्रमादित्य से कम से कम सौ साल पहले अवश्य प्रचलित था, तथा छठी शताब्दी के मध्य में सिथियनों को पश्चिमी भारत से निकालने की भी कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती; कारण, भारत के इस भाग को गुप्तवंशीय नृपों ने ईसा की छठी शताब्दी के मध्य में अन्य विदेशी लोग अर्थात् हूण अवश्य पश्चिमी भारत से निकाले गए थे; परन्तु उनका विजेता कोई विक्रमादित्य नहीं, यशोधर्मा विष्णुवर्धन था।

प्रो० मैक्समूलर ने अनुमान किया था कि विक्रमादित्य के दर्बार के कालिदास आदि साहित्यिक रत्नों ने ईसा की छठी शताब्दी के मध्य में संस्कृत को पुनरुजीवित किया होगा; परन्तु अब इतिहास में छठी शताब्दी के विक्रमादित्य का चिह्न नहीं मिलता है। रही कालिदास की बात? अन्य प्रमाणों के आधार पर उसका काल छठी शताब्दी से पर्याप्त पूर्व सिद्ध किया जा सकता है। इसके भी प्रमाण हैं कि ईसा पूर्व की पहिली शताब्दी में संस्कृत साहित्य में जितनी प्रगति थी उतनी ईसा के पश्चात् की छठी शताब्दी में नहीं।

---

१ विद्वानों को इस स्थापना पर प्रारम्भ से ही सन्देह था। इतिहास में ऐसे किसी अन्य सम्वत् का वर्णन नहीं मिलता जो पुरातनता के नाम पर प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिए, या किसी अन्य कारण से, प्रवर्त्तन के समय ही पर्याप्त प्राचीन प्रसिद्ध किया गया हो। प्रश्न उठता है छः सौ साल प्राचीन ही क्यों प्रसिद्ध किया गया? हजार साल या और अधिक प्राचीन क्यों नहीं?

अध्याय ५

सङ्गीत-काव्य (Lyrics) और सूक्ति-सन्दर्भ

(३६) सङ्गीत-काव्य (खण्ड काव्य) का आविर्भाव

संगीत-काव्य का इतिवृत्त प्रायः कालीदास के मेघदूत और ऋतुसंहार से प्रारम्भ किया जाता है; परन्तु इस अवस्था में उस सारे श्रेण्य-संस्कृत के संगीत-काव्य के आधार की उपेक्षा हो जाती है जिसकी धारा ऋग्वेद के काल तक चली गई है।

भारतीय सङ्गीत काव्य पाँच प्रकार का है और उसे पाँच ही युगों में विभक्त किया जाता है।

(१) ऋग्वेदीय काल का निःश्वसित[२] सङ्गीत-काव्य—यह अंशतः धार्मिक भावना प्रधान और अंशतः लौकिक कामना प्रधान है। कभी कभी वीररस के विषय को धार्मिक तत्त्व से मिश्रित कर दिया गया है। उदाहरण के लिए परमरमणीय उषा-सूक्त, विपाशा और शुतुद्री नदियों की स्तुति से पूर्ण वीररसमय सङ्गीत (खण्ड) काव्य (Lyrics) या सूरदास की विजय का वीररसमय अनुवाक देखा जा सकता है। इन काव्यों (Lyrics) में ऋषियो

---

१ सगीत (खण्ड) काव्य का प्रधान लक्षण यह है कि इसमें अर्थ-सम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध अनेक पद्यों की बहुत लम्बी माला नही होती है, अपितु इसमें किसी प्रेम-घटना का या किसी रस का वर्णन करने वाला कोई छोटा सा शब्दचित्र रहता है। २ अलौकिक शक्ति प्रेरित (Inspired)।

(Seers) के निर्व्याज उद्गार भरे हुए हैं जो प्रायः प्रकृति की उपकारिणी शक्तियों के वशीभूत होकर प्रकट किए गए हैं। ये मन्त्र बहुत सोचकर चुने हुए छन्दों में रचे गए हैं जिनमें प्रायः अन्त्यानुप्रास भी पाया जाता है और जो गाए भी जा सकते हैं।

(२) भक्तिरसमय सङ्गीत-काव्य—इस भेद के उदाहरण आधिक्य के साथ बौद्ध तथा उपनिषद् ग्रन्थों मे पाए जाते हैं जिनमें नवीनधर्म की प्राप्ति होने पर हृदय का विस्मय सहसा संगीत-काव्य के पद्य के रूप में प्रकट हो जाता है।

(३) ऐतिहासिक (Epic) या भावुक (Sentimental) सङ्गीत-काव्य—इस जाति के उदाहरण महाभारत में और उससे भी अधिक रामायण में प्रकृति-वर्णनों मे उपलब्ध होते हैं।

(४) रूपक-साहित्य का विविक्त शृङ्गाररसपूर्ण सङ्गीत-काव्य—इस श्रेणी में वे श्लोक आते हैं जो रूपकों के पात्रों द्वारा प्रेमादि का वर्णन करने के लिए बोले जाते हैं। यह श्रेणी उस सोपान का काम देती है जिस पर पैर रखकर भक्तिरस के सङ्गीत-काव्य से या ऐतिहासिक सङ्गीत-काव्य से उठकर भर्तृहरि और अमरु जैसे उर्ध्वकालीन कवियों की श्रेणी मे प्रवेश किया जाता है। इन कवियों के हाथों मे पहुँचकर सङ्गीत-काव्य साहित्य का एक परतन्त्र अङ्ग न रहकर स्वतन्त्र अङ्गी बन गया है।

(५) ऊर्ध्वकालीन कवियों का सङ्कीर्ण शृङ्गाररसमय या रहस्यमय सङ्गीत-काव्य- इस कोटि में पहुँचकर सङ्गीत-काव्य में शृङ्गाररस और धार्मिक भावना का ऐसा सम्मिश्रण पाया जाता है जिसमें यह मालूम करना दुस्साध्य है कि लिखते समय लेखक में रति का अतिरेक था अथवा भक्ति का। भक्तिरस वाले या ऐतिहासिक सङ्गीत-काव्य के साथ इसकी तुलना करके देखते हैं, तो इसमें शृङ्गाररस की या प्रकृति के एक स्त्री के सौन्दर्य के अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों की अधिकता पाते हैं। ये सङ्गीत-काव्य कवियों की महती निरीक्षण-सम्पत्ति तथा तीव्र अनुभूति के साक्षी हैं। इनमें से कई प्रतिपाद्य अर्थ की

बाह्य कल्पना की दृष्टि से सुषमाशाली दुर्लभ रत्न हैं। मानवीय जीवन तथा प्रेम-तत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिए इनमें चातक, चकोर, चक्रवाक इत्यादि नाना नभश्चरों को वक्ता-श्रोता बनाया गया है। इस सारे सङ्गीत-काव्य में पशु-पक्षी, लता-पादप इत्यादि द्वारा बड़ा महत्त्वपूर्ण काम लिया गया है और कविकृत उनका वर्णन बड़ा ही चमत्कारी है। इस अध्याय में हमारे वर्णन का क्षेत्र ऊर्ध्वकालीन उन्हीं कवियों[1] तक सीमित रहेगा जिन्होंने सङ्गीत-काव्य को साहित्य-संसार में स्वतन्त्र अङ्गी स्वीकार करके कुछ लिखा है।

(३७) सङ्गीत-काव्य के कर्त्ता

(१) शृङ्गारतिलक—इसका कर्त्ता कालिदास[1] कहा जाता है, परन्तु इसका प्रमाण नहीं मिलता है। इसमें केवल तेईस (२३) पद्य हैं। इसका कोई कोई पद्य वस्तुतः बड़ा ही हृदयङ्गम है। एक नमूना देखिए;—

इयं व्याधायते बाला अूरस्याः कार्मुकायते।
कटाक्षाश्च शरायन्ते मनो मे हरिणायते॥

फिर देखिए। कवि को शिकायत है कि सुन्दरी के अन्य अवयवों का निर्माण मृदुल कमलों से करके उसके हृदय की रचना पाषाण से क्यों की गई:—

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः कान्ते! कथं घटितवानुपलेन चेतः?

कालिदास के नाम से प्रसिद्ध एक और सङ्गीत-काव्य है—राक्षसकाव्य, परन्तु यह पूर्वोक्त काव्य से अत्यन्त अपकृष्ट है और निश्चय ही कालिदास की कृति होने की प्रतिष्ठा प्राप्त करने का अधिकारी भी नहीं है।

---

१ कालिदास के सुप्रसिद्ध सङ्गीत-काव्यों मेघदूत और ऋतुसंहार के लिए खण्ड १९ देखिए।

(२) घटकर्पर—इसके रचयिता का नाम भी वही है जो इस काव्य का है—घटकर्पर। इसमें कुल २२ पद्य हैं। घटकर्पर का नाम विक्रमादित्य के नौ रत्नों मे लिया जाता है। अन्तिम पद्य में कवि ने साभिमान कहा है कि यदि कोई मुझसे अच्छे यमकालङ्कार की रचना करके दिखलाए तो मैं उसके लिए घड़े के ठीकरे में पानी भरकर लाने को तय्यार हूँ। इस काव्य का विषय मेघदूत से बिल्कुल उलटा है अर्थात् इसमें एक विरहिणी वर्षा ऋतु आने पर मेघ के द्वारा अपने पति को सन्देश भेजती है।

(३) हाल की सतसई [सप्तसती]—यह महाराष्ट्री प्राकृत का प्रबन्ध काव्य है क्योंकि इसमें परस्पर सम्बद्ध सात सौ पद्य हैं। इसका कर्ता हाल या सातवाहन प्रसिद्ध है। कहा नहीं जा सकता कि सातवाहन या हाल इन पद्यों का रचयिता है या केवल सग्रहकर्त्ता है। यह ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों से सम्बन्ध रखती है परन्तु इसके लिए कोई विशिष्ट काल निर्णीत नहीं किया जा सकता। हर्षचरित की भूमिका में बाण ने इसकी प्रशंसा की है।

यह सतसई सर्वसाधारण जनता का कोई काव्य नहीं है, कारण, इसकी रचना कृत्रिम तथा मनोयोग के साथ अध्ययन की हुई भाषा में हुई है। वर्णनीय विषयों मे विविधविधता विद्यमान है। यही कारण है कि इसमें गोप-गोपिका, व्याध-स्त्रियाँ, मालिन, हस्तशिल्पोपजीवी इत्यादि विभिन्न श्रेणियों के स्त्री-पुरुषो के मनोरञ्जक तथा विस्मयोत्पादक वर्णन हैं, प्रकृति के लोचन-लोभनीय दृश्य अङ्कित हैं जिनमें कभी कभी शृङ्गाररस का संस्पर्श पाया जाता है तो कभी वे उससे विल्कुल विविक्त देखे जाते हैं। कहीं कहीं शिक्षाप्रद पद्य भी सामने आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, एक प्रोषित-पतिका निशापति से प्रार्थना करती है कि तू ने जिन किरणों से मेरे जीवन-वल्लभ का स्पर्श किया है उन्हीं से मेरा भी स्पर्श कर। एक प्रवत्स्यद्भर्तृका चाहती है कि सदा रात ही बनी रहे, दिन कभी न निकले क्यों कि प्रभात काल में उसका जीवन-नाथ विदेश जाने को तैयार है। कोई तृषातुर 'पथिक'

किसी उद्यद्यौवना कन्या को कुएं पर पानी भरती हुई देखकर उससे पानी पिलाने को कहता है और उसके सुन्दर वदन को देर तक देखते रहने का अवसर प्राप्त करने के लिए अपने चुल्लु में से पानी गिराने लगता है; जो इच्छा पथिक के मन में थी उसी इच्छा से पानी पिलाने वाली भी उसके चुल्लु में पतली धार से पानी डालना प्रारम्भ करती है। वर्षा ऋतु के वर्णन में कुसुमों पर द्विरेफों के गुँजारने का, मूसलाधार वर्षा में मोरों और कौओं के हर्ष मनाने का और साभिलाष हरिणों व कवियों के अपनी सहचारियो के तलाश करने का वर्णन बड़ा ही हृदयहारी है। नीति-सम्बन्धी सदुक्ति का उदाहरण लेना हो तो सुनिए—"कृपण को अपना धन इतना ही उपयोगी है जितना पथिक को अपनी छाया। जगत में बहरे और अन्धे ही धन्य हैं; क्योंकि, बहरे कटुशब्द सुनने से और अन्धे कुरूप को देखने से बचे हुए हैं।" कहीं कहीं नाटकीय परिस्थितियाँ भी चित्रित मिलती हैं:—एक कुशल-मति स्त्री बहाना करती है कि मुझे बिच्छू ने काट लिया है; इस बहाने का कारण केवल यह है कि इसके द्वारा उसे उस वैद्य के घर जाने का अवसर मिल जाएगा जिसके साथ उसका प्रेम है।

अनुकरण—प्रकाश में आए हुए अनुकृत ग्रन्थों में से सब से अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ गोवर्धन की आर्यासप्तशती है। इसकी रचना ईसा की १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल के महीपति लक्ष्मणसेन के दर्बार में हुई थी। इसमें सात सौ मुक्तक पद्य हैं जो अकारादि के क्रम से रक्खे गए हैं। सारे ग्रन्थ में शृङ्गाररस प्रधान है। इसके अध्यायों को व्रज्या का नाम दिया गया है। ध्वनि सिद्धान्त में विशेष पक्षपात होने के कारण लेखक ने अन्योक्ति (व्यवहित Indirect व्यञ्जना) का बहुत प्रयोग किया है। जैसे शम्भु की (११०० ई०) अन्योक्तिमुक्त-लता में या वीरेश्वर[1] के अन्योक्ति-शतक में वैसे ही इसमें भी प्रायः शृङ्गाररस की व्यञ्जना गूढरीति से की

[1] इसके काल का पता नहीं है।

गई है। यह संस्कृत में है; परन्तु मूल्य की दृष्टि से हाल की सतसई से घट कर है।

एक और अनुकृत ग्रन्थ हिन्दी में बिहारी की सतसई है। इसमें लगभग सात सौ दोहे हैं जिनमें शृङ्गाररस प्रधान है। इसमें नायक के सम्बन्ध से विविध परिस्थितियों में विभिन्न मनो-वेगों से उत्पन्न होने वाले नायिका के नाना रूपों के चित्र अङ्कित किये गए हैं।

(४) भर्तृहरि—सङ्गीत-काव्य के इतिहास में भर्तृहरि का स्थान केवल कालिदास से दूसरे नम्बर पर है। उसके तीन ही शतक प्रसिद्ध हैं—शृङ्गार शतक, नीतिशतक और वैराग्यशतक। पहले शतक में प्रेम का, दूसरे में नीति (Moral policy) का और तीसरे में वैराग्य का वर्णन है। इनमें से प्रत्येक में सौ से कुछ अधिक ही पद्य पाए जाते हैं, परन्तु यह कहना कठिन है कि वे सब भर्तृहरि की ही रचना हैं। इनमें से कुछ पद्य शकुन्तला, मुद्राराक्षस और तन्त्राख्यायिका में भी आए हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो सूक्ति-सन्दर्भों में किसी अन्य रचयिता के नाम से संगृहीत हैं[1]। चाहे उसके नीति और वैराग्यशतक में किसी अन्य रचयिता के भी श्लोक संगृहीत हों; परन्तु शृङ्गारशतक उसी के उर्वर मस्तिष्क की उपज्ञा प्रतीत होती है।

यह भर्तृहरि कौन था? इन शतकों के रचयिता के जीवन के बारे में बहुत कम बातें ज्ञात होती हैं। जनश्रुति से भी कुछ अच्छी सहायता नहीं मिलती है। यह भर्तृहरि कौन सा भर्तृहरि था, इतना तक ठीक ठीक मालूम नहीं। चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने वाक्यपदीय के कर्त्ता भर्तृहरि नामक एक वैयाकरण की मृत्यु ६५१ ई० में लिखी है। यह भी लिखा है कि उसने वैखानस जीवन के आनन्द की तथा गृहस्थ-जीवन के प्रमोद की रस्सियों से बने झूले पर कई झोंटे खाए थे। इसी साक्ष्य पर प्रो० मैक्समूलर (Max Muller) ने विचार प्रकट किया है कि कदाचित् यही भर्तृहरि इन तीनों

---

१ सूक्ति-सन्दर्भों में प्रायः परस्पर विरोध भी देखा जाता है, अतः हम उनके साक्ष्य पर अधिक विश्वास नहीं कर सकते हैं।

शतकों का कर्त्ता हो। चाहे उक्त प्रोफैसर साहब के अनुमान में कुछ सत्यांश हो तथापि यह निश्चित रूप में ग्रहण नहीं हो सकता; क्योंकि इन शतकों का रचयिता कोई बौद्ध नहीं प्रत्युत वेदान्तसम्प्रदाय का एक श्रद्धालु शिवोपासक है। बहुत सम्भव है कि इत्सिङ्ग ने इन शतकों के विषय में कुछ न सुना हो या जान-बूझकर इनकी उपेक्षा कर दी हो।

शैली—भर्तृहरि का प्रत्येक श्लोक लावण्यमयी एकतन्वी कविता है और इतनी सामग्री से पूर्ण है कि उससे इंग्लिश का एक चतुर्दश-पदी पद्य (Sonnet) बन सकता है। ऐसा अद्भुत कार्य करके दिखलाना कुछ असम्भव नहीं है, क्योकि संस्कृत भाषा में गागर में सागर भरने की असाधारण योग्यता है और भर्तृहरि निस्सन्देह इस विषय में बड़ा ही निपुण है। उसके नीतिशतक में बडी सुन्दर एवं शिक्षाप्रद कविता है। देखिए महापुरुष का लक्षण बताते हुए क्या लिखा है:—

विपदि धैर्यवथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्[1] ॥

वैराग्य शतक में बिल्कुल ही कुछ और कहा है:—

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा चात्युत्तमं यौवनं,
सन्तोषो धनलिप्सया शमसुख प्रौढाङ्गना-विभ्रमैः।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै,
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा[2] ॥

---

१ विपत्ति में धैर्य, सम्पत्ति में क्षमा, सभा में वाक्चातुर्य, युद्ध में पराक्रम, यश के लिए अभिलाशा और श्रुति के अध्ययनादि का व्यसन ये बातें महापुरुषों में स्वाभाविक होती हैं। २ जीवन को मृत्यु ने, उत्तम यौवन को बुढ़ापे ने, सन्तोष को धन की तृष्णा ने, शान्ति-सुख को पूर्ण युवतियों के हाव-भावों ने, गुणों को द्वेषपूर्ण लोगों ने, वनस्थलियों को सर्पों (या हाथियों) ने, राजाओं को दुष्टों ने, अभिभूत कर रखा है; सम्पदाओं को भी क्षणभङ्गुरता ने खराब कर दिया है। किस ने किसको नहीं निगल रक्खा है।

उसके प्रिय छन्द शार्दूलविक्रीडित और शिखरिणी हैं।

समय—यदि इन शतकों का रचयिता भर्तृहरि वाक्यपदीप का कर्त्ता भर्तृहरि ही न माना जाए तो इस भर्तृहरि के समय के विषय में कुछ मालूम नहीं। कुछ किंवदन्तियों के अनुसार वह प्रसिद्ध नृपति विक्रमादित्य का भाई था; परन्तु इतने से उसके काल का संशोधन करने में अधिक सहायता नहीं मिलती। कोई कोई कहते हैं भट्टिकाव्य का प्रणेता भट्टि ही भर्तृहरि है; परन्तु इस कथन का पोषक भी पर्याप्त प्रमाण प्राप्य नहीं है।

(५) अमरु (ईसा की ७वीं श०)—इस कवि के अमरु और अमरुक दोनों नाम मिलते हैं। इसके काव्य अमरु-शतक के चार संस्करण मिलते हैं जिनमें ९० से लेकर ११५ तक श्लोक हैं। इन में से ५१ पद्य सब संस्करणों में एकसे पाए जाते हैं; परन्तु क्रम में बड़ा भेद पाया जाता है। सूक्ति-संग्रहों में इसके नाम से संगृहीत श्लोकों का मेल किसी संस्करण से नहीं होता है। अतः निश्चय के साथ असली ग्रन्थ के पाठ का पता लगाना असम्भव है। इसके टीकाकार अर्जुननाथ (१२१५ ई०) ने जो पाठ माना है संभव है वही बहुत कुछ प्रमाणित पाठ हो।

टीकाएँ—किंवदन्ती है कि शङ्कराचार्य ने काश्मीर के राजा के मृतशरीर को अपनी आत्मा के प्रवेश द्वारा जीवित करके उसके रनवास की सौ रानियों के साथ प्रेम-केलि करते हुए जो कुछ अनुभव किया था वही इन श्लोकों में वर्णित है; परन्तु यह किंवदन्ती निरी किंवदन्ती ही है। इसके एक टीकाकार रविचन्द्र ने इन पद्यों की वेदान्तपरक व्याख्या की है। वेमपाल ने (१४वीं श०) इन में नायिका-वर्णन पाया है। किन्हीं किन्हीं की दृष्टि में ये विविध अलङ्कारों के उदाहरण हैं। सारे को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह शतक प्रेम के विभिन्न वर्ण-चित्रों का एक प्रेलम है। अमरु का दृष्टिकोण भर्तृहरि के दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न है। भर्तृहरि ने तो प्रेम और स्त्री को मनुष्य जीवन के निर्माण में अपेक्षित उपादान तत्त्व मानकर उनके सामान्य रूपों का वर्णन किया है; परन्तु अमरु ने प्रणयियों के अन्योन्य सम्बन्ध का विश्लेषण करना अपना लक्ष्य रक्खा है।

शैली—अमरु वैदर्भी रीति का पक्षपाती है। सो इसने दीर्घ या क्लिष्ट समास अपनी रचना में नहीं आने दिए हैं। इसकी भाषा विशुद्ध और शैली शोभाशालिनी है। इसके श्लोकों में वीर्य और चमत्कार है जो पाठक पर अपना प्रभाव अवश्य डालते हैं। प्रेम के स्वरूप के विषय में इसका क्या मत है? इस प्रश्न का उत्तर है कि आमोद-प्रमोद ही प्रेम है। छोटी सी कलह के पश्चात् मुस्कराते हुए प्रणयियों को देखकर यह बड़ा प्रसन्न होता है। देखिए प्राणों को गुदगुदा देने वाली एक कथा को कवि ने किस कौशल से संक्षेप में एक ही श्लोक में व्यक्त कर दिया है:—

बाले! नाथ! विमुञ्च मानिनि! रुषं, रोषान्मया किं कृतम्?
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि!
तत् किं रोदिषि गद्गदेन वचसा? कस्याग्रतो रुद्यते?
नन्वेतन्मम, का तवास्मि? दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते[1]!!

इस कवि का प्रिय छन्द शार्दूलविक्रीडित है।

समय—(क) आनन्दवर्धन ने (८५० ई०) अमरुशतक को एक बड़ा ख्यात-प्राप्त ग्रन्थ माना है।

(ख) वामन ने (८०० ई०) इसमें से तीन श्लोक उद्धृत किए हैं। निश्चय से तो कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु ईसा की सातवीं शताब्दी संभव है अमरु का बहुत-कुछ ठीक समय समझा जा सकता है।

(६) मयूर (७वीं श०) मयूर हर्षवर्धन के दर्बारी कवि बाण का ससुर था, यह प्रसिद्ध है। इसका सूर्यशतक प्रसिद्ध है। इस काव्य की

---

१ 'प्रिये!', 'स्वामिन्!' 'मानिनि! मान छोड़ दे।' 'मान करके मैंने आपकी क्या हानि की है'? 'हमारे हृदय में खेद पैदा कर दिया है'। 'हाँ, आप तो कभी मेरा कोई अपराध करते ही नहीं! सारे अपराध मुझ में ही हैं'!! 'तब फिर गद्गद् कण्ठ से रोती क्यों हो'? 'किसके सामने रोती हूँ?' 'हुं' यह मेरे सामने रो रही हो या नहीं?' 'तुम्हारी क्या लगती हूँ'? 'प्यारी'। 'प्यारी नहीं हूँ, इसी लिए तो रोना आ रहा है'।

रचना का कारण बतलाने वाली एक प्रमाणापेत प्रसिद्धि है। कहा जाता है कि मयूर ने अपनी ही कन्या के सौन्दर्य का बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया था इस पर कुपित होकर कन्या ने शाप दे दिया और वह कोढी होगया। तब उसने सूर्यदेवता की स्तुति में सौ श्लोक बनाए, इससे उसका कोढ नष्ट हो गया।

(७) मातङ्गदिवाकर (७वीं श०)—यह भर्तृहरि और मयूर का समकालीन था। इसने अपने समय में अच्छा नाम पाया था। इसके थोड़े से श्लोक सुरक्षित चले आ रहे हैं।

(८) मोहमुद्गर—रूप-रंग और विषय दोनों के विचार से इसकी तुलना भर्तृहरि के वैराग्यशतक से की जा सकती है। इसका कोई कोई श्लोक वस्तुतः बड़ा सुन्दर है। यह शङ्कर की रचना कही जाती है; परन्तु इसका प्रमाण कुछ नहीं है।

(९) शिल्हण का शान्तिशतक—इस ग्रन्थ में कुछ बौद्ध मनोवृत्ति पाई जाती है। इसका समय अनिश्चित है। काव्य की दृष्टि से यह भर्तृहरि की रचना से घटिया है और अधिक लोकप्रिय भी नहीं है। अनुभूति की गहराई में यह भर्तृहरि के ग्रन्थ से निस्सन्देह बढ़कर है।

(१०) बिल्हण की चौरपञ्चासिका (११वीं श०)—इस ग्रन्थ के नाम 'चौरपञ्चासिका' के कई अर्थ लगाए जाते हैं। एक कहते हैं:—'चोर रचित पचास पद्य'। दूसरे कहते हैं:—'चौर्यरत पर पचास पद्य'। तीसरी श्रेणी के लोग कहते हैं:—"चौर नामक कवि के बनाए हुए पचास पद्य", इत्यादि। किन्हीं किन्हीं हस्तलिखित प्रतियों में इसे 'बिल्हण-काव्य' लिखा है, इससे प्रतीत होता है इसका रचयिता बिल्हण था, वही बिल्हण जो विक्रमाङ्कदेवचरित[1] का ख्यातनामा प्रणेता है। इस ग्रन्थ के काश्मीरी और दक्षिण भारतीय दोनों संस्करण कवि की किंवदन्ती-प्रसिद्ध प्रेयसी राजकुमारी का वर्णन भिन्न भिन्न

१ विक्रमाङ्कचरित पर टिप्पणी के लिए खण्ड ४३ देखना चाहिए।

देते हैं। सम्भवतया कवि ने किसी राजपुत्री के साथ किसी चोर के अनुराग का वर्णन किया हो।

इसमें सुखमय प्रेम के तथा-कथित अनिवर्चनीय दृश्यों का बड़ा मनोरञ्जक सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन है। आदि से अन्त तक शैली सरल, सुन्दर और अवसरानुरूप है। वर्णित भावों में पर्याप्त विविधविधता पाई जाती है। प्रत्येक पद्य का प्रारम्भ 'अद्याऽपि' (आज भी, अभी तक) से होता है और प्रत्येक पद्य तीव्र अनुभूतियों तथा गहन मनोवेगों से भरा हुआ है। एक उदाहरण लीजिए:—

अद्यापि तां प्रणयिनीं मृगशावकाक्षीं,
पीयूषवर्णकुचकुम्भयुगं वहन्तीम्।
पश्याम्यहं यदि पुनर्दिवसावसाने,
स्वर्गापवर्ग वरराज्यसुखं त्यजामि॥

सारे के सारे ग्रन्थ में वसन्त तिलका छन्द है॥

(११) जयदेव—जयदेव बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन के दर्बार के पाँच रत्नों में था। इसके गीतगोविन्द का स्थान संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ काव्यों की श्रेणी में है। लोक प्रियता में इस से बढ़कर किसी और सङ्गीत काव्य का नाम नहीं लिया जा सकता। शताब्दियों तक इसके रचयिता की प्रतिष्ठार्थ इसकी जन्म-वसती में प्रतिवर्ष मनाए जाने वाले उत्सव में रात्रि को गीतगोविन्द के गीत गाए जाते रहे हैं। इसका अपने आपको कविराज कहना बिल्कुल यथार्थ है। सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) द्वारा तैयार किए हुए इसके एक विकृत संस्करण को ही देख कर गेटे (Geothe) ने इसकी बड़ाई करते हुए कहा था—"यदि उत्कृष्ट काव्य का यही लक्षण है कि उसका अनुवाद करना असम्भव है तो जयदेव का काव्य वस्तुतः ऐसा ही है"[१]

---

१ प्रो० ए बी. कीथ (Keith) कृत 'ए हिस्टरी आव् संस्कृत लिटरेचर' (१९२८) पृष्ठ १९५।

बाह्याकृति—गीत गोविन्द की बाह्याकृति के बारे में अनेक मत हैं। भिन्न-भिन्न कला-कोविदों ने रस के भिन्न भिन्न नाम रक्खे हैं; जैसे—सङ्गीत काव्यात्मक रूपक (Lyric drama) (लासेन Lassen), मधुररूपक (Melodrama) (पिशल Pischel), परिष्कृत यात्रा (Refined Yātrā) वॉन श्रॉडर (Von Schrodder), पशुचारकीय रूपक (Pastoral drama) (जोन्स Jones), गीत और रूपक का मध्यवर्ती काव्य (Between Song and drama), (लैवि Lévi)। परन्तु यह ग्रन्थ मुख्यतया काव्य-श्रेणी से सम्बन्ध रखता है। यह बात ध्यान रखने की है कि ग्रन्थकर्ता ने स्वयं इसे सर्गों में विभक्त किया है अंको में नहीं। गीत उत्सवों में मन्दिरों में गाने के उद्देश्य से रचे गए हैं, इसीलिए उनके ऊपर राग और ताल का नाम दिया गया है। सच तो यह है कि साहित्य में यह ग्रन्थ अपने ढंग का आप ही है और कवि की यथार्थ उपज्ञा है। उच्चारणीयपाठ और गीत, कथा, वर्णन और भाषण सब के सब बढ़े विचार के साथ परस्पर गूथे गए हैं।

वर्ण्यविषय—इस सारे ग्रन्थ में १२ सर्ग हैं जो २४ प्रबन्धो (खण्डों) में विभक्त है। प्रबन्धो का उपविभाग पदों या गीतो में किया गया है। प्रत्येक पद या गीत में आठ पद्य हैं। गीतों के वक्ता कृष्ण, राधा या राधा की सखी हैं। अत्यन्त नैराश्य और निरवधि वियोग को छोड़कर बचे हुए भारतीय-प्रेम के अभिलाष, ईर्ष्या, प्रत्याशा, नैराश्य, कोप, पुनर्मिलन और फलवत्ता इत्यादि सारे रूपों का बड़ी योग्यता के साथ वर्णन किया गया है। वर्णन इतना बढ़िया है कि ऐसा मालूम होता है मानो कवि काम-शास्त्र को कविता के रूप में परिणत कर रहा है। मानवीय रागांश के चित्रण में प्रकृति को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, सो हमें इस काव्य में ऋतुराज, ज्योत्स्ना और सुरभि समीर का वर्णन देखने को मिलता है। और तो और पत्नी तक प्रेम देव की सर्वशक्तिमत्ता की महिमा गाते नज़र आते हैं।

रूपकातिशयोक्ति या अप्रस्तुत प्रशंसा (Allegory)।

कुछ विद्वानों ने इस सारे काव्य को अप्रस्तुतप्रशंसा (Allegory) मानकर वाच्य अर्थ में छुपे व्यङ्ग्यार्थ को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

उनके मत से कृष्ण मनुष्यात्मा के प्रतिनिधि हैं, गोपियों की क्रीडा अनेक प्रकार का वह प्रपञ्च है जिसमें मनुष्यात्मा अज्ञानावस्था में फँसा रहता है, और राधा ब्रह्मानन्द है। कृष्ण ही कवि का उपास्य देव था, इस बात से इनकार नहीं हो सकता।

शैली—जयदेव वैदर्भी रीति का अनुगामी है। उसने कभी-कभी दीर्घ समासों का भी प्रयोग किया अवश्य है किन्तु उसकी रचना में दुर्बोधता का या क्लिष्टान्वयता का दोष नहीं आया है। सच तो यह है कि ये गीत सर्व-साधारण के सामने विशेष-विशेष उत्सवों में गाने के लिए लिखे गए थे [अतः उनको सुबोध रखना आवश्यक था]। कवि की प्रतिभा ने उसे साहित्य में एक बिल्कुल नई चीज़ पैदा करने के योग्य बना दिया। इन गीतों में असाधारण अकृत्रिमता और अनुपम माधुर्य है। सौन्दर्य में, सङ्गीतमय वचनोपन्यास मे और रचना के सौष्ठव में इसकी शैली की उपमा नहीं मिलती है। कभी लघुपदों की वेगवती धारा द्वारा और कभी चातुर्य के साथ रचित दीर्घसमासों की लयपूर्ण गति द्वारा अपने पाठक या श्रोता पर यथेच्छ प्रभाव डालने की इसमें अद्भुत योग्यता है। यह नाना छन्दों के प्रयोग में ही कृतहस्त नहीं है किन्तु यह चरण के मध्य और अन्त दोनो तक में एक-सी तुक लाने में भी अद्वितीय है। उदाहरण देखिए:—

हरिरभिसरति वहति मधुपवने,
किमपरमधिक सुखं सखि भवने।

इस तुकान्त रचना को देखकर किसी किसी ने कह डाला है कि शायद गीतगोविन्द का निर्माण अपभ्रंश के किसी नमूने के आधार पर हुआ होगा; परन्तु यह अनुमान ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी रचना का आधार अन्त्यानु-प्रास है जो संस्कृत में जयदेव के काल से बहुत पहले से प्रसिद्ध चला आ रहा है। तात्पर्य यह है कि जयदेव की शैली की जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। इसने मानवीय रागात्मक भाव के साथ प्रकृति-सौन्दर्य का सम्मिश्रण तो बड़ी योग्यता से किया ही है भावानुरूप ध्वनि का भी इस

रीति से प्रयोग किया है कि इसकी कृति का अनुवाद हो ही नहीं सकता है। इस तथ्य को विशद करने के लिए एक उदाहरण नीचे दिया जाता है। राधा कहती है (सर्ग ८)—

कथितसमयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम्,
मम विफलमिदममलरूपमपि यौवनम्।
यामि हे कमिह शरणं सखीजनवचनवञ्चिता,
मम मरणमेव वरमिति वितथ केतना॥
किमिति विषहामि विरहानलमचेतना॥ यामि हे...

तीसरे सर्ग में नदी-तट के कुञ्जगृह में बैठे २ माधव कहते हैं:—

मामियं चालिता विलोक्य वृतं वधूनिचयेन,
सापराधतया मयापि न वारिताऽतिभयेन॥
हरि हरि हतादरतया गता सा कुपितेव॥
किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिर विरहेण।
किं धनेन जनेन किं मम जीवितेन गृहेण॥ हरि हरि

इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं और अनेक कवियों ने इसके अनुकरण पर लिखने का प्रयत्न किया है[१]॥

(१२) शीलाभट्टारिका—यद्यपि सूक्ति-सङ्ग्रहों में और भी अनेक सङ्गीत (खण्ड-) काव्य-प्रणेताओं के उल्लेख मिलते हैं तथापि वे लगभग इस योग्य नहीं हैं कि यहाँ उनका परिचय दिया जाए। हाँ, शीलभट्टारिका का नामोल्लेख करना अनुचित न होगा क्योंकि इसके कई पद्य वस्तुतः परम रमणीय हैं। बानगी का एक पद्य देखिए:—

दूति ! त्वं तरुणी, युवा स चपलः, श्यामास्तपोभिर्दिशः,
सन्देशः सरहस्य एष विपिने सङ्केतकाऽऽवासकः।

---

१ जयदेव के सम्बन्ध में मूल्य की केवल एक ही चीज और है और वह है। हिन्दी में हरिगोविन्द की प्रशस्ति यह सिक्खों के 'आदि ग्रन्थ' में सुरक्षित है॥

भूयो भूय इमे वसन्तमरुतश्चेतो नयन्त्यन्यथा,
गच्छ क्षेमसमागमाय निपुणं रक्षन्तु ते देवताः ॥

इसकी भाषा नैसर्गिक और शैली सौष्ठवशालिनी है। इसका प्रिय छन्द शार्दूल-विक्रीडित है ॥

(३८) सूक्ति-सन्दर्भ ।

सूक्तिसन्दर्भ वे ग्रन्थ हैं जिनमें पृथक् पृथक् काव्य-कलाकारों की कृतियों में से चुने हुए पद्य सङ्गृहीत हैं। काल-दृष्टि से वे अधिक पुराने नही हैं, पर उनमें सामग्री पर्याप्त पुरानी सुरक्षित है। परन्तु इन पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें परस्पर बहुत भेद देखा जाता है। एक सूक्ति-सन्दर्भ में एक पद्य एक कवि के नाम से दिया हुआ है तो दूसरे में वही पद्य दूसरे कवि के नाम से। इससे प्रकट होता है कि कवियों के इतिहास की कोई यथार्थ परम्परा न होने के कारण पुराने समय में भी सङ्ग्रहकारों को पद्यों के रचयिताओं के नाम निर्धारित करने में बड़ी कठिनता पड़ती थी। संस्कृत में अनेक सूक्ति-सन्दर्भ हैं; परन्तु यहाँ केवल अधिक महत्त्वपूर्णों का ही परिचय दिया जाता है।

(१) कवीन्द्रवचन समुच्चय—अबतक प्रकाश में आए सूक्ति-ग्रन्थो में यह सब से पुराना है। इसका सम्पादन डा. ऐफ. डब्ल्यू. टॉमस (Thomas) ने बारहवीं शताब्दी की एक नेपाली हस्तलिखित प्रति से किया था। इसमें पृथक् पृथक् कवियो के ५२५ श्लोक संगृहीत हैं; परन्तु उनमें से सब के सब १००० ई० से पहले के हैं॥

(२) सदुक्तिकर्णामृत (या, सूक्तिकर्णामृत)—इसकी रचना १२०५ ई० में बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन के एक सेवक श्रीधरदास ने की थी। इसमें ४४६ कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं। इन कवियों में से अधिकतर बङ्गाली ही हैं॥

(३) सुभाषित मुक्तावली—इसका सम्पादक जल्हण है जिसका प्रादुर्भाव काल ईसा की १३वीं शताब्दी है[1]। इसमें पद्यों की स्थापना विषय-क्रम से की गई है। 'कवि और काव्य' पर इसका अध्याय बड़ा उपयोगी है। क्योंकि इससे कई कृतिकारों के बारे में अनेक निश्चित बात मालूम होती हैं।

(४) शार्ङ्गधरपद्धति—इसे १३६३ ई० में शार्ङ्गधर ने लिखा था। १६३ खण्डों के अन्दर इसमें ४६८९ श्लोक हैं। कुछ श्लोक शार्ङ्गधर के अपने बनाए हुए भी हैं। सूक्तिसन्दर्भों में यह सब से अधिक महत्त्वशाली है।

(५) सुभाषितावली— इसका सम्पादन १५वीं शताब्दी में वल्लभदेव ने किया था। इसमें १०१ खण्डो में ३५० कवियों के ३५२७ पद्य सङ्कलित हैं। एक सुभाषितावली और है। उसका संग्रहकर्ता श्रीवर है जो जोनराज का पुत्र या शिष्य था। ये जोनराज और श्रीवर वही जोनराज और श्रीवर हैं जिन्होंने कल्हण के बाद उसकी राजतरङ्गिणी के लिखने का काम आरम्भ रक्खा था। यह दूसरी सुभाषितावली १५वीं शताब्दी की है और इसमें ३५० से भी अधिक कवियों के श्लोक सङ्कलित हैं।

(३९) औपदेशिक (नीतिपरक) काव्य

संस्कृत साहित्य में औपदेशिक काव्य के होने के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। इसके प्राचीनतम चिह्न ऋग्वेद में पाए जाते हैं। उसके पश्चात् ऐतरेय ब्राह्मण में शुनः शेप के उपाख्यान में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उपनिषदों में, सूत्रग्रन्थों में, मन्वादि राजधर्म शास्त्रों में और महाभारत में नीति के अनेक वचन मिलते हैं। पञ्चतन्त्र और हितोपदेश तो ऐसे नीति-वचनों से भरे हुए हैं जो बिल्ली, चूहे, गधे, शेर इत्यादि के मुँह से सुनने पर बड़े विचित्र प्रतीत होते हैं। यह बात हम पहले ही कह आए हैं कि भर्तृहरि का नीतिशतक औपदेशिक (नीतिपरक) काव्य में बड़ा महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ है और यह भी संकेत किया जा चुका है कि सूक्ति-सन्दर्भ ऐसे

१ 'मद्रास सूची-ग्रन्थ (Catalogue) के २०, ८११४ के अनुसार इसे १२७५ ई० में वैद्यभानु पण्डित ने जल्हण के लिए लिखा था।

उदाहरणों से भरे पड़े हैं। नीतिविषयक कुछ अन्य ग्रन्थों का परिचय नीचे दिया जाता है।

(१) चाणक्य नीतिशास्त्र—(जिसे राजनीतिसमुच्चय, चाणक्य राजनीति, वृद्ध चाणक्य इत्यादि कई नामों से पुकारते हैं)। इसका रचयिता चन्द्रगुप्त का सचिव चाणक्य (जो अर्थ-शास्त्र के रचयिता के नाम से प्रसिद्ध है) बतलाया जाता है। परन्तु इसका पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता। इसके कई संस्करण प्रचलित हैं जिनमें पर्याप्त भेद है। उदाहरण के लिए, एक संस्करण में कुल ३४० श्लोक हैं जो १७ अध्यायों में बराबर-बराबर बँटे हुए हैं; परन्तु भोजराज-सम्पादित दूसरे में आठ अध्याय और ५७६ श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में सब प्रकार के नीति वचन मिलते हैं। उदाहरणार्थ :—

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥[1]

शैली सरल-सुबोध है और बहु-व्यापी छन्द अनुष्टुप् है।

(२—४) नीति-रत्न, नीति-सार और नीति-प्रदीप छोटे-छोटे नीति-विषयक सन्दर्भ हैं जिनके रचयिता क्रमशः वररुचि, घटकर्पर और वेतालभट्ट कहे जाते हैं। इनके निर्माण-काल का ठीक-ठीक पता नहीं। इनमें कोई कोई पद्य वस्तुतः स्मरणीय हैं।

(५—७) समय-मातृका, चारु-चर्या और कला-विलास का रचयिता (११वीं शताब्दी का) महाग्रन्थकार क्षेमेन्द्र प्रसिद्ध है। दूसरे ग्रन्थो की अपेक्षा इन ग्रन्थों से लेखक की कुशलता अधिक अच्छी तरह प्रकट होती है।

दूसरे लेखकों के और छोटे-छोटे कई ग्रन्थ हैं; परन्तु वे यहाँ उल्लेख के अधिकारी नहीं हैं।

---

१ राजा लोग एक ही बार आज्ञा करते हैं, पण्डित लोग एक ही बार बात कहते हैं, कन्याओं का दान एक ही बार किया जाता है। ये तीनों चीजें एक ही बार होती हैं।

अध्याय ६

ऐतिहासिक काव्य

चौथे अध्याय मे हम काव्य-ग्रन्थों का साधारणरूप से वर्णन कर चुके हैं। इस अध्याय में ऐतिहासिक काव्यों का वर्णन किया जाएगा जो संस्कृत में उपलभ्यमान हैं। वाङ्मय के इस विभाग में भारत ने कुछ अच्छा काम करके नहीं दिखाया है। संस्कृत में इतिहास का सब से बड़ा लेखक कल्हण है। इसमें विवेचनात्मक विचार करने की शक्ति है और इसने नाना साधनों से आसन्न भूतकाल के इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया था, जिसकी घटनाओं के बारे में यह निष्पक्ष सम्मति प्रकट कर सकता है। इतना होने पर भी, आजकल के ऐतिहासिकों की समानता करने की बात तो एक ओर रही, यह हीरोडोटस की भी समानता नहीं कर सकता। संस्कृत के दूसरे इतिहासकारों की तो स्वयं कल्हण के साथ ज़रा भी तुलना तक नहीं हो सकती।

(४०) भारत में इतिहास का प्रारम्भ

(१) भारत के पुरातन इतिहास के स्रोत के रूप में पुराणों का जो मूल्य है उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है[2]।

(२) पुराणों के बाद पश्चात्कालीन वैदिक ग्रन्थों में पाई जाने वाली गुरुओं और शिष्यों की नामावली का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि

---

१ इसके कारणों के लिए गत खण्ड ३ देखिये। २ देखिये खण्ड २, ७ भाग।

मौखिक परम्परा ने उसे सुरक्षित रक्खा है, तथापि हम यह नहीं कह सकते कि उनमें प्रक्षेप और अत्युक्ति बिल्कुल नहीं है।

(३) तीसरे नम्बर पर बौद्धग्रन्थ हैं जिनमें बुद्ध के सम्बन्ध में अनेक उपाख्यान हैं परन्तु सब को मिला-जुलाकर देखें तो उनमें ऐतिहासिकता का प्रभाव दिखाई देता है। ध्यान देने की बात यह है कि महानाम का महावंश तक अशोक के जीवन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवरण नही देता।

(४) इतिहास नाम के योग्य ऐतिहासिक ग्रन्थ जैन-साहित्य में भी नहीं पाए जाते। पट्टावलियों मे जैनाचार्यों के सूचीपत्रों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(५) शिला लेखों की प्रशस्तियाँ[1] भारत में वास्तविक इतिहास की ओर प्रथम प्रयास है।

(६) वाक्पतिराज के गउडवह[2] को इतिहास के पास पहुँचने वाला ग्रन्थ कह सकते हैं। इसमें उसके आश्रयदाता कन्नौज के अधीश्वर यशोवर्मा (४७० ई० के आस पास) के द्वारा गौड देश के किसी राजा के वध का वर्णन है और भारतीय ग्रामीण-जीवन के कुछ विशद चित्र हैं; परन्तु इसमें इतिहासत्व की अपेक्षा काव्यत्व अधिक है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि गौड देश के राजा तक का नाम नही दिया गया है।

अब हम ऐतिहासिक-काव्य जगत् के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की ओर आते हैं।

(४१) बाण का हर्षचरित।

बाण का हर्षचरित सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखा गया था। इसमें आठ अध्याय हैं जिन्हें उच्छ्वास कहते हैं और कविकृत कादम्बरी के

---

१ ये प्रशस्तियाँ समकालभव राजाओं अथवा दानियों की, काव्य-शैली में लिखी, स्तुतियाँ है। इनका प्रारम्भ ईसा की दूसरी शताब्दी से होता है।

२ देखिये पीछे खण्ड ३४,४।

(४३) बिल्हण¹ (ईसा की ११वीं शताब्दी)

हम इसे इसके अर्द्धैतिहासिक नाटक कर्णसुन्दरी तथा (पूर्वोक्त चौर-पञ्चाशिका के अतिरिक्त) इसके अधिक प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य विक्रमाङ्कदेव चरित के नाते से जानते हैं। कर्णसुन्दरी नाटक में कवि किसी चालुक्य वंशीय-राजा के किसी विद्याधर-पति की कन्या के साथ विवाह का वर्णन करता है। साथ ही साथ इसके द्वारा कवि को अपने आश्रयदाता नृप का एक राजकुमारी के साथ हुआ विवाह भी विवक्षित है। इसके कई पद्य वस्तुतः रमणीय हैं और कवि की प्रसादगुणपूर्ण चित्रण शक्ति का परिचय देते हैं।

विक्रमाङ्कदेव चरित के प्रारम्भ में कवि ने चाणक्य वंश का उद्गम पुराणोक्त कथाओं में दिखाया है, उसके बाद इसने अपने आश्रयदाता नृपति के पिता महाराज आहवमल्ल का (१०४०—६९) वैयक्तिक वर्णन बड़े विस्तार के साथ दिया है। तदनन्तर इसने स्वपालक कल्याणेश्वर चाणुक्यराज महाराज विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६—११२७) का यशोगान किया है। यह यशोगान अपूर्ण और संक्षिप्त जीवन-परिचय-सा है। जैसे बाण की रचना में वैसे ही इसकी रचना में भी ऐतिहासिक काल-दृष्टि का सर्वथा अभाव है। कदाचित् जो बातें राजा के पक्ष में ठीक नहीं बैठती थीं, उनके परिहारार्थ तीन बार शिव का पल्ला पकड़ा गया है। अत्युक्तियों का भी अभाव नहीं है; उदाहरणार्थ हम इसकी तथाकथित गौड-विजयों का उल्लेख कर सकते हैं। स्वयम्वर का वर्णन कालिदास की शैली का है और सुन्दर है; किन्तु यह वास्तविक और ऐतिहासिक प्रतीत नहीं होता। छोटे-छोटे व्यक्तियों का नाम प्रायः छोड़ दिया गया है। सारी कविता का स्वरूप इतिहास-जैसा कम, काव्य-जैसा अधिक है। इसीलिए इसमें वसन्त का, काम-वासना को जागरित करने में वसन्त के प्रभाव का, जल-विहार का, वर्षानिलों के

---

१ इसकी गीति-रचना चौरपञ्चाशिका के लिए ३७वें खण्ड का १०वां भाग देखिये।

आगमन का और शरद् के आमोद-प्रमोदों का विस्तृत वर्णन है। आहवमल्ल और विक्रमादित्य दोनों नायक सौन्दर्य के उच्चतम आदर्श और शेष सब बुरे हैं। इनमें १८ सर्ग हैं। अन्तिम सर्ग में कवि ने स्वजन्मभूमि काश्मीर के राजाओं का कुछ वर्णन और आत्मपरिचय दिया है जिस में अपने आप को इसने घुमक्कड़ पण्डित लिखा है। यह व्याकरण के अनुभवी विद्वान् ज्येष्ठकलश का पुत्र था। यह स्वयं वेद का विद्वान् और महाभाष्य तथा अलङ्कार-ग्रन्थों का अध्येता था। यह एक देश से दूसरे देश में घूमता घामता विक्रमादित्य षष्ठ के दरबार मे पहुँचा और वहीं रहने लगा। यहाँ यह विद्यापति की उपाधि से विभूषित किया गया।

बिल्हण की गिनती इतिहास के गम्भीर लेखकों मे की जा सकती है। इसके उक्त ग्रन्थ का काल १०८८ ई० से पहले पहले माना जाना उचित है, कारण कि—

(१) यह विक्रमादित्य के दक्षिण पर आक्रमण के सम्बन्ध में, जो १०८८ में हुआ बिल्कुल चुप है।

(२) क्योंकि इसमें काश्मीर का हर्षदेव युवराज कहा गया है, महाराज नहीं। वह महाराज १०८८ ई० मे बना था।

शैली—बिल्हण की शैली वैदर्भी है और वह प्रसादगुण पूर्ण चित्रण का उत्कृष्ट लेखक है। उदाहरण के लिए देखिए आहवमल्ल के अन्तिम क्षणों का वर्णन :—

जानामि करिकर्णान्तचञ्चलं हतजीवितम्।
मम नान्यत्र विश्वासः पार्वतीजीवितेश्वरात्॥
उत्सङ्गे तुङ्गभद्रायास्तदेष शिवचिन्तया।
वाञ्छाम्यहं निराकर्तुं देहग्रहविडम्बनाम्[1]॥

---

१ मैं जानता हूँ कि यह अभागा जीवन हाथी के कान के किनारे के तुल्य चञ्चल है। पार्वती के जीवन धन (शिव) को छोड़कर किसी अन्य में मेरी आस्था नहीं है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि शरीरधारण के इस साँग को शिव का ध्यान करते हुए तुङ्गभद्रा नदी की गोदी में समाप्त कर दूँ।

यह लम्बे लम्बे समासों का प्रयोग नहीं करता और न अनुप्रास तथा श्लेष की भी भरमार करता है। इसका वचन-विन्यास साधारणतया यथार्थ है।

कहीं कहीं इसकी रचना में कृत्रिमता आजाने के कारण अर्थ-मान्द्य हो जाता है; किन्तु प्रायः इसकी रचना विशदता और प्रसाद का आदर्श है। इसने इन्द्रवज्रा (छः सर्गों मे) और वंशस्थ (तीन सर्गों में) वृत्त का प्रयोग सब से अधिक किया है।

(४४) कल्हण की राजतरङ्गिणी (११४९–५० ई०)।

इसमें सन्देह नहीं कि कल्हण[1] संस्कृत साहित्य मे सब से बड़ा इतिहासकार है। सौभाग्य से हमें इसकी अपनी लेखनी से इसके जीवन के सम्बन्ध में बहुत सी बातें मालूम हैं। इसका जन्म काश्मीर में ११०० ई० के आस-पास हुआ था। इसका पिता चम्पक काश्मीराधिपति महाराजा हर्ष (१०८९–११०१) का सच्ची भक्ति से भरा हुआ सेवक था। षड्यन्त्र द्वारा महाराजा का वध हो जाने पर कल्हण के परिवार को राज-दरबार का आश्रय छोड़ना पड़ा था। यह घटना उस निष्पक्ष तथा सम दृष्टि का पता देती है, जिसके द्वारा कल्हण अपने पात्रों का चरित्र चित्रित कर सकता था। यह पक्का शैव-सम्प्रदायी था किन्तु शैव-दर्शन की तान्त्रिक प्रक्रियाओं की ओर इसकी अभिरुचि नहीं थी। यह सहिष्णु प्रकृति का था और बौद्ध धर्म[2] तथा इसके अहिंसा सिद्धान्त का बड़ा आदर करता था।

कल्हण ऐतिहासिक महाकाव्यो (रामायण, महाभारत) का महा-विद्वान् था। इसने महाकाव्यों और बाण के हर्षचरित जैसे ग्रन्थों का विस्तृत अध्ययन किया था। इसका बिल्हण से घनिष्ठ परिचय था और फलित

---

१ मङ्ख ने इसे कल्याण का अधिक सुन्दर नाम देकर इसका नामोल्लेख किया है। २ सच तो यह है कि इससे बहुत पहले ही बौद्धधर्म ने हिन्दूधर्म के साथ मेल कर लिया था क्षेमेन्द्र ने बुद्ध को विष्णु का एक अवतार मानकर उसकी स्तुति की थी, और कल्हण के समय से पहले ही लोग 'विवाहित' भिक्षुओं को जानते थे।

ज्योतिष[1] के ग्रन्थों का इसे अच्छा ज्ञान था। इसमें सन्देह नहीं कि काश्मीर का विस्तृत इतिहास लिखने का जो काम इसने हाथ मे लिया था वह बडा कठिन काम था। इसके मार्ग में दुर्लङ्घ्य बाधाएँ थीं। इसके समय के पहले ही राजवंश के पुराने तिथि-पत्र या तो नष्ट हो चुके थे या इनमें अविश्वसनीय बातें और अशुद्ध तिथियाँ उपलब्ध होती थीं। कल्हण मे ऐतिहासिक रुचि और बुद्धि थी, और इसने प्राप्त सारे साधनों से पूरा-पूरा फायदा उठाया। किन्तु पुराने इतिहास की इसकी दी हुई तिथियाँ सही नही हैं। उदाहरण के लिए, राजतरङ्गिणी में अशोक की तिथि आजकल की प्रख्यात तिथि से एक हज़ार साल पहले की मिलती है। कल्हण स्वयं कहता है कि मैंने ग्यारह पुराने ग्रन्थों (जो सब अब लुप्त हो चुके हैं) और नीलमत पुराण को देखकर यह ग्रन्थ लिखा है। इसने जनश्रुति-विश्रुत प्राचीनतर नृपो की संख्या बावन बताकर नीलमत के आधार पर पहले चार का नामोल्लेख किया है। इसके बाद यह पैंतीस के बारे में बिल्कुल मौन साध कर पद्ममिहिर[2] के आधार पर अगले आठ राजाओं के वर्ग का प्रारम्भ लव से करता है। अन्तिम पाँच राजाओं का पता इसे छविल्लाकर से लगा था। तात्कालिक इतिहास के विषय में कल्हण की दी हुई बातें विश्वसनीय और मूल्यवान् हैं। सब प्रकार के उपलम्य शिलालेखों का, भूदान लेखों का, प्रशस्तियों का और महलों मन्दिरों और स्मारकों के निर्माण के वर्णन से पूर्ण लेख-पत्रों का निरीक्षण इसने अपने आप किया था। इतना ही नहीं, इसने सिक्कों का अध्ययन और ऐतिहासिक भवनों का पर्यवेक्षण किया। काश्मीर की उपत्यका और अधित्यका का इसे पूरा-पूरा भौगोलिक ज्ञान था। इसी के साथ-साथ, इसने पृथक्-वंशों के अपने ऐतिहासिक सन्दर्भों तथा सब प्रकार की स्थानिक दन्तकथाओं से भी काम लिया। अपने समय की तथा

---

१ वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता के विषय में किए हुए इसके उल्लेखों को देखिए। २ पद्ममिहिर का आधार कोई हेलाराज पाशुपत था, जिसका ग्रन्थ कोई बृहद्ग्रन्थ होगा मगर वह कल्हण से पहले ही लुप्त हो चुका था।

अपने समय से पचास साल पहले की घटनाओं का विस्तृत ज्ञान इसने अपने पिता तथा अन्य लोगो से पूछ पूछ कर प्राप्त किया था।

कल्हण बड़ा उत्साही और संयत जगद्दर्शी था। इसका पात्रों का चित्रण वास्तविक और पक्षपातशून्य है। इसका दिया हुआ अपने समय के शासक महाराज जयसिंह का वर्णन विरुदाख्यान से सर्वथा मुक्त है। इसके रचित अपने देश निवासियों के गुणावगुण के शब्द-चित्र, विशद, यथार्थ और रोचक हैं। इसका कथन है कि काश्मीरी लोग सुन्दर, झूठे और अस्थिर होते हैं। सैन्य अव्यवस्थ तथा भीरु हैं—अफ़वाह सुनकर भागने को तैयार हैं। राजपुत्रों में साहस और स्वामि-भक्ति है। राजकर्मचारी लोभी, अत्याचारी और अस्वामि-भक्त हैं। किन्तु रिल्हण और अलंकार जैसे राजमन्त्रियों की यह सच्ची प्रशंसा करता है।

पात्रों का चरित्र अंकित करने में कल्हण अपने पुरस्सर बाण, पद्मगुप्त या बिल्हण तक से बहुत बढ़ा चढ़ा है। विनोदी उक्तियों के अवसर पर यह उनके कहने में नहीं चूकता। "वंशानुचरित सम्बन्धी इसकी सूचनाएँ दर्शनीय हैं, और पार्वत्य प्रदेश का इसका वर्णन इसे शायद देखे बिना ही युद्ध-क्षेत्रों का वर्णन करने वाले लेवि जैसे इतिहासकार से अत्यन्त ऊँचा उठा देता है[1]।"

परन्तु कुछ बन्धन कल्हण को हानि पहुँचाए बिना न रहे। काश्मीर की भौगोलिक एकान्त-स्थिति ने इसकी दृष्टि को संकुचित बना दिया था। हमें इसमें बाह्य जगत् के साथ काश्मीर के सम्बन्ध का अभिप्रशसन (Appreciation) नहीं मिलता। इसने जीवन को निस्सन्देह भारतीय दृष्टिकोण से देखा है। यही कारण है कि महत्त्वपूर्ण घटनाओं के चक्र में भाग्य मुख्य विधाता है और किसी असाध्य रोग के समान ही जन्तर-मन्तर भी मृत्यु का एक कारण है। इसमें आधुनिक युग की वैज्ञानिक मनोवृत्ति का भी अभाव है। यह अपने अधिकारियों के अन्योन्य मत-भेद के विषय में हमें कुछ नहीं बताता।

---

१ ए० बी० कीथ का संस्कृत साहित्य का इतिहास। (इंग्लिश), पृष्ठ १६०।

इसमें सन्देह नहीं कि भारवि और माघ की-सी सूक्ष्म कवि-कल्पनाएँ इसमें देखने को नहीं मिलतीं। किन्तु अनुमान होता है कि अपने आगे पूर्ण करने का महत् कार्य देख कर ही यह ऐसी बातों के चक्र में नहीं पड़ा। इसीलिए इसकी रचना में प्रासङ्गिक वर्णन[1] थोड़े और मर्यादा-पूर्ण हैं। किन्तु इस बात को यह मानता था कि कवि की केवल प्रतिभा ही पाठक के सामने अतीत का चित्र खड़ा कर सकती है। साहित्य-शास्त्र की आज्ञा का पालन करने के लिए काव्य में किसी एक रस का प्राधान्य होना आवश्यक है और इसकी रचना में वैराग्य की प्रधानता है। इसकी औपदेशिक मनोवृत्ति की ओर भी दृष्टि जाए बिना नहीं रहती। पात्रों के विविध कार्यों के उचितानुचित होने का विचार धर्म-शास्त्रोक्त सिद्धान्तो के आधार पर एक विविक्त नैतिक मनोवृत्ति के अनुसार किया गया है। काश्मीर पर शासन करने की कला के विषय में अपने विचारों को, जो प्रायः कौटिलीय अर्थ-शास्त्र पर अवलम्बित हैं, इसने ललितादित्य के मुँह से कहलवाया है।

शैली—हम पहले कह चुके हैं कि कल्हण की राजतरङ्गिणी की रचना काव्य की उच्चतर शैली में नही हुई है। इसे छन्दोबद्ध गद्य कहना चाहिए जिसकी तुलना यूरोप के मध्यकालीन इतिहासों से की जा सकती है। भाषा में सादगी और सुन्दरता दोनों हैं। साथ ही इसमें धारा का सम-प्रवाह भी है जो इस ग्रन्थ की एक मुख्य विशेषता है। कभी कभी कवि हमें अपनी सच्ची कवित्व शक्ति का भी परिचय देता है। यह शक्ति शब्द-चित्रों में खूब प्रस्फुटित हुई है। उदाहरण के लिए हर्ष के निर्जनवास और विपत्ति की करुण कहानी देखी जा सकती है। सम्भाषण के प्रयोग से इस काव्य में चटपटापन और नाटकीय आस्वाद पैदा हो गया है। दूसरी तरफ़, 'द्वार' (निरीक्षणार्थ सीमा पर बड़ी चौकी), 'पादाग्र' (मालगुज़ारी का बड़ा दफ्तर) इत्यादि पारिभाषिक शब्दो के लक्षण दिए बिना ही उनका प्रयोग करने से कहीं-कहीं इसमें दुरूहता आ गई है। लोष्टक, लोठक और लोठन

---

१ जैसे, ऋतुओं के सूर्योदय के, चन्द्रोदय के, जल-विहार विस्तृत वर्णन इत्यादि।

जैसे एक ही नाम के भिन्न-भिन्न रूपों के प्रयोग ने इस दुरूहता में और भी वृद्धि कर दी है।

हर मौके पर उपमाओं का प्रयोग करने का इसे बड़ा शौक है; इसके लिए पर्वत, नदी, सूर्य, और चन्द्रमा से अधिक काम लिया गया है। इसकी रचना में देखने में आने वाली एक और विशेष बात यह है कि इसमें श्लेष और विरोधाभास अलङ्कारों की अधिकता है। श्लोक छन्द की अखण्ड सादगी को सौभाग्य से बीच-बीच में आने वाले अलंकृत पद्यों ने खण्ड-खण्ड कर दिया है। जटिलता के स्थलों में भी इसकी भाषा में एक असामान्य चमत्कार है। देखिए—राजा के चाटुकारों के सम्बन्ध में लिखता हुआ कहता है—

ये केचिन्ननु शाठ्यमौग्ध्यनिधयस्ते भूभृतां रञ्जकाः[1]।

अमरवासिनी देवी के एक रमणीय वर्णन में कहा गया है :—

भास्वद्बिम्बाधरा कृष्णा-केशी सितकराननना।
हरिमध्या शिवाकारा सर्वदेवमयीव सा[2]॥

(४५) छोटे-छोटे ग्रन्थ।

(१) कुमारपालचरित या द्व्याश्रय काव्य। इसे जैनमुनि हेमचन्द्र ने (१०८८–११७२) ११६३ ई० के आस-पास लिखा था। इसमें चालुक्य नृपति कुमारपाल और उसके बिल्कुल पूर्वगामियों का इतिवृत्त वर्णित है। इसमें (२० संस्कृत और ८ प्राकृत में) कुल २८ सर्ग हैं। इसका मुख्य लक्ष्य अपने व्याकरण में दिये संस्कृत और प्राकृत के व्याकरणों के नियमों के

१ जो शठता और मूर्खता के निधान हैं, वही राजाओं को खुश रखने वाले हैं। २ उसका निचला ओठ बिम्बाफल जैसा चमकदार (सूर्य-युक्त) था, उसके बाल काले (कृष्ण-युक्त) थे, उसका मुख चन्द्रमा जैसा (चन्द्रमा-युक्त) था, उसकी कमर सिंह की कमर के समान (विष्णु-युक्त) थी, उसका मुख कल्याणकारी (शिव-युक्त) था। इस प्रकार मानों वह देवताओं को लेकर बनाई गई थी।

उदाहरण देना है। यह जैनधर्म का एक स्पर्धावान् प्रचारक था और इसके वचन पक्षपात से शून्य नहीं हैं। सोलहवें से बीसवें तक के सर्गों में कुमारपाल को जैनधर्म की हितकारिणी नीति पर चलने वाला कहा गया है।

(२) पृथ्वीराजविजय में पृथ्वीराज चाहमान (चौहान) की विजयों का वर्णन दिया गया है। यह कृति ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े काम की है; किन्तु इसकी एक ही खण्डित और त्रुटिपूर्ण हस्तलिखित प्रति मिली है। इसके रचयिता के नाम का पता नहीं। शैली बिल्हण की-सी है। इसका उल्लेख जयरथ ने अपनी अलङ्कार विमर्शिनी में (१२००) किया है और इस पर काश्मीर के जोनराज की (१४४८) टीका है। सम्भव है इसका लेखक काश्मीरी ही हो।

(३) सन्ध्याकर नन्दी के रामपाल चरित में बङ्गाल के रामपाल के (१०८४-११३०) कौशलों का वर्णन है।

(४) (काश्मीरी) जल्हण का सोमपाल विलास सुस्सल द्वारा पराजित किये हुए नृप सोमपाल विलास की कथा सुनाता है। मङ्ख ने इस कवि को काश्मीर के नृप अलङ्कार की सभा का सदस्य लिखा है।

(५) शम्भुकृत राजेन्द्रकर्णपूर काश्मीर के भूपाल हर्षदेव की प्रशस्ति है।

(६-९) सोमेश्वरदत्त द्वारा (११७९-१२६२) रचित कीर्तिकौमुदी और सुरथोत्सव, अरिसिंह द्वारा (१३वीं शताब्दी) रचित सुकृतसंकीर्तन और सर्वानन्द द्वारा (१३वीं शताब्दी) रचित जगदुचरित न्यूनाधिक प्रशस्तियाँ ही हैं जो यहाँ विस्तृत परिचय देने के योग्य नहीं हैं।

(१०) अन्त में यहाँ काश्मीर के उन लोगो के नामों का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है जिन्होंने राजतरङ्गिणी को पूरा करने का काम जारी रक्खा। जोनराज ने (मृत्यु १४५९) उसके शिष्य श्रीवर ने और श्रीवर के शिष्य शुक ने राजतरङ्गिणी की कथा को काश्मीर को अकबर द्वारा अपने राज्य में मिलाए जाने तक आगे बढ़ाया; किन्तु इनकी रचना में मौलिकता और काव्य-गुण दोनों का अभाव है।

अध्याय ७

गद्य-काव्य (कहानी) और चम्पू ।

(४६) गद्य-काव्य का आविर्भाव ।

महाकाव्य के आविर्भाव के समान गद्य-काव्य का भी आविर्भाव रहस्य से आवृत है । हमें दण्डी, सुबन्धु और बाण जैसे यशस्वी लेखकों के ही ग्रन्थ मिलते हैं । इनसे पहले के नमूनों के बारे में हमें कुछ पता नहीं है । बाण ने अपने हर्षचरित की भूमिका में कीर्तिमान् गद्य-लेखक के रूप में भट्टार हरिचन्द्र का नाम अवश्य लिखा है, पर इस प्रसिद्ध लेखक के विषय में इससे अधिक और कुछ मालूम नहीं है । सम्भव होने पर भी इसका निश्चय नहीं कि यह लेखक दण्डी से प्राचीन है ।

गद्य-काव्य और सर्वसाधारण की कहानी में भेद है । पहले की आत्मा श्रम-निष्पादित वर्णन और दूसरे की आत्मा वेगवान् और सुगम कथा-कथन है । इस प्रकार यह फलित होता है कि गद्य-काव्य की रचना रमणीय काव्य शैली के आधार पर होती है । अतः शैली की दृष्टि से इसके प्रादुर्भाव का काल जानने के लिए हमें साधारण कथा-कथन को छोड़ कर रुद्रदामा के शिलालेख और हरिषेणाकृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति की ओर पीछे मुड़ना होगा । गद्य-काव्य के विकास पर पड़ा हुआ वास्तविक काव्य का यह प्रभाव कई शताब्दियों तक रहा होगा ।

पीटरसन ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि भारतीय गद्य-काव्य यूनानी गद्य-काव्य का ऋणी है । दोनों में अनेक समानताएँ हैं;

उदाहरण के लिए स्त्रैण-सौन्दर्य का और पशु एवं लता-पादपों में दाम्पत्य-प्रेम का वर्णन इत्यादि बातें बताई जा सकती हैं। इसमें युक्ति यह दी जाती है कि जैसे यूनानी फलित ज्योतिष का प्रभाव भारतीय फलित ज्योतिष पर बहुत पड़ा है वैसे ही गद्य-काव्य (कथा आख्यायिका) के क्षेत्र में भी यूनान ने भारत पर अपना प्रभाव डाला होगा। ऐम. लैकोटे ने यूनानी गद्य-काव्य और गुणाढ्यकृत बृहत्कथा मे कुछ समानताएँ दिखलाई हैं; निदर्शनार्थ, दोनों में वायव्य प्राणियों की जाति का वर्णन, नायक और नायिका के कष्ट तथा अन्त में उनकी विजय, उनका वियोग और पुनर्मिलन, और उनके वीरोचित पराक्रमों का वर्णन तथा ऐसी ही और भी कई बातें पाई जाती हैं[1]। इससे उसने यह परिणाम निकाला कि बृहत्कथा यूनानी गद्य-काव्य की ऋणी है। बाद मे उसने अपनी सम्मति बदल दी और कहा कि यूनानी गद्य-काव्य भारतीय साहित्य का ऋणी है। किन्तु ये सब परिणाम अपर्याप्त आधार पर आश्रित हैं। भारतीय और यूनानी आख्यायिकाओं में साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक विचार करने योग्य है। "एक द्रुतपाठ से यह बात जानी जा सकती है कि दोनों जातियों का आख्यायिका साहित्य बाह्यरूप और अन्तरात्मा दोनों की दृष्टि से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है[2]।"

---

[1] यूनानी कहानी और सुबन्धुकृत वासवदत्ता की कथा में घटना-साम्य की कुछ और बातें ये हैं—

स्वप्न द्वारा परस्पर प्रेम का प्रादुर्भाव, स्वयंवर, पत्र-व्यवहार, मूर्च्छा, विशाल अनुशोचन, आत्मघात की इच्छा।

निम्नलिखित साहित्यिक रचना-भागों का साम्य भी दर्शनीय है :—

कथा में कथा तथा उपकथा, प्रकृति-वर्णन, विस्तृत-व्यक्ति-वर्णन, कथादि के विदग्धतापूर्ण संकेत, प्राचीन दृष्टान्तों का सुनाना, अनुप्रास इत्यादि (देखिये, ग्रे सम्पादित वासवदत्ता, पृष्ठ ३५—६। अन्त में ग्रे महाशय परिणाम निकालते हुए कहते हैं—"तो भी ये तथा अन्य और साम्य जो दिखलाए जा सकते हैं मुझे कुछ भी सिद्ध करते प्रतीत नहीं होते।")

[2] देखिये ग्रे सम्पादित वासवदत्ता, पृष्ठ ३७।

संस्कृत के गद्य-काव्य (आख्यायिका-साहित्य) में श्रम-निष्पादित वर्णन पर बल दिया जाता है तो यूनानी गद्य-काव्य में सारा ध्यान कहानी की ओर लगा दिया जाता है। इस प्रकरण को समाप्त करते हुए हम कह सकते हैं कि भारतीय और यूनानी गद्य-काव्यों का जन्म परस्पर बिल्कुल निरपेक्ष-रूप से होकर दोनों का पालन-पोषण भी अपनी अपनी सभ्यता तथा साहित्यिक रूढ़ियों के बीच में हुआ।

(४७) दण्डी।

इसके ग्रन्थ—परम्परा के अनुसार दण्डी तीन ग्रन्थों का रचयिता माना जाता है[1]।

दशकुमार चरित (गद्य में कहानी) और काव्यादर्श (अलङ्कार का ग्रन्थ) निस्सन्देह इसी के हैं। उत्तरोक्त ग्रन्थ में इसने जिन नियमों का प्रतिपादन किया है पूर्वोक्त ग्रन्थ में उन्हीं का स्वयं उल्लङ्घन भी कर डाला है। शायद यह इसलिए हुआ है कि 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे'। इसके तीसरे ग्रन्थ के बारे में लोगो ने अनेक कच्ची कच्ची धारणाएँ की हैं। मृच्छकटिक और काव्यादर्श दोनों में समानरूप से आए एक पद्य के आधार पर पिस्चल ने कह डाला कि दण्डी का तीसरा ग्रन्थ मृच्छकटिक होगा; किन्तु भास के ग्रन्थों की उपलब्धि होने पर मालूम हुआ कि वही पद्य चारुदत्त में भी आया है, अतः दण्डी ने वह पद्य चारुदत्त से ही लिया होगा। यह भी कहा जाता है कि शायद इसका तीसरा ग्रन्थ छन्दोविचिति हो जिसका उल्लेख इसने अपने काव्यादर्श में किया है; किन्तु इसका कुछ निश्चय नहीं कि यह शब्द किसी विशिष्ट ग्रन्थ का परामर्श करता है या अलङ्कार के सामान्य शास्त्र का। इसी प्रकार काव्यादर्श में कला-परिच्छेद का भी उल्लेख आता है। यदि यह ग्रन्थ दण्डी का ही होता तो एक

---

१ देखिये राजशेखर का निम्नलिखित पद्य—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयोगुणाः।
त्रयोदण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

पृथक् ग्रन्थ न होकर यह काव्यादर्श का ही एक पिछला अध्याय होता। यह तो निश्चय है कि दण्डी अवन्तीसुन्दरीकथा का, जिसकी यत्नायात शैली सुबन्धु और बाण के ग्रन्थों की शैली की स्पर्धा करती है, रचयिता नहीं है।

वैयक्तिक जीवन—दण्डी के वैयक्तिक जीवन के बारे मे खास करके कुछ मालूम नहीं है। दशकुमारचरित के प्रारम्भिक पद्यों से किसी किसी ने यह धारणा की है कि शायद यह वैष्णव[1] था; किन्तु इस धारणा में इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया कि पूर्वपीठिका (दशकुमार की भूमिका), जिसमें यह पद्य आता है, विद्वानों की सम्मति मे दण्डी की रचना नहीं है। हाँ इतना सम्भव प्रतीत होता है कि यह दाक्षिणात्य और विदर्भ देश का निवासी था। यह वैदर्भी रीति की प्रशंसा करता है, महाराष्ट्री भाषा को उत्तम बतलाता है, कलिङ्ग, आन्ध्र, चोल देशों और दक्षिण भारत की नदियों का नाम लेता है और मध्यभारत के रीति-रिवाजों से खूब परिचित है। उदाहरण के लिए दशकुमार चरित मे विश्रुत की कथा में विन्ध्यवासिनी देवी का वर्णन देखा जा सकता है।

काल—दण्डी का काल भी बड़ा विवादास्पद विषय चला आ रहा है। दशकुमारचरित की अन्तिम कथा मे, जिसे विश्रुत ने सुनाया है, भोज वंश का नाम आया है। इस आभ्यन्तरिक साक्ष्य पर विश्वास करके प्रो० विल्सन ने परिणाम निकाला है कि दण्डी महाराज भोज के किसी आसन्नतम उत्तराधिकारी के शासनकाल में जीवित रहा होगा। इसका तात्पर्य यह है कि दण्डी ईसा की ११वीं शताब्दी मे हुआ; परन्तु कुछ अन्य विचार इसे इससे बहुत ही पहले का सिद्ध करते हैं।

डा० पीटरसन ने जिन आधारों पर इसे ईसा की ८वीं शताब्दी में रक्खा है वे ये हैं:—(१) काव्यादर्श २, २५८-९ में आलङ्कारिक वामन (८वीं श०) की ओर सङ्केत प्रतीत होता है, और (२) काव्यादर्श २,

१ देखिये, एम० आर० काले द्वारा सम्पादित दशकुमारचरित, पृष्ठ ४४ (इंग्लिश भूमिका)।

१६७ वाला पद्य[1] कादम्बरी के उसी वर्णन से बहुत कुछ समानता रखता है। स्वर्गवासी विष्णुकृष्णाचिपलूणकर ने दशकुमारचरित के मन्त्रगुप्त की तथा भवभूति के मालतीमाधव नाटक के पञ्चम अङ्क की कथा में अनेक समानताएँ दिखलाकर यह परिणाम निकाला था कि दण्डी सम्भवतया भवभूति का समकालीन था। बाण ने अपने हर्षचरित की भूमिका में दण्डी का नाम नहीं लिया, तो इससे भी कुछ परिणाम नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि उसने तो भारवि जैसे महाकवियों तक का भी नामोल्लेख नहीं किया है।

शैली का साक्ष्य बतलाता है कि दशकुमारचरित सुबन्धु और बाण के गद्य-काव्यों की अपेक्षा पञ्चतन्त्र या कथासरित्सागर से अधिक मिलता जुलता है। यद्यपि अपने काव्यदर्श में दण्डी कहता है कि "ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्" (समासबाहुल्य से परिपूर्ण ओज गुण ही गद्य का प्राण है), तथापि इसका अपना दशकुमारचरित वासवदत्ता या कादम्बरी के सामने बिल्कुल सरल है। बाण और सुबन्धु से मिलाकर देखें तो दण्डी न तो उतना कठिन है और न उतना कृत्रिमता से पूर्ण। भारतीय प्रायोवाद के अनुसार दण्डी पदलालित्य[2] के लिए प्रसिद्ध है। इस पदलालित्य का अभिप्राय है शब्दों के सुन्दर चुनाव पर आश्रित विच्छित्ति शालिनी और परिष्कृत शैली जिसमें आकर्षण और प्रभाव दोनों हैं। इसके अतिरिक्त दण्डी कथा-सूत्र को नहीं भूलता और न सुबन्धु तथा बाण के समान आयास-भव वर्णनों में अटकता है। ये बातें इसका काल ६०० ई०

---

१ दण्डी—

अरत्नालोक संहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूना यौवनप्रभवं तमः॥

बाण—केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यम-
प्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।

२ उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

के आस-पास सूचित करती हैं; इसी काल का समर्थन दशकुमार चरित में पाई जाने वाली भौगोलिक[1] परिस्थितियों से भी है।

आभ्यन्तरिक साक्ष्य के आधार पर सिद्ध होता है कि दण्डी महाराज भोज के अनन्तरभावी नृप के शासन काल से विद्यमान था; इस विचार के साथ इसके छठी शताब्दी में होने की बात बिलकुल ठीक बैठ जाती है। कर्नल टाड ने किसी जैन इतिहास-व्याकरणोभयान्वित सूचीपत्र के आधार पर भोज नाम के तीन राजाओं का उल्लेख किया है, जो मालवे में क्रमशः ५७५, ६६५, और १०४२ ई, में शासन करते थे। अतः बहुत कुछ निश्चय के साथ इसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि दण्डी ईसा की छठी शताब्दी के अन्त के आस-पास जीवित था[2]।

(४८) दशकुमार चरित।

ग्रन्थ के नाम से सूचित होता है कि इसमें दस राजकुमारों की कहानी है। मुख्य ग्रन्थ का प्रारम्भ सहसा कथा के नायक राजकुमार राजवाहन की कथा से होता है। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं जिन्हें उच्छ्वास कहते हैं।

---

१ देखिए 'रघुवंश और दशकुमारचरित की भौगोलिक बातें', (इंग्लिश) कौलिन्स (१९०७), पृष्ठ ४६। २ दक्खन में विज्जिका नाम के एक कवि ने दण्डी का नाम लेते हुए कहा है—"वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती" यदि यह विज्जिका पुलकेशी द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रादित्य की रानी विजयभट्टारिका ही है तो वह ६६० ई० के आस-पास जीवित थी। इससे दण्डी का ६०० ई० के समीप विद्यमान होना सिद्ध हो जाएगा।

भामह और दण्डी का अन्योन्य सम्बन्ध ध्यान में रखकर दण्डी का काल-निर्णय करने में बड़ा जबरदस्त विवाद चलता रहा है, किन्तु कुछ कारणों से भामह की अपेक्षा दण्डी प्राचीन प्रतीत होता है—(१) रुद्र के काव्यालङ्कार में आता है—'ननुदण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येवालङ्कारशास्त्राणि'। ऐसी ही बात नमि-साधु भी कहता है। ऐसा अनुमान होता है कि ये नाम काल-क्रमानुसार रक्खे गए हैं,

पूर्वपीठिका नाम से प्रसिद्ध भूमिका-भाग में पाँच उच्छ्वास हैं। इसमें सारी कथा का ढाँचा और दोनों राजकुमारों की कहानी आ गई है। इस प्रकार कुमारों की संख्या दस हो जाती है। उत्तरपीठिका नाम से प्रसिद्ध परिशिष्ट भाग में अन्तिम राजकुमार विश्रुत की कहानी पूरी की गई है। शैली के विचार को एक ओर रखकर देखें तो कथा की रूप-रेखा और अन्तरात्मा दोनों की दृष्टि से भी पूर्वपीठिका तथा उत्तरपीठिका दोनों ही दण्डी के मुख्य ग्रन्थ से अलग प्रतीत होती हैं। कहीं कहीं तो विवरणों में भी परस्पर विरोध है। उदाहरण के लिए, पूर्वपीठिका में अर्थपाल तारावली का और प्रमति एक और मन्त्री सुमति का पुत्र कहा गया है, परन्तु मुख्य ग्रन्थ में अर्थपाल और प्रमति दोनों कामपाल के पुत्र कहे गये हैं जिनकी माता क्रमशः कान्तिमती और तारावली हैं। पूर्वपीठिका और उत्तरपीठीका दोनों ही पृथक् पृथक् संस्करणों में इतने पाठान्तरों के साथ उपलब्ध होती हैं कि उन्हें देखकर यही मानना पड़ता है कि सचमुच ये दण्डी के ग्रन्थ का भाग नहीं हैं। शैली की दृष्टि से पूर्वपीठिका का पञ्चम उच्छ्वास शेष उच्छ्वासों से उत्कृष्ट है, इससे प्रतीत होता है कि पूर्वपीठिका में भी दो लेखकों का हाथ है।

जैसा कि हम मेधाविरुद्र के बारे में भामह के ग्रन्थ में भी उल्लेख पाते है। (२) दण्डी की निरूपणशैली अमसृण और अवैज्ञानिक है। इसकी अपेक्षा भामह अधिक मसृण तथा वैज्ञानिक होने के साथ साथ वस्तु के अवधारण, तर्क की तीक्ष्णता और विचार की विशदता में भी इससे बढ़कर है। (३) कभी कभी भामह 'अपरे, अन्ये' इत्यादि कहकर जिन मतों को उद्धृत करता है वे दण्डी में पाए जाते है।

यह भी प्रायः निश्चित ही है कि दण्डी का काव्यादर्श भट्टिकाव्य के बाद का है। भट्टि में प्रायः उन्हीं अलङ्कारों के उदाहरण हैं जिनके लक्षण दण्डी ने दिए हैं किन्तु भट्टि का क्रम तथा भेदोपभेदादि कथन पर्याप्त भिन्न है। यदि उसने दण्डी का अनुसरण किया होता तो ऐसा क्यों होता। परन्तु इतने से भी हम दण्डी के ठीक ठीक समय को नहीं जान सकते, क्योंकि भट्टि और भामह के काल भी अनिश्चित हैं।

कथा का नायक राजवाहन है। उसका पिता राजहंस मगध का
[रा]जा था जो मालवाधीश से परास्त होकर वन में इधर उधर अपने दिन
[व्य]तीत कर रहा था। नायक के नौ साथी भूतपूर्व मन्त्रियों या सामन्तों के
[पु]त्र हैं जो एक एक करके वन मे लाए गए थे। जवान होने पर वे सब के
[स]ब श्रीकाम होकर दिग्विजय के लिए निकले। राजकुमार राजवाहन एक
[ब्रा]ह्मण से अपने साथियों से बिछुड कर पाताल मे जा पहुँचा, और उसके
नौ साथी उसे ढूंढने के लिए निकल पडे। उधर पाताल से लौटने पर जब
राजवाहन ने अपने साथियों को न देखा तब वह भी उनकी खोज मे चल
दिया। अन्त मे वे सब मिल गए और प्रत्येक ने अपनी अपनी पर्यटन-कथा
बारी बारी सुनानी प्रारम्भ की। ये कथाएँ अद्भुत, पराक्रमपूर्ण और विविध-
जातिक हैं। इनके क्षेत्र के विस्तार से मालूम होता है कि कवि की कल्पना-
शक्ति बहुत भारी है। यह समझना भूल है कि इस कथा मे किसी प्रकार
भी तत्कालीन हिन्दू-समाज का चित्र अंकित है। कवि का असली उद्देश्य
मनोरञ्जन की सामग्री उपस्थित करना है न कि सामाजिक अवस्था का
चित्र उतारना। आन्तरिक स्वरूप की दृष्टि से ये कथाएँ गुणाढ्य की
बृहत्कथा मे पाई जाने वाली कुछ कथाओं से मिलती जुलती हैं। इनसे सिद्ध
होता है कि जादू-टोना, मन्तर-जन्तर, अन्ध-विश्वास और चमत्कार ही उस
समय के धार्मिक जीवन का एक अंग थे। इन कथाओं में हम पढ़ते हैं कि
एक आदमी आकाश से गिरता है और उसे कोई राहगीर अपने हाथो में
सँभाल लेता है परन्तु चोट किसी के नही लगती है। मार्कण्डेय मुनि के
शाप से सुरतमञ्जरी नाम की एक अप्सरा चाँदी की ज़ंजीर हो गई थी,
उसने नायक राजवाहन को बाँध लिया, और वह फिर अप्सरा की अप्सरा
हो गई। लोग जुआ खेलने मे, चोरी करने मे, सेंध लगाने मे तथा ऐसे ही
और दूसरे काम करने मे सिद्धहस्त हैं। प्रेम-चित्रो मे जरा ज़रा-सी बातों
को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है जो आजकल के पाठक मे अरुचि
उत्पन्न कर देती हैं। ऐसी बातो का क्रम यहाँ तक बढ़ गया है कि इस
ग्रन्थ को पाठ्य-पुस्तकों मे रखने के लिए उन बातो मे से कुछ-एक को ग्रन्थ से
निकाल देना पड़ेगा।

शैली—परम्परानुसार प्रसिद्ध दण्डी के पदलालित्य का उल्लेख[1] हम पहले कर चुके हैं और कह चुके हैं कि सुबन्धु और बाण जैसी कृत्रिमता इसमें नहीं है।

चरित्र-चित्रण की विशेष योग्यता के लिए भी दण्डी प्रसिद्ध है। केवल राजकुमारों का ही नहीं, छोटे छोटे पात्रों का चरित्र भी बड़ी सफ़ाई के साथ चित्रित किया गया है। उनमें से प्रत्येक की एक विशिष्ट व्यक्ति भासित होने लगी है और उनके चित्र-चित्रण दण्डी[2] के आम जोश, पैनी नज़र ज़िन्दादिली के मिले हुए रँग से बने हैं।

प्रकृति के या वर्णन के कवि की हैसियत में दण्डी कालिदास, भारवि या माघ की तुलना न करता सही, फिर भी इसकी रचना में वसन्त, सूर्यास्त, राजवाहन और अवन्तीसुन्दरी का मिलन, प्रमतिकृत अपरिचित राजकुमारी का वृत्तान्त, और कन्दुकावती का गेंद खेलना ऐसे सुन्दर ढंग से वर्णित हुए हैं कि इन्हें हम किसी बड़े कवि के नाम के अनुरूप उसकी उत्तम रचना के उदाहरणों के रूप में सम्मुख रख सकते हैं।

भाषा पर दण्डी का पूर्ण अधिकार प्रशंसनीय है। सम्पूर्ण सातवें उच्छ्वास में एक भी ओष्ठ्य वर्ण नहीं आने पाया, कारण, मन्त्रगुप्त की प्रेयसी ने उसके ओष्ठ में काट लिया था, तब उसने मुँह पर हाथ रख कर ओष्ठ्य वर्ण का परिहार करते हुए अपनी कथा कही। वैदर्भी रीति का समर्थक होने के कारण दण्डी ने अपना लक्ष्य सुबोधता, भावों का यथार्थ प्रकाशन, पदों का माधुर्य, वचन-विन्यास की मनोरमता रक्खा है और इसलिए इसने

---

१ देखिए खण्ड ४७। २ दण्डी यशस्वी कवि के रूप में प्रसिद्ध है। इसका काव्यादर्श सारे का सारा पद्य-बद्ध है और दशकुमारचरित भी आन्तरिक स्वरूप में काव्य ही है (देखिए—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।) दण्डी के किसी पुराने प्रशंसक ने कहा है:—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

ुतिकटु तथा विशालकाय शब्दों के प्रयोग से परहेज़ किया है। गद्य तक में सने दुर्बोध-दीर्घ समास वाले पदों का प्रयोग नहीं किया है। यह निपुण याकरण था, और इसने राजकुमारों की अपनी कथा सुनाने में उनके मुँह से लेट् लकार का प्रयोग नहीं करवाया। हाँ, इसने लुङ् का पर्याप्त प्रयोग किया है।

दण्डी में हँसा देने की भी शक्ति है। राजकुमारों के जंगलों में घूमते फिरते रहने का तथा अपना-प्रयोजन पूर्ण करने के उनके अद्भुत उपायों की कथाओं से कवि की पाठक का मनोविनोद करने वाली भारी योग्यता का रिचय मिलता है। रानी वसुन्धरा ने नगर के भद्र लोगों को एक गुप्त अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित किया और उसने वस्तुतः गुप्त रखने का वचन लेकर एक झूठी अफवाह फैला दी—सचमुच इस काम को करने का यह एक अत्युत्तम उपाय था।

पूर्वपीठिका का प्रारम्भिक अनुच्छेद (Paragraph) बाण की असमव शैली के अनुकरण पर लिखा गया है। इस अनुच्छेद मे दुर्बोध-दीर्घ समासों के लम्बे लम्बे वाक्य हैं। पूर्वपीठिका के लेखक ने यमकालङ्कार का अत्यधिक प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए एक वाक्य देखिए—

कुमारा माराभिरामा रामाद्यपौरुषा रुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसितसमीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशसं राजानमकार्षुः [1]।

[उच्छ्वास २, अनुच्छेद १]

(४२) सुबन्धु।

सुबन्धु को हम वासवदत्ता के कीर्तिमान् कर्त्ता के रूप मे जानते हैं। वासवदत्ता का प्राचीनतम उल्लेख बाण के हर्षचरित की भूमिका के ग्यारहवें पद्य में प्राप्त होता है—

---

१ जो कामदेव के समान सुन्दर थे, राम इत्यादि के समान पौरुष वाले थे, जिन्होंने क्रोध में भरकर शत्रुओं को राख कर डाला था, जो वेग में वायु का भी उपहास उड़ाते थे, उन कुमारों ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते हुए राजा

कवीनामगलद् दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्[1] ॥

कादम्बरी की भूमिका के बीसवें पद्य में बाण अपनी कृति को 'इयम् अतिद्वयी कथा' कह कर विशेषित करता है। टीकाकार कहता है कि 'द्वयी' से यहाँ बृहत्कथा और वासवदत्ता अभिप्रेत हैं।

साहित्य संसार में सुबन्धुविषयक कुछ उल्लेख निस्सन्देह बाण के बाद के भी मिलते हैं। वाक्पतिराज ने अपने गउडवह में सुबन्धु का नाम भास और रघुवंश के कर्त्ता के साथ लिया है। राघवपाण्डवीय के रचयिता कविराज के अनुसार सुबन्धु, बाणभट्ट, और कविराज (वह स्वयं) वक्रोक्ति में निरूपम हैं। मङ्ख ने प्रशंसा करते हुए सुबन्धु को मेण्ठ और भारवि की श्रेणी में रक्खा है। सुभाषित संग्रहों में इसका नाम और भी कई स्थलों पर आया है। बल्लालकृत भोजप्रबन्ध में (१६वीं श०) इसकी गणना धारा के शासक भोज के तेरह रत्नों में की गई है। ११६८ ई० के कनारी भाषा के एक शिलालेख में इसका नाम काव्य-जगत् के एक गण्य-मान्य व्यक्ति के रूप में आया है। इसका अर्थ हुआ कि बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इसका यश दक्षिण मे फैल चुका था[2]।

---

१ सचमुच जैसे इन्द्र की दी हुई शक्ति के कर्ण के हाथ में पहुँचने पर पाण्डवों का गर्व जाता रहा था वैसे ही वासवदत्ता को सुन लेने पर कवियों का गर्व जाता रहा। २ दण्डी के दशकुमार चरित में वासवदत्ता विषयक वक्ष्यमाण उल्लेख मिलता है:—"अनुरूपभर्तृगामिनीना च वासवदत्तादीना वर्णनेन ग्राहया-ऽनुशयम्" (अपने योग्य पति को प्राप्त होने वाली वासवदत्ता इत्यादि स्त्रियों के वर्णन से उसके मन में पश्चाताप का उदय कीजिये)। अधिक सभावना यह है कि इस उल्लेख में वासवदत्ता शब्द भासरचित स्वप्नवासवदत्ता का परामर्श करता है सुबन्धु के ग्रन्थ की वासवदत्ता का नहीं। पाणिनि-अष्टाध्यायी के चौथे अध्याय के तीसरे पाद के सतासीवें सूत्र पर पठित वार्त्तिक में (लगभग ई० पू० तीसरी श०) "वासवदत्ताम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः" इस प्रकार आने वाला शब्द विस्पष्टरूप से भास के ग्रन्थ का परामर्श करता है।

सुबन्धु के जीवन-काल के विषय में अभी तक निश्चितरूप से कुछ पता नहीं है। यद्यपि इसके ग्रन्थ में रामायण, महाभारत, पुराण, उपनिषद्, मीमासा, न्याय, बृहत्कथा और कामसूत्र से सम्बद्ध अनेक उल्लेखों के साथ साथ बौद्धो और जैनों के साथ विरोध को सूचित करने वाले भी कई उल्लेख आए हैं, किन्तु इन सब से कवि के काल पर बहुत ही मन्द प्रकाश पड़ता है। वासवदत्ता में छन्दोविचिति का दो बार उल्लेख[1] मिलता है। यदि यह छन्दोविचिति दण्डी का ही ग्रन्थ है; जिसके होने में सम्भावना कम और सन्देह अधिक है, तो सुबन्धु दण्डी के बाद हुआ। यह ग्रन्थ नृप विक्रमादित्य के बाद गद्दी पर बैठने वाले सब से पहले राजा के राज्य में लिखा गया था, इसके कुछ प्रमाण उपलब्ध हैं:—(क) वासवदत्ता की भूमिका के दसवें पद्य में आया है, "गतवति भुवि विक्रमादित्ये" (ख) वासवदत्ता का एक तिलककार नरसिंह वैद्य कहता है, "कविरयं विक्रमादित्यसभ्यः। तस्मिन् राज्ञि लोकान्तरं प्राप्ते एतं निबन्धं कृतवान्" (यह कवि विक्रमादित्य का सभासद् था। महाराज विक्रमादित्य के स्वर्गवासी होने पर इसने यह ग्रन्थ लिखा); (ग) महाशय हाल को उपलब्ध होने वाली वासवदत्ता की हस्त-लिखित प्रति बतलाती है कि सुबन्धु वररुचि का भानजा था। यह वररुचि भी विक्रमादित्य के दरबार का एक रत्न कहा जाता है। परन्तु केवल इसी आधार पर किसी बात का पक्का निश्चय नहीं हो सकता।

सुबन्धु का "न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपां बौद्धसङ्गतिमिवालङ्कार-भूषिताम्" कथन बडे काम का है; क्योंकि इसमें उद्योत्कर तथा बौद्धसङ्गत्य-लङ्कारकार धर्मकीर्त्ति का नाम आया है। उद्योत्कर और धर्मकीर्त्ति दोनों ही ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए हैं। अतः हम सुबन्धु को छठी शताब्दी के अन्तिम भाग के समीप रख सकते हैं। यह तो निश्चित ही है कि वासवदत्ता हर्षचरित से पहले लिखी गई है।

---

१ छन्दोविचितिरिव मालिनी सनाथा, और छन्दोविचिति भ्राजमानतनु-मध्याम् ['हाल' द्वारा सम्पादित संस्करण, ११९, २३५]।

कथावस्तु—इस कथा का नायक चिन्तामणि का गुणी पुत्र कन्दर्पकेतु था। एक प्राभातिक स्वप्न में किसी षोडशी सुन्दर कन्या को देखकर वह अपने सुहृद् मकरन्द को साथ ले उसकी तलाश में निकल पड़ा। घूमते हुए वे विन्ध्यपर्वत में जा पहुँचे। वहा एक रात कन्दर्पकेतु ने रात में देर से वृक्ष पर लौट कर आए हुए शुक को धमकाती हुई शारिका को सुना। फिर शुक ने अपने विलम्ब का कारण बताते हुए शारिका को एक कथा सुनाई। इस कथा से कन्दर्पकेतु को अपनी प्रेयसी का कुछ पता मिल गया। वह कुसुमपुर के अधिपति नृप शृङ्गारशेखर की इकलौती बेटी थी। उसका नाम वासवदत्ता था। उसने भी कन्दर्पकेतु के समान सुन्दर एक तरुण को स्वप्न में देखकर उसकी तलाश में अपनी अनुचरी तमालिका को भेजा था। कुसुमपुर में रागानुग युगल के सम्मिलन का प्रबन्ध हो गया। बिल्कुल अगले ही दिन वासवदत्ता का विवाह विद्याधर राजकुमार पुष्पकेतु के साथ हो जाने का निश्चय हो चुका था। अतः कन्दर्पकेतु और वासवदत्ता दोनों के दोनों तत्काल एक जादू के घोड़े पर सवार हो उड़कर विन्ध्यपर्वत में जा पहुँचे। प्रातः कन्दर्पकेतु ने वासवदत्ता को अनुपस्थित पाया तो उसने प्रेम से पागल होकर आत्मघात करने का निश्चय कर लिया, किन्तु उसी क्षण एक आकाशवाणी ने प्रेयसी के साथ पुनः मिलाप होने की आशा दिलाकर उसे आत्मघात करने से रोक दिया। कुछ महीने के बाद एक दिन कन्दर्पकेतु ने वासवदत्ता को पाषाण की मूर्ति बनी पाया जो उसके छूते ही जीवित हो उठी। पूछने पर वासवदत्ता ने बताया कि जब अपने अपने स्वामी के लिए मुझे प्राप्त करने के उद्देश्य से दो सेनाएँ आपस में युद्ध करने में व्यग्र थी, तब मैं अनजाने उस तरफ चली गई जिस तरफ स्त्रियों के जाने की मनाही थी। वहाँ मुनि ने मुझे शाप देकर पाषाणी बना दिया। इसके पश्चात् कन्दर्पकेतु उसे लेकर अपनी राजधानी को लौट आया और वहाँ वे दोनों सुख से रहने लगे।

वासवदत्ता की गिनती, आख्यायिकाओं में नहीं, कथाओं में की जानी चाहिए; इसका प्रतिपाद्य अर्थ हर्षचरित की अपेक्षा कादम्बरी से

अधिक मेल खाता है। हमे इसमें स्वप्नों में विश्वास, पक्षियों का वार्त्तालाप, जादू का घोड़ा, शरीराकृति का परिवर्त्तन, शाप का प्रभाव इत्यादि कथानुकूल सामग्री उपलब्ध होती है।

शैली—सुबन्धु का लक्ष्य ऐसा ग्रन्थ प्रस्तुत करना है जिसके प्रत्येक वर्ण में श्लेष हो।[1] कवि के साफल्य की प्रशंसा करनी पडती है और कहना पड़ता है कि कवि की गर्वोक्ति यथार्थ है। किन्तु आधुनिक तुला पर तोलने से ग्रन्थ निर्दोष सिद्ध नहीं होता। कथावस्तु के निर्माण में शिथिलता है और अनेक चमत्कारपूर्ण चकाचौंध पैदा करने वाला वर्णन ही सर्व-प्रधान पदार्थ समझ लिया गया है। नायिका का सौन्दर्य, नायक की वीरता, वसन्त-वन-पर्वत का वर्णन बड़े मनोरमरूप से हुआ है। कथा की रोचकता को शैली की कृत्रिमता ने लगभग दबा लिया है, और यह शैली पाठक को बहुधा अरुचिकर एवं व्यामोहजनक प्रतीत होने लगती है। रीति पूर्ण गौडी है; इसीलिए इसमें बोझली बनावट के लम्बे-लम्बे समास और भारी भरकम शब्द हैं, अनुप्रास तथा अन्य शब्दालङ्कारों की भरमार है। कवि को अर्थ की अपेक्षा शब्द से पाठक पर प्रभाव डालना अभिप्रेत प्रतीत होता है। श्लेष के बाद अधिक संख्या में पाया जाने वाला अलङ्कार विरोधाभास है जिसमें अर्थ का स्व-विरोध भासित होता है किन्तु वस्तुतः वह (अर्थ) स्वाविरोधवान् और अधिक उर्जस्वित् होता है। उदाहरण के लिए, नृप चिन्तामणि का वर्णन करते हुए कहा गया है—"विद्याधरोऽपि सुमनाः; धृतराष्ट्रोऽपि गुणप्रिय', क्षमानुगतोऽपि सुधर्माश्रितः"[2]। मालादीपक का

१ भूमिका के तेरहवें पद्य में इसने अपने आपको "प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यास वैदग्ध्यनिधिः" कहा है। २ पहला अर्थ—यद्यपि वह विद्याधर (निम्न-श्रेणी का देव) तथापि वह सुमना (यथार्थ श्रेणी का देव था), यद्यपि वह धृतराष्ट्र था तथापि भीम का मित्र था, यद्यपि वह पृथिवी पर उतर आया था, तथापि वह देवसभा में आश्रय (निवास) रखता था। दूसरा अर्थ—वह विद्यमान् होने पर भी उत्तम मन वाला, राष्ट्र का धर्त्ता होने पर भी गुणग्राही, धैर्यशाली होने पर भी उत्तम शासन का आश्रय लेने वाला था।

एक उदाहरण देखिए—"नायकेन कीर्त्तिः, कीर्त्या सप्त सागराः, सागरैः कृतयुगादिराजचरितस्मरणम् · "[१] ।

शरीरानुसार अवयवकल्पना एक प्रकार से शैली की नींव होती है। वासदत्ता में इसका इतना अभाव है कि उसका उल्लेख किये बिना रहा नहीं जा सकता। चरम सीमा को पहुँचाए बिना कवि ने किसी भी प्रसङ्ग को नहीं जाने दिया है। निदर्शनार्थ, किसी घटना के वर्णन मे प्रत्येक सम्भव विवरण दिया गया है, यदि इतना देना अपर्याप्त प्रतीत हुआ है तो इसकी पूंछ से उपमा के पीछे उपमा और श्लेष के पीछे श्लेष का तॉता बॉध दिया गया है। कहीं उत्साह दिलाना अभीष्ट हुआ है तो एक ही बात अनेक रूप से बारबार दोहराई गई है। इस दोष का कारण कवि की मति की तीव्र स्फूर्त्ति तथा बहुज्ञता है। अन्य कहानियो के समान इसमें कथा के अन्दर कथा भरने की विशेपता है ।

(५०) बाण की कादम्बरी ।

बाण की कादम्बरी हमें कई प्रकार से रुचिकरी प्रतीत होती है। एक तो हमें इसकी निश्चित तिथि मालूम है। अतः भारतीय साहित्य के और भारतीय दर्शन के इतिहास में यह एक सीमा का निर्देश कर सकती है। दूसरे यह हमारे लिए लौकिक संस्कृत के प्रमाणीभूत गद्योदाहरण का काम देती है। तीसरे यह भारतीय सर्वसाधारण का ज्ञान बढ़ाने वाली लोकप्रिय कहानी है।

बाण अपने अन्य ग्रन्थों के समान कादम्बरी को भी अपूर्ण छोड़ गया था। सौभाग्य से उसके पुत्र भूषण भट्ट ने इसे समाप्त कर दिया था। कथा-वस्तु कुछ जटिल सी है। इसमें कथा के अन्दर कथा, उसके भी अन्दर और कथा पाई जाती है। कथा का प्रधान भाग एक तोते के मुँह से कहल-वाया गया है। यही तोता अन्त में पुण्डरीक मुनि सिद्ध होता है जो कथा

---

१ नायक ने यश, यश ने सात समुद्र, सात समुद्रों ने सतयुग आदि में हुए राजाओं के चरित का स्मरण [प्राप्त] किया।

का उपनायक है। कथा की नायिका कादम्बरी का नाम तो हमें आधा ग्रन्थ पढ़ जाने के बाद मालूम होता है। कहानी का श्रोता नृप शूद्रक है जो एक अनावश्यक पात्र प्रतीत होता है और कथा में से जिसका नाम निकाल देने से कोई हानि पहुँचती प्रतीत नही होती; परन्तु अन्त में यही राजा कथा का मुख्य नायक चन्द्रापीड निकल पड़ता है जो शाप-वश उस जीवन में गया हुआ है। इस प्रकार बडी कुशलता से कथा की रोचकता अन्त तक अखण्ड रक्खी गई है। संक्षेप मे कथा यो है:—

शूद्रक नामक एक राजा के दरबार में कोई चाण्डाल कन्या एक दिन एक तोता लाई। राजा के पूछने पर तोते ने अपनी दुःखभरी कथा उसे सुनाते हुए कहा—मेरी माता की मृत्यु मेरे जन्म के समय ही हो गई थी और कुछ ही समय पश्चात् मेरे पिता को शिकारियो ने पकड लिया। जाबालि मुनि के एक शिष्य ने मुझे निर्जन वन में पड़ा हुआ देखा तो दयार्द्र होकर उठा लिया और अपने गुरु के आश्रम मे ले गया। शिष्यो के पूछने पर जाबालि मुनि ने मेरा पूर्वजन्म का वृत्तान्त उन्हे इस प्रकार सुनाया—

कभी उज्जैन में तारापीड नामक एक महा धर्मात्मा राजा राज्य करता था। उसकी रानी विलासवती राजा के सम्पूर्ण अन्तःपुर में सब से अधिक गुणशालिनी देवी थी। राजा का मन्त्री शुकनास बड़ा बुद्धिमान् था। बहुत समय बीतने पर महादेव की कृपा से राजा के एक पुत्र हुआ जिसका नाम चन्द्रापीड रक्खा गया। चन्द्रापीड का ही समवयस्क वैशम्पायन नामक मन्त्री का पुत्र था। दोनों कुमारों का पालन-पोषण साथ साथ हुआ और वे ज्यों ज्यों बढ़ते गए त्यों त्यो उनका सौहार्द घनिष्ठ होता गया, यहाँ तक कि वे एक दूसरे के बिना एक पल भी नही रह सकते थे। उनकी शिक्षा के लिए एक गुरुकुल की स्थापना की गई जहाँ उन्होंने सोलह वर्ष की आयु में ही सारी विद्याओं में पारङ्गतता प्राप्त करली। शिक्षा समाप्ति पर शुकनास ने राजकुमार को राजोपयोगी एक सुन्दर उपदेश दिया। तब राजकुमार को युवराज पद देकर इन्द्रायुध नाम का एक बड़ा अद्भुत घोड़ा और पत्रलेखा नाम की विश्वासपात्र अनुचरी दी गई। अब राजकुमार

दिग्विजय के लिए निकला और तीन वर्ष तक सब संग्रामों में विजयी होता हुआ आगे बढ़ता रहा। एक बार दो किन्नरों का पीछा करता हुआ वह जङ्गल में दूर निकल गया जहाँ उसने एक सुन्दर सरोवर के तट पर तपश्चर्या करती हुई महाश्वेता नामक एक परमरमणीयाङ्गी रमणी को देखा। रमणी ने राजकुमार को बतलाया कि मेरा पुण्डरीक नामक एक तरुण पर और उसका मुझ पर अनुराग था; परन्तु हम अभी अपने पारस्परिक अनुराग को एक दूसरे पर प्रकट भी न कर पाए थे कि पुण्डरीक का लोकान्तर-गमन हो गया। मैंने उसकी चिता पर उसी के साथ सती होना चाहा; किन्तु एक दिव्य मूर्ति मुझे पुनर्मिलन की आशा दिलाकर उसके शव को ले गई। इस आत्म-कथा के अतिरिक्त महाश्वेता ने राजकुमार को अनुपम लावण्यवती अपनी प्रियसखी कादम्बरी के बारे में भी कई बातें बताईं।

इसके बाद चन्द्रापीड कादम्बरी से मिला। दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गए। किन्तु अभी उन्होंने अपने अनुराग को एक दूसरे पर प्रकट भी नहीं किया था कि चन्द्रापीड को पिता की ओर से घर का बुलावा आ गया और उसे निराश हृदय के साथ घर लौटना पड़ा। इससे कादम्बरी का मन भी बड़ा उदास हो गया। उसने आत्महत्या करनी चाही; किन्तु उसे पत्रलेखा ने, जिसे चन्द्रापीड़ पीछे छोड़ गया था, रोक दिया और फिर स्वयं चन्द्रापीड़ के पास आकर उसे कादम्बरी की प्रेम-विह्वलता की सारी कथा सुनाई[1]।

पत्रलेखा से कादम्बरी की विह्वलता की कथा सुनकर चन्द्रापीड उससे मिलने जाने के लिए तय्यार हुआ। दैवयोग से तभी एक दुर्घटना घटित हो गई। वैशम्पायन आग्रह करके उस सरोवर के तट पर पीछे ठहर गया था जिस पर महाश्वेता तप कर रही थी। चन्द्रापीड़ ने लौटकर उसे वहाँ न पाया तो वह अब उसकी तलाश करने लगा। महाश्वेता से मिलने पर उसे मालूम हुआ कि किसी ब्राह्मण युवक ने महाश्वेता से प्रणय की याचना की थी जिसे उसने स्वीकार नहीं किया। जब युवक ने अधिक आग्रह किया

१ बाणकृत ग्रन्थ यही है। कथा का शेष भाग उसके पुत्र भूषण भट्ट ने लिखा है।

तब कुपित होकर महाश्वेता ने उसे तोते की योनि मे चले जाने का शाप दे दिया। यह सुनते ही चन्द्रापीड निष्प्राण होकर पृथिवी पर गिर पडा। कादम्बरी वहाँ पहुँची तो महाश्वेता से भी अधिक दु:खित हुई। एक आकाशवाणी ने कहा कि तुम चन्द्रापीड़ का शव सुरक्षित रक्खो; क्योकि एक शापवश इसके प्राण निकले हैं। अन्त में तुम दोनों को तुम्हारे प्रियतमों की प्राप्ति होगी। ज्यों ही इन्द्रायुध ने सरोवर में प्रवेश किया त्यों ही उसके स्थान पर पुण्डरीक का सुहृद् कपिञ्जल प्रकट हुआ और उसने बतलाया कि चन्द्रापीड चन्द्रमा का अवतार है तथा वैशम्पायन पुण्डरीक और इन्द्रायुध कपिञ्जल है।

मुनि से इस कथा को सुनकर मैंने अपने आपको पहचान लिया। मैं समझ गया कि मै ही पुण्डरीक और वैशम्पायन दोनो हूँ। अब मैं चन्द्रापीड को ढूँढने के लिए चल दिया; परन्तु दुर्भाग्य से मार्ग मे मुझे चाण्डाल कन्या ने पकड़ लिया और यहाँ आपके पास ले आई।

कहानी के अगले भाग से हमे पता लगता है कि चाण्डाल कन्या पुण्डरीक की माता ही थी जिसने कष्टों से बचाने के लिए तोते को अपनी आँख के नीचे रख रक्खा था। शूद्रक में चन्द्रापीड़ का आत्मा था। अब शाप के समय का अन्त आ गया था। उसी क्षण शूद्रक का शरीरान्त हो गया। कादम्बरी की गोद में चन्द्रापीड़ यों पुनर्जीवित हो उठा मानो वह किसी गहरी नींद से जागा हो। शीघ्र ही पुण्डरीक भी उनसे आ मिला। दोनों प्रणयि-युगलो का विवाह हो गया और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा गया। उसके बाद उन प्रणयि-युगलों में से प्रत्येक एक पल के लिए भी एक दूसरे से पृथक् नही हुआ।

साहित्यिक विशेषता—साहित्यिक विशेषता की दृष्टि से कादम्बरी, जो एक कथा-ग्रन्थ है, बाण की अन्य रचना हर्षचरित से, जो एक आख्यायिका-ग्रन्थ है, बढ़कर है। कादम्बरी और महाश्वेता के प्रणय की द्विवृत् कथा बड़े कौशल से परस्पर गूंथी गई है। सच तो यह है कि जगत् के साहित्य इतिहास में ऐसे ग्रन्थ बहुत ही कम हैं; संस्कृत में तो कोई है ही नहीं

यद्यपि यह ग्रन्थ गद्य में है, तथापि रसपूर्ण[1] और अलङ्कार-युक्त होने के कारण भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने इसे काव्य का नाम दिया है। अङ्गीरस शृंगार है। इसका विकास बड़ी निपुणता से किया गया है। मृत्यु तक को सम्मिलित करते हुए काम की दसों दशाओं को दिखलाने में यह कवि जैसा सफल हुआ है वैसा इससे पहले या इसके बाद कोई दूसरा नहीं। अङ्गरसों में अद्भुत[2] और करुण[3] उल्लेखनीय हैं। इनके उदाहरणों की ग्रन्थ में कमी नहीं है। अलङ्कारों में श्लेष बहुत अधिक पाया जाता है। दूसरे दर्जे पर छेक और वृत्त्यनुप्रास हैं। रसनोपमा का उदाहरण देते हुए कहा गया है "कपिञ्जल पुण्डरीक के लिए ऐसा ही था जैसे सौन्दर्य को यौवन, यौवन को अनुराग और अनुराग को वसन्त"। अन्य अलङ्कारों का वर्णन करने के लिए यहाँ अवकाश नहीं है। वस्तुतः बाण संस्कृतसाहित्य के श्रेष्ठकलाकारों में गिना जाता है। गोवर्धनाचार्य ने उसके विषय में कहा है:—

जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथावगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तु वाणी बाणो बभूवेति[4] ॥

धर्मदास नामक एक और समालोचक ने उसके साहित्यिक कृतित्व को और ही तरह से कहा है। वह कहता है :—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
तत् किं ? तरुणी ! नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य[5] ॥

---

१ देखिये वाक्य रसात्मक काव्यम्। २ उदाहरणार्थ चन्द्रमा और पुण्डरीक के क्रमिक अवतार। ३ उदाहरणार्थ, प्राणियों के मृत्यु के बाद कादम्बरी और महाश्वेता की अवस्थाओं के तथा वैशम्पायन की मृत्यु पर चन्द्रापीड की अवस्था का बर्णन। ४ मेरा अनुमान है कि जैसे पहले समय में अधिक प्रागल्भ्य प्राप्त करने के लिए शिखण्डिनी शिखण्डी बन कर अवतीर्ण हुआ था वैसे ही अधिक प्रौढ़ि प्राप्त करने के लिए सरस्वती बाण बन कर अवतीर्ण हुई थी। ५ सुन्दर स्वर सुन्दर वर्ण और सुन्दर पदों वाली तथा रसमयी तथा भावमयी जगत् का मन हरती है।

बताओ क्या है ?

तरुणी है।

न, न। मधुर प्रकृति वाले बाण की वाणी।

जयदेव ने और भी आगे बढ़कर कहा है:—"हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः" [कविता कामिनी के] हृदय में बसने वाला बाण मानो काम है। अन्य समालोचकों ने भी अपने अपने ढंग से बाण के साहित्यिक गुणों की पर्याप्त प्रशसा की है।

बाण में वर्णन की, मानवीय मनोवृत्तियों के तथा प्राकृतिक पदार्थों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की एवं काव्योपयोगिनी कल्पना की आश्चर्यजनक शक्ति है। केवल प्रधानपात्र ही नहीं, छोटे छोटे पात्रो का भी विशद चरित्र-चित्रण किया गया है। नायिकाओं के रागात्मक तीव्र मनोभाव और कन्योचित लज्जालुता के साथ साथ प्रणयियों के संवेदन और नायक-नायिका की अन्योन्य भक्ति का वर्णन बड़ी उत्तमरीति से किया गया है। एक सच्चा प्रणयी अपने प्रणयपात्र से पृथक् होने की अपेक्षा मरना अधिक पसन्द करता है। हिमालय पर्वत के सुन्दर दृश्यों, अच्छोद सरोवर और अन्य प्राकृतिक पदार्थो का सुन्दर वर्णन कवि की साहित्यिक सूझ का परिचय देता है। मुनियों के शान्तिमय और राजाओं के आडम्बरपूर्ण जीवन का निपुण वर्णन तुलना की रीति पर बड़े ही उत्तम ढंग से किया गया है।

सचमुच बाण की वर्णन-शक्ति बहुत भारी है, इसीलिए उसके विषय में कहा गया है कि "बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्" बाण ने सारे जगत् को जूठा कर दिया है।

कादम्बरी के अध्ययन से यह भी मालूम होता है कि बाण का भाषा पर बड़ा विद्वत्तापूर्ण अधिकार था जिसके कारण उसने अप्रसिद्ध और कठिन शब्दों का भी प्रयोग कर डाला है। श्लेष के संयोग से तो उसका ग्रन्थ किसी योग्य टीका के बिना समझना ही कठिन हो गया है। आधुनिक बाटों से तोलने वाले पाश्चात्य आलोचकों ने इन त्रुटियों की बड़ी कटु आलोचना की है। जैसा पहले कहा जा चुका है उसके गद्य को एक भारतीय जंगल कहा गया है जिसमें झाड़-झंकाड़ों के उग आने के कारण पथिक, जब तक

मार्ग न बना ले, आगे नहीं बढ़ सकता, और जिसमें उसे अप्रसिद्ध शब्दों के रूप में भयावह जंगली जानवरों का सामना करना पड़ता है"।[1]

ग्रन्थ में समानुपातिक अङ्गोपचय का ध्यान नहीं रक्खा गया है; कदाचित् लेखक के पास किसी प्रसङ्ग के वर्णन की जब तक कुछ भी सामग्री शेष रही है तब तक उसने उस प्रसङ्ग का पिंड नहीं छोड़ा है। उदाहरणार्थ, एक सीधी सादी बात थी कि एक उज्जैन नगर था। अब इसकी विशेषण-माला जो प्रारम्भ हुई है दो पृष्ठ तक चली गई है। कभी कभी समास-गुम्फित विशेषण एक सारी की सारी पंक्ति तक लम्बा हो गया है। चन्द्रापीड को दिया हुआ शुकनास का उपदेश सात पृष्ठ में आया है। जब तक प्रत्येक सम्भव रीति से बात तरुण राजकुमार के मन में बिठा नहीं दी गई तब तक उपदेश समाप्त नहीं किया गया। किन्तु बाण की शैली का वास्तविक स्वरूप यह है कि प्रतिपाद्य अर्थ के अनुसार बदलती रहने वाली है। बहुत से प्रकरणों में बाण की भाषा पूर्ण सरल और अवक्र है।

कादम्बरी का मूल स्रोत—स्थूल रूप-रेखा में कादम्बरी की कथा सोमदेव की (ईसा की ११वीं श०) लिखी कथासरित्सागर के नृप सुमना की कथा से बहुत मिलती जुलती है। कथासरित्सागर गुणाढ्यकृत बृहत्कथा का संस्कृतानुवाद है। बृहत्कथा आजकल प्राप्य नहीं है, किन्तु यह बाण के समय में विद्यमान थी। इससे अनुमान होता है कि बाण ने बृहत्कथा से कथावस्तु लेकर कला की दृष्टि से उसे प्रभावशालिनी बनाने के लिए उसमें अनेक परिवर्तन कर दिये थे।

ऊर्ध्वकालीन कथात्मक काव्यों पर बाण का प्रभाव—बाण के कथा-काव्य के उच्च प्रमाण तक पहुँचना कोई सुगम कार्य नहीं था। बाण के बाद कथा-काव्य अधिक चमत्कारक नहीं हैं, किन्तु उनसे यह साफ झलकता है कि उन पर बाण का गहरा प्रभाव पड़ा है। बाण के बाद के कथात्मक काव्यों में

---

१ कादम्बरी के अपने संस्करण की भूमिका में डा० पीटरसन द्वारा उद्धृत वेबर की सम्मति।

प्रथम उल्लेखनीय तिलकमञ्जरी है। इसका कर्ता धनपाल[1] (ईसा की १०वीं श०) धारा के महाराज के आश्रय में रहा करता था। इस ग्रन्थ में तिलकमञ्जरी और समरकेतु के प्रेम की कथा है। अन्तरात्मा (Spirit) और शैली दोनों की दृष्टि से यह ग्रन्थ कादम्बरी की नक्ल है। इस बात को स्वयं लेखक भी स्वीकार करता है।

बाण का ऋणी दूसरा ग्रन्थ गद्यचिन्तामणि है। इसका लेखक ओडयदेव नामक एक जैन था। इसी का उपनाम वादीभसिंह था। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय जीवनधर का उपाख्यान है। यही उपाख्यान जीवनधर चम्पू का भी विषय है। इसका काल अनिश्चित है।

(५१) चम्पू

चम्पू गद्य-पद्यमय काव्य को कहते हैं। इसकी वर्णनीय वस्तु कोई कथा होती है[2]। 'कथा' के समान ही चम्पू भी साहित्यदर्पण में रचना का एक प्रकार स्वीकृत हुआ है और ईसा की १०वी शताब्दी तक के पुराने चम्पू ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

आजकल जितने चम्पू-लेखकों का पता चलता है उनमें सबसे पुराना त्रिविक्रम भट्ट है। यही ९१५ ई० के राष्ट्रकूट नृप इन्द्र तृतीय के नौसारी वाले शिलालेख का भी लेखक है। इसके दो ग्रन्थ मिलते हैं—नलचम्पू (जिसे दमयन्ती कथा भी कहते हैं) और मदालसचम्पू। इनमें से नलचम्पू अपूर्ण है। दोनों ग्रन्थों में गौडी रीति का अनुसरण किया गया है। यही

---

१ इसके अन्य ग्रन्थ हैं—पैयलच्छी (प्राकृतभाषा का कोष, रचनाकाल ९७२-३ ई०) और ऋषभ पञ्चाशिका (प्राकृत भाषा में पचास पद्य) जो किसी जैन मुनि की प्रशस्ति है। २ साहित्य के और भी अङ्ग हैं जिनमें गद्य-पद्य का मिश्रण रहता है; परन्तु उनमें पद्य या तो औपदेशिक होते हैं या वक्ष्यमाण कहानी का केन्द्रिक अभिप्राय देते हैं (जैसे; पञ्चतन्त्र) या बात को प्रभाव-शालिनी बनाते हैं या किसी बात पर बल देते हैं। चम्पू में पद्य गद्यवत् ही किसी घटना का वर्णन करते हैं।

कारण है कि इन में दीर्घ समास, अनेक श्लेष, अनन्त विशेषण, दुरूह वाक्य रचना और अत्यधिक अनुप्रास हैं—श्रुति-सुखदता के लिए अर्थ की बलि दे दी गई है। हाँ, कुछ पद्य रमणीय बन पड़े हैं। इस के नाम से सूक्तिसंग्रहों में संगृहीत किया हुआ एक पद्य देखिए—

अप्रगल्भपदन्यासा जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापा कवयो बालका इव[1]॥

दशवीं शताब्दी में लिखा हुआ दूसरा कथा-काव्यग्रन्थ यशस्तिलक है। इसे सोमदेव जैन ने ९५९ ई० में लिखा था। साहित्यिक गुणों की दृष्टि से यह ग्रन्थ उपर्युक्त दोनों चम्पुओं से बहुत उत्कृष्ट है। कथा प्रायः साद्यन्त रोचक है। लेखक का उद्देश्य जैन सिद्धान्तों को लोकप्रिय रूप में रखकर उनका प्रचार करना प्रतीत होता है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में हम देखते हैं कि नृप मारिदत्त, कथा का नायक, जो कुलदेवी 'चण्डमारी देवता' के सामने सम्पूर्ण सजीव पदार्थों के जोड़ों की, जिनमें एक बालक और बालिका भी सम्मिलित थी, बलि देना चाहता था, अपनी प्रजा के साथ अन्त में जैन-धर्म ग्रहण कर लेता है। इसके कुछ पद्य वस्तुतः सुन्दर हैं। जैसे—

अवक्ताऽपि स्वयं लोकः कामं काव्यपरीक्षकः।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम्[2]॥

कदाचित् उक्त शताब्दी का ही एक और जैन कथात्मक काव्य हरिचन्द्र[3] कृत जीवनधर चम्पू है। इसका आधार गुणभद्र का उत्तर पुराण है। इसकी कहानी में रस का नाम नहीं।

---

१ अप्रौढ चाल वाले माता को आनन्द देने वाले और [मुख से चूती हुई] बहुत से पीने वाले बालकों के समान कुछ ऐसे भी कवि हैं जिनकी वाक्यरचना प्रौढ नहीं है जो जनता को आकृष्ट नहीं कर सकते और जो बोलते अधिक हैं।
२ स्वयं अपने भावों का सम्यक् प्रकाश न कर सकने वाला व्यक्ति भी काव्य का परीक्षक हो सकता है, क्या स्वादु भोजन बनाने की क्रिया न जानने वाला भोक्ता भोजन के स्वाद को नहीं जानता। ३ इसका पक्का निश्चय नहीं कि यही (२१ सर्गात्मक) धर्मशर्माभ्युदय नामक जैन काव्य का भी कर्त्ता है।

[भोज के नाम से प्रसिद्ध] रामायण चम्पू, अनन्तकृत भारतचम्पू, सोड्ढलकृत (१००० ई०) उदयसुन्दरीकथा इत्यादि और भी कुछ चम्पू ग्रन्थ हैं, परन्तु वे सब साधारण होने के कारण यहाँ परिचय कराने के अधिकारी नहीं हैं।

अध्याय ८

लोकप्रिय कथाग्रन्थ ।

(५२) गुणाढ्य की बृहत्कथा ।

भारतीय साहित्य में जिन लोकप्रिय कथाओं के उल्लेख मिलते हैं उनका सब से पुराना ग्रन्थ गुणाढ्य की बृहत्कथा है। मूल ग्रन्थ पैशाची भाषा में था। वह अब लुप्त हो चुका है। परन्तु इसके अनुवाद या संक्षिप्त संस्करण के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों के आधार पर इस ग्रन्थ के और इसके रचयिता के सम्बन्ध मे कुछ धारणाएँ की जा सकती हैं। इस सम्बन्ध में काश्मीर से उपलब्ध क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी और सोमदेव का कथासरित्सागर तथा नेपाल से प्राप्त बुद्धस्वामी का बृहत्कथाश्लोक संग्रह[1] मुख्य ग्रन्थ हैं।

(क) कवि-जीवन—काश्मीरी संस्करणों के अनुसार गुणाढ्य का जन्म गोदावरी के तट पर बसे प्रतिष्ठान नगर में हुआ था। वह थोड़ी सी संस्कृत जानने वाले नृप सातवाहन का बड़ा कृपापात्र था। एक दिन जल-विहार के समय रानी ने राजा से कहा 'मोदकैः'—उदकै· मा, अर्थात् जलों से न।

---

१ ऐसी कथाएँ समाज के उच्च श्रेणी के लोगों की अपेक्षा साधारण श्रेणी के लोगों में अधिक प्रचलित हैं। इन दिनों भी रिवाज है कि शाम के समय बच्चे घर की बूढी स्त्री के चारों ओर इकट्ठे हो जाते हैं और उससे अपनी मातृभाषा में रोचक कहानिया सुनते हैं।

सन्धिज्ञान से शून्य राजा ने इसका अर्थ समझा 'लड्डुओं से'। भूल मालूम होने पर राजा को खेद हुआ और उसने संस्कृत सीखने की इच्छा प्रकट की। गुणाढ्य ने कहा—मैं आपको छ. वर्ष में संस्कृत पढ़ा सकता हूँ। इस पर हँसता हुआ (कातन्त्र व्याकरण का रचयिता) शर्ववर्मा बोला—मैं तो छः महीने में ही पढ़ा सकता हूँ। उसकी प्रतिज्ञा को असाध्य समझते हुए गुणाढ्य ने कहा—यदि तुम ऐसा कर दिखाओ तो मैं संस्कृत, प्राकृत या प्रचलित अन्य कोई भी भाषा व्यवहार मे नहीं लाऊँगा। शर्ववर्मा ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर दिखाई, तो गुणाढ्य विन्ध्य पर्वत के अन्दर चला गया और वहाँ उसने पिशाचों (भूतों) की भाषा में इस बृहत्काय ग्रन्थ का लिखना प्रारम्भ कर दिया। गुणाढ्य के शिष्य सात लाख श्लोकों के इस पोथे को नृप सातवाहन के पास ले गए; किन्तु उसने अवहेलना के साथ इसे अस्वीकृत कर दिया। गुणाढ्य बड़ा विषण्ण हुआ। उसने अपने चारों ओर के पशुओं और पक्षियों को सुनाते हुए ग्रन्थ को ऊँचे स्वर से पढ़ना प्रारम्भ किया और पठित भाग को जलाता चला गया। तब ग्रन्थ की कीर्ति राजा तक पहुँची और उसने उसका सातवाँ भाग (अर्थात् एक लाख पद्य-समूह) बचा लिया। यही भाग बृहत्कथा है।

नेपाली संस्करण के अनुसार गुणाढ्य का जन्म मथुरा मे हुआ था; और वह उज्जैन के नृपति मदन का आश्रित था। अन्य विवरणों में भी कुछ कुछ भेद है। उक्त दोनों देशों के संस्करणों के गम्भीर अध्ययन से नेपाली की अपेक्षा काश्मीरी की बात अधिक विश्वसनीय प्रतीत होती है। कदाचित् नेपाली-संस्करण के रचयिता का अभिप्राय गुणाढ्य को नेपाल के समीपवर्त्ती देश का निवासी सिद्ध करना हो।

(ख) साहित्य में उल्लेख—गुणाढ्य की बृहत्कथा का बहुत ही पुराना उल्लेख दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है। अपनी वासवदत्ता में सुबन्धु ने भी गुणाढ्य का नाम लिया है। बाण भी हर्षचरित और कादम्बरी दोनों की भूमिकाओं में गुणाढ्य की कीर्ति का स्मरण करता है। बाद के साहित्य में तो उल्लेखों की भरमार है। बृहत्कथा का नाम त्रिविक्रमभट्ट और

सोमदेव के चम्पुओं मे, गोवर्धन की सप्तशती में और ८७५ ई० के कम्बोदिया के शिलालेख में भी आता है।

(ग) प्रतिपाद्यार्थ की रूपरेखा—किसी किसी का कहना है कि बृहत्कथा की कथावस्तु का आधार रामायण की कथा है। रामायण मे राम सीता और लक्ष्मण को साथ लेकर वन में गए। वहाँ सीता चुराई गई। लक्ष्मण की सहायता से राम ने सीता को पुनः प्राप्त किया और अन्त में घर लौट कर वे अयोध्या के राजा बने। बृहत्कथा मे भी कथा का नायक नरवाहनदत्त वेगवती और गोमुख को साथ लेकर घर से निकलता है, वेगवती से वियुक्त होता है; अनेक पराक्रमयुक्त कार्य करने के बाद गोमुख की सहायता से (नायिका) मदनमञ्जुका को प्राप्त करके विद्याधरों के देश का राजा बनता है। जैसे रावण के हाथ मे पड कर भी सीता का सतीत्व सुरक्षित रहा, वैसे ही मानस-वेग के वश मे रह कर भी मदनमञ्जुका का नारीधर्म अखण्डित रहा। यह बात तो असन्दिग्ध ही है कि गुणाढ्य रामायणीय, महाभारतीय और बौद्ध उपाख्यानों से परिचित था। भासमान समानता केवल रूप-रेखा मे है, विवरण की दृष्टि से बृहत्कथा और रामायण में बड़ा अन्तर है। नरवाहनदत्त और गोमुख के पराक्रम प्रायः कवि के समय की लोक-प्रचलित और पथिकों से सुनी-सुनाई कहानियों पर आश्रित हैं। ये कहानियाँ श्रमिकों, नाविकों, वणिकों और पथिकों को बडी प्रिय लगने वाली हैं। लेखक का उद्देश्य सर्वसाधारण के लिए पैशाची भाषा में एक सुगम साहित्यिक सन्दर्भ प्रस्तुत करना था, न कि समाज के उच्च श्रेणी के लोगों के लिए संस्कृत में किसी ऐतिहासिक अथवा औपाख्यानिक नृप की जीवनी या आचार-स्मृति सम्पादित करना। गुणाढ्य में मौलिकता की बहुलता थी। सच तो यह है कि उसका ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा ग्रन्थ है।

गुणाढ्य के पात्रों के चरित्र का अङ्कन बड़ा भव्य है। बड़ों में ही नहीं, छोटे पात्रों में भी व्यक्तित्व की खूब झलक है। नरवाहनदत्त अपने पिता उदयन से अधिक गुणशाली है। उसके शरीर पर तीस सहज सौभाग्य-

चिह्न हैं, जो उसके दूसरा सुगत अथवा एक सम्राट् बनने के द्योतक हैं। यह न्याय का अवतार दिखाई देता है। गोमुख राष्ट्रनीतिकुशल, विद्वान् और चालाक है। उसकी तुलना यथार्थतया सचिव यौगन्धरायण के साथ की जा सकती है। नायिका मदनमञ्जुका की पूर्ण उपमा मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना से दी जा सकती है।

(घ) रचना का रूप (गद्य अथवा पद्य)—'गुणाढ्य ने गद्य में लिखा या पद्य में'? इस प्रश्न का सोलहों आने सही उत्तर देना सम्भव नहीं है। बृहत्कथा के उपलभ्यमान तीनों ही संस्करण पद्यबद्ध हैं और उनसे यही अनुमान होता है कि मूल ग्रन्थ भी पद्यात्मक ही होगा। काश्मीरी संस्करण में उपलब्ध बृहत्कथा के निर्माण-हेतु की कहानी कहती है कि गुणाढ्य ने वस्तुतः सात लाख पद्य लिखे थे, जिनमें से नृप सातवाहन केवल एक लाख को नष्ट होने से बचा सका था। इसके विरुद्ध दण्डी कहता है कि 'कथा' गद्यात्मक काव्य को कहते है; जैसे—बृहत्कथा[1]। दण्डी के मत पर यूँ ही झटपट हड़ताल नहीं फेरी जा सकती; कारण, दण्डी पर्याप्त प्राचीन है और सम्भव है उसने किसी न किसी रूप में स्वयं बृहत्कथा को देखा हो। हेमचन्द्र ने बृहत्कथा में से एक गद्य-खण्ड उद्धृत किया है। इससे दण्डी के मत का समर्थन होता है। यह दूसरी बात है कि पर्याप्त ऊर्ध्वकालीन होने से हेमचन्द्र की बात पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता।

(ङ) पैशाची भाषा का जन्मदेश—यही सुना जाता है कि गुणाढ्य ने यह ग्रन्थ पैशाची भाषा में लिखा था। काश्मीरी संस्करण के अनुसार गुणाढ्य का जन्म-स्थान गोदावरी के तट पर अवस्थित प्रतिष्ठान नगर और बृहत्कथा का उत्पादन-स्थान विन्ध्यगिरि का गर्भ था। इससे तो यही परिणाम निकाला जा सकता है कि पैशाची बोली का जन्म-प्रदेश विन्ध्य पर्वत है।

---

१ अपाद. पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा,
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ .. ... ॥ (काव्यादर्श १. २३)
भूतभाषामयी प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम् ॥ (काव्यादर्श १, ३८)

दूसरी ओर, सर जार्ज ग्रियरसन ने पिशाची बोलियों के एक वर्ग का प्रचार-क्षेत्र भारत का उत्तर-पश्चिमीय प्रान्त बतलाया है। उसके मत से इन बोलियों का सीधा सम्बन्ध पुरातन पैशाची भाषा से है और इन दिनों ये काफिरिस्तान में चितराल, गिलगित और स्वात के प्रदेशों में बोली जाती हैं। उत्तर-पश्चिम की इन पिशाच-बोलियों में 'द' के स्थान पर 'त' और इसी प्रकार अन्य कोमल व्यञ्जनों के स्थान पर भी उन्हीं-जैसे कठोर व्यञ्जन बोले जाते हैं। परन्तु यही प्रवृत्ति विन्ध्यपर्वत की भाषाओं में भी पाई जाती है। लैकोट का विचार है कि शायद गुणाढ्य ने पैशाची भाषा उत्तर-पश्चिम के किन्हीं यात्रियों से सीखी हो। किन्तु यह विचार दिल को कुछ लगता नहीं। फिर, और भी कई कठिनाइयाँ हैं। पैशाची भाषा में केवल एक सकार-ध्वनि का सद्भाव पाया जाता है; परन्तु उत्तर-पश्चिम की पिशाच-बोलियों में अशोक के काल से लेकर भिन्न भिन्न सकार-ध्वनियाँ विद्यमान चली आ रहीं है। इसका रत्तीभर प्रमाण नहीं मिलता कि गुणाढ्य कभी भी उत्तर-पश्चिमीय भारत मे रहा हो। इसके अतिरिक्त राजशेखर हमें बतलाता है कि पैशाची भाषा देश के एक बड़े भाग में, जिसमें विन्ध्याचल श्रेणी भी सम्मिलित है, व्यवहृत होती थी। अतः प्रकरण को समाप्त करते हुए यही कहना पड़ता है कि प्रमाणों का अधिक भार पैशाची के के विन्ध्यवासिनी होने के पक्ष मे ही है।

(च) काल—यह निश्चय है कि बृहत्कथा ईसा की छठी शताब्दी से पहले ही लिखी गई थी; क्योंकि दण्डी ने अपने काव्यादर्श मे इसका उल्लेख करते हुए इसे भूतभाषा में लिखी हुई कहा है। बाद मे सुबन्धु और बाण ने भी अपने अपने ग्रन्थों मे इसका नाम लिया है। सम्भव है मृच्छकटिक के कर्ता ने बृहत्कथा देखी हो और वसन्तसेना का चरित्र मदनमञ्जुका के चरित्र पर ही चित्रित किया हो; परन्तु दुर्भाग्य से मृच्छकटिक का काल अनिश्चित है। लैकोट ने गुणाढ्य को सातवाहन का समकालभव होने के कारण ईसा की प्रथम शताब्दी में रक्खा है। इसके विरुद्ध मत वालों का कथन है कि सातवाहन केवल वंश-वाचक नाम है; अतः इससे कोई असन्दिग्ध परिणाम

नहीं निकाला जा सकता है। कातन्त्रव्याकरण के कर्ता शर्वशर्मा के साथ नाम आने के कारण गुणाढ्य ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद का मालूम होता है।

(छ) ग्रन्थ का महत्त्व—(१) बृहत्कथा महान् महत्त्व का ग्रन्थ है। लोकप्रिय कहानियों का प्राचीनतम ग्रन्थ होने के अतिरिक्त यह भारतीय साहित्य-कला को सामग्री देने वाला विशाल भण्डार है।

(२) अपने से ऊर्ध्वकाल के संस्कृत-साहित्य पर प्रभाव डालने वाले ग्रन्थों में इसका स्थान रामायण और महाभारत केवल इन दो ग्रन्थों के बाद है। ऊर्ध्वकालीन लेखकों के लिए प्रतिपाद्य अर्थ तथा प्रकार दोनों की दृष्टि से यह अक्षय निधि सिद्ध हुआ है।

(३) बृहत्कथा की कहानियाँ एक ऐसे काल की ओर संकेत करती हैं, जो हमें भारत के इतिहास में ऐतिहासिक दृष्टि से अविस्पष्ट प्रतीत होता है। इन कहानियों को जाँच-पड़ताल करने वाले की दृष्टि से देखा जाए, तो इनसे तत्कालीन भारतीय विचारों और रीति-रिवाजों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता प्रतीत होगा।

(४) बृहत्कथा भारतीय साहित्य के विकास में एक महत्त्वपूर्ण अवस्था की सीमा का निर्धारण करती है।

(५३) बुद्धस्वामी का श्लोकसंग्रह (८वीं या ९वीं श०)।

बुद्धस्वामी के ग्रन्थ का पूरा नाम बृहत्कथा श्लोकसंग्रह है। अतः जाना जता है कि इस ग्रन्थ का उद्देश्य पद्यरूप में बृहत्कथा का संक्षेप देना है। यह ग्रन्थ केवल खण्डितरूप मे उपलब्ध होता है, और पता नहीं लेखक ने इसे पूरा लिखा था या अधूरा ही छोड दिया था। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ नेपाल से मिली है; अतः इसका नाम नेपाली संस्करण रक्खा गया है। किन्तु इस ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नेपाल के साथ सम्बन्ध जोड़ने में कोई हेतु दिखाई नहीं देता। इसका समय ईसा की आठवीं या नौवीं शताब्दी माना जाता है।

क्षयावशिष्ट खण्डित प्रति में २८ सर्ग और ४५३९ पद्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने किसी न किसी रूप में असली बृहत्कथा को पढ़ा था। पाठक उदयन की कथा से परिचित है, यह कल्पना करके वह एक एक करके नरवाहनदत्त की प्रेम-कथाओं का कहना प्रारम्भ कर देता है। काश्मीरी संस्करणों के साथ तुलना करने से प्रतीत होता है कि विवरण में महान् भेद है। दोनों देशों के संस्करणों में भेद केवल कथा के क्रम का ही नहीं, कथा के अन्तरात्मा के स्वरूप का भी है। इसके अतिरिक्त काश्मीरी संस्करणों में प्रक्षेप भी पर्याप्त है। उदाहरण के लिए पञ्चतन्त्र के एक संस्करण की कुछ कथाएँ और समग्र वैतालपञ्चविंशतिका को लिया जा सकता है। प्रारम्भ में यही समझा जाता था कि काश्मीरी संस्करणों का आधार अधिकतया असली बृहत्कथा ही है, किन्तु बुद्धस्वामी के ग्रन्थ की उपलब्धि ने इस विचार को बिलकुल बदल दिया है। तीनों संस्करणों के एक समान प्रकरणों की तुलना करने से जान पड़ता है कि शायद क्षेमेन्द्र और सोमदेव को बुद्धस्वामी के ग्रन्थ का पता था और उन्होंने उसका संक्षेप कर दिया है। कम से कम यह कहना तो बिलकुल सच है कि काश्मीरी संस्करण के कई उपाख्यान अप्रासङ्गिक प्रतीत होते हैं और श्लोकसंग्रह को पढ़े बिना उनका अभिप्राय समझ में नहीं आता है।

काश्मीरी संस्करणों मे आए प्रक्षिप्तांशों के विषय में दो समाधान होते हैं—या तो बृहत्कथा की वह प्रति, जो काश्मीर मे पहुँची, पहले ही उपबृंहित हो चुकी थी, और उसमें पञ्चतन्त्र का एक संस्करण एवं समग्र वैतालपञ्चविंशतिका प्रविष्ट थी; या संक्षेप-कारकों ने अपने कर्तव्य को ठीक ठीक नहीं अनुभव किया और अपने क्षेत्र की सीमाओं के अन्दर ही अन्दर रहने की सावधानता नहीं बरती।

शैली—श्लोकसंग्रह की शैली सरल, स्पष्ट और विच्छित्तिशालिनी है। यदि शैली सरल न हो, तो ग्रन्थ लोकप्रिय साहित्य में स्थान नहीं पा सकता। पात्रों का निर्माण स्पष्ट और निर्मल है। रचना के प्रत्येक अवयव में स्वाभाविकता का रंग है। ऐसा भासित होता है कि वर्ण्यमान स्थानों को लेखक ने

आप देखा था। मूल का नैतिक कण्ठ-स्वर इस ग्रन्थ में अत्यन्त उदात्त है। भाषा में आए हुए प्राकृत के अनेक शब्दों ने एक विशेषता उत्पन्न कर दी है। लेखक संस्कृत का पण्डित है और उसे लुङ् लकार के प्रयोग करने का शौक है।

(५४) क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी (१०६३-६ ई०)।

जैसा नाम से प्रकट है बृहत्कथामञ्जरी बृहत्कथा का संक्षेप है। क्षेमेन्द्र की लिखी रामायणमञ्जरी और भारतमञ्जरी के देखने से विदित होता है कि वह एक सच्चा संक्षेप-लेखक था। उसकी बृहत्कथामंजरी में कथा-सरित्सागर के २१३८८ पद्यों के मुकाबिले पर केवल ७५०० पद्य हैं। बहुधा संक्षेप-कला को एक सीमा तक खींच कर ले जाया गया है; इसीलिए मञ्जरी शुष्क, निरुच्छ्वास, अमनोरम प्राय दुर्बोध और तिरोहितार्थ भी है और कथासरित्सागर को देखे बिना स्पष्टार्थ नहीं होती। कदाचित् ये मञ्जरियाँ पद्य-निर्माण-कला का अभ्यास करने के लिए लिखी गई थीं[1]। यदि यह ठीक है तो निसर्गतः बृहत्कथा-मञ्जरी का जन्म कवि के यौवन काल में हुआ होगा। क्षेमेन्द्र केवल सक्षेप-लेखक ही नहीं है। अवसर आने पर वह अपनी वर्णन-शक्ति दिखलाने में प्रसन्न होता है और घटनाओं को वस्तुतः आकर्षक और उत्कृष्ट शैली में वर्णन करता है। यह ग्रन्थ १०६३-६ में लिखा गया था।

प्रतिपाद्य अर्थ की दृष्टि से बृहत्कथामञ्जरी कथासरित्सागर से अत्यन्त मिलती-जुलती है; दोनों ग्रन्थ एक ही काल में एक ही देश में और एक ही आधार पर लिखे गए थे। ग्रन्थ के अठारह खण्ड हैं जिन्हें लम्भक (संभवतया वीर्य-कर्मों के अथवा विजय के द्योतक) कहा गया है। कथापीठ नामक प्रथम लम्भक मे गुणाढ्य की बृहत्कथा की उत्पत्ति की कथा है। द्वितीय और तृतीय लम्भक मे उदयन का और इसके द्वारा पद्मावती की प्राप्ति का इतिहास है। चतुर्थ लम्भक में नरवाहनदत्त के जन्म का वर्णन है। अवशिष्ट लम्भकों में नरवाहनदत्त की अनेक प्रेम कहानियों का, मदन-

---

१ यह एक तथ्य है कि कवि का विश्वास था कि नवशिक्षित कवि को ऐसी रचना करके काव्य-कला का अभ्यास करना चाहिए।

मंजुका के साथ संयोग होने का और विद्याधरों के देश का राज्य प्राप्त करने का वर्णन है। ग्रन्थ में उपाख्यानों का जाल फैला हुआ है, जिसमे मुख्य कथा का धागा प्राय उलझ जाता है। हाँ कुछ उपाख्यान वस्तुत. रोचक और आकर्षक हैं। छठे लम्भक में सूर्य-प्रभा का उपाख्यान है। इसमें कवि ने वैदिक उपाख्यानों को बौद्ध उपाख्यानों और लोक-प्रचलित विश्वासों के साथ मिलने का कौशल दिखलाया है। पन्द्रहवें लम्भक में महाभारत के एक उपाख्यान से मिलता-जुलता एक उपाख्यान आया है। इसमें नायक श्वेतद्वीप की विजय के लिए निकलता है। इस स्थल पर अलंकृत काव्य की शैली मे नारायण से एक मर्म-स्पर्शिनी प्रार्थना की गई है।

(५५) सोमदेव का कथासरित्सागर (१०८१-८३)

कथासरित्सागर का अर्थ है—कथा रूप नदियों का समुद्र। लैकोट ने (बृहत्) कथा की (कहानी रूप) नदियों का समुद्र माना है। लैकोट के अर्थ से यह अर्थ अधिक स्वाभाविक है। इसे काश्मीर के एक ब्राह्मण सोमदेव ने, क्षेमेन्द्र से शायद थोड़े ही वर्ष पश्चात्, लिखा था। यह आकार में क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ से तिगुना एवं ईलियड और ओडिसी के संयुक्त आकार से लगभग दुगुना है। यह ग्रन्थ काश्मीर के अनन्त नामक प्रान्त की दुःखित रानी सूर्यमती के मनोविनोदार्थ लिखा गया था। राजा ने १०८१ ई० में आत्म-हत्या कर ली थी और रानी उसकी चिता पर सती हो गई थी।

सोमदेव का ग्रन्थ अठारह खण्डों में विभक्त है, जिन्हें क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ के खंडों के समान, लम्भक का नाम दिया गया है। इन अठारह खण्डों के चौबीस उपखण्ड हैं। इनका नाम है तरंग[1]। यह इस ग्रन्थ में एक नवीनता है। बाद में इसीको कल्हण ने भी अपना लिया है। पाँचवें खण्ड तक इस ग्रन्थ की रूपरेखा वही है, जो बृहत्कथामञ्जरी की; किन्तु

१ वृहत्कथामञ्जरी के उपखण्डों का नाम है गुच्छ।

आगे आकर इसके प्रतिपाद्य अर्थ के क्रम में कवि ने जो परिवर्त्तन कर दिया है, उससे पढ़ते समय पाठक की अभिरुचि अक्षीयमाण रहती है और दो खण्डों की संधि स्वाभाविक दिखाई देने लगी है। सोमदेव की कहानियाँ निस्सन्देह रोचक और आकर्षक हैं,। उनमे जीवन है और नवीनता है तथा उनके स्वरूप में अनेक-विधता है। इसके अतिरिक्त वे हमे सरल, स्पष्ट और विच्छित्तिशालिनी शैली मे भेट की गई है। सारे २१३८८ पद्यों में से केवल ७६१ पद्यों का ही छंद अनुष्टुप् नहीं है। इसमें लम्बे लम्बे समास, क्लिष्ट वाक्य-रचना और अलंकारों का प्रयोग बिलकुल नहीं पाया जाता। लेखक का उद्देश्य सीधी-सादी कथा के द्रुत-वेग को निर्बाध चलने देना है। इस कार्य में सफल भी खूब हुआ है।

ये कहानियाँ बडी ही रोचक हैं। इनमे से कई पञ्चतन्त्र के संस्करण से ली गई है और ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल की हैं[2]। इन कहानियों में मूर्खों, धूर्तों और शठों की कहानियाँ बड़ी रोचक है। कुछ कहानियाँ स्त्रियों के प्रेम-पाश की भी दी गई हैं। इनमे से कुछ वस्तुतः चारित्र्य का निर्माण करने वाली हैं। प्रवञ्चक तापसी के 'भूतेन्द्रियानभिद्रोहो धर्मो हि परमो मतः[3]' उपदेश का देवस्मिता पर कोई असर नहीं हुआ। देवस्मिता के कौशल के सामने उसके भावी प्रेमियों की एक नहीं

१ परोपकार के महत्त्व का वर्णन करनें वाला वक्ष्यमाण पद्य इसकी शैली का उत्तम नमूना पेश करता है—

परार्थफलजन्मानो न स्युर्मार्गद्रुमा इव।
तपच्छिदो महान्तश्चेज् जीर्णारण्यं जगद् भवेत्॥

अर्थात्—दूसरों को फल खिलाने वाले, धूप का निवारण करने वाले मार्ग में खडे हुए बडे बडे वृक्षों के तुल्य परोपकार करने वाले दूसरों का कष्ट निवारण करने वाले महा (पुरुष) न हों, तो जगत् पुराने जंगल (के समान निवास के अयोग्य) हो जाए।

२ ये कहानियाँ सङ्घसेनलिखित एक ग्रन्थ में पाई जाती हैं। इसका अनुवाद लेखक के ही शिष्य गुणवृद्धि ने ४९२ ई० में चीनी भाषा में किया था। ३ (पञ्च) भूतों से उत्पन्न इन इन्द्रियों को सुखी करना ही सबसे बड़ा धर्म है।

चली। वह उन्हें विष-घुली शराब पिला देती है; कुत्ते के आयसी पंजे से उनके माथे को दाग देती है; और उन्हें गन्द से भरी एक खाई में फेंक देती है। बाद मे वह घोषणा कर देती है कि ये मेरे भागे हुए नौकर हैं; और इस तरह उन्हें सदा के लिए लज्जित कर देती है। शठों के साथ यही व्यवहार सर्वथा उचित था। कुछ कहानियाँ बौद्ध-रंग में रँगी हुई देखी जाती हैं। उदाहरणार्थ हम उस राजा की कहानी ले सकते हैं, जिसने अपनी आँखे केवल इस लिए निकलवा डाली थीं कि—स्त्रियाँ उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती थीं। इसके अतिरिक्त पोत-भंग और कर्पूर-देश इत्यादि के वर्णन तथा समुद्र और स्थल-सम्बन्धी आश्चर्य-जनक घटनाओं की कुछ कहानियाँ भी हैं। प्रकृति वर्णन की भी उपेक्षा नहीं की गई है।

(५६) वेतालपञ्चविंशतिका।

इस ग्रन्थ में पच्चीस कहानियाँ हैं। इनका वक्ता एक वेताल (शव में बसा हुआ भूत) और श्रोता नृप त्रिविक्रमसेन[1] है। आज कल यह ग्रन्थ हमें बृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर में सम्मिलित मिलता है; परन्तु सम्भव है मूलरूप मे यह कभी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ हो। बाद के इसके कई संस्करण उपलब्ध हैं। उनमे से एक, जो (१२वीं या और भी बाद की शताब्दी के) शिवदास[2] की रचना समझी जाती है। यह गद्य और पद्य दोनों में है। एक और संस्करण है, जो बिलकुल गद्य में है, और जिसके रचयिता का पता नहीं है। वह मुख्यतया क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है। जम्भलदत्त और वल्लभदास के संस्करण और भी बाद के हैं। ग्रन्थ की अत्यन्त लोक-प्रियता का प्रमाण इसीसे

---

१ बाद के संस्करणों में राजा का नाम विक्रमादित्य आया है। २ शालिवाहन कथा और कथार्णव इन दो कथा सन्दर्भों का कर्ता भी शिवदास ही प्रसिद्ध है। प्रथम सन्दर्भ में गद्य और पद्य दोनों अठारह सर्ग हैं और इसके उपजीव्य बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरित्सागर हैं। द्वितीय सन्दर्भ में मूर्ख, द्यूतव्यसनी, शठ, प्रवञ्चक इत्यादि की पैंतीस, रोचक, और शिक्षाप्रद कहानिया हैं।

मिलता है कि भारत की प्रायः सभी भाषाओं मे इसका अनुवाद हो चुका है।

ग्रन्थ की रूप-रेखा जटिल नहीं है। एक राजा किसी प्रकार किसी महात्मा से उपकृत हुआ। महात्मा ने कहा कि जाओ उस श्मशान मे पेड़ पर उलटी लटकती हुई लाश को ले आओ। राजा ने आज्ञा शिरोधार्य की। परन्तु लाश मे एक वेताल (प्रेतात्मा) का निवास था, जिसने राजा से प्रतिज्ञा करा ली कि—यदि तू चुप रहे तो मैं तेरे साथ चलने को तैयार हूँ।

मार्ग मे वेताल ने एक जटिल कहानी कहने के बाद राजा से उसका उत्तर पूछा। प्रतिभाशाली राजा ने तत्काल उत्तर दे दिया। राजा का उत्तर देना था कि वेताल तत्काल छू मन्तर हो गया। बिचारे राजा को फिर लाश को लाने जाना पड़ा। फिर पहली जैसी ही घटना हुई। इस प्रकार नाना-प्रकार की पच्चीस कहानियाँ कही गई है। उदाहरण के लिए, एक कन्या की कहानी आती है। वह एक राक्षस के पंजे में पड गई। उसकी जान बचाने के लिए उसके तीन प्रणयियों में से एक ने अपने कौशल से उस कन्या के गोपनार्थ एक स्थान बताया, दूसरे ने अपनी आश्चर्यजनक शक्ति से उसके लिए विमान का प्रबन्ध किया और तीसरे ने अपने पराक्रम से उस राक्षस को पराभूत किया। अब स्वयमेव प्रश्न उठता है कि तीनों में से कौन कन्या को प्राप्त करे। राजा ने तत्काल उत्तर दिया 'जिसने पराक्रम किया' पच्चीसवीं कहानी को सुनकर राजा उत्तर सोचने के लिए चुप हो गया। तब वेताल ने महात्मा रूप धारी साधु के कपट का भाण्डा फोड़ते हुए राजा को वह सारा उपाय कह सुनाया, जिसके द्वारा साधु राजा को मारना चाहता था। इसके बाद वेताल ने राजा को बच निकलने का मार्ग भी बतला दिया।

शिवदास के लिखने की शैली सरल, स्वच्छ और आकर्षक है। भाषा सुगम और लावण्यमय है। श्लेष बहुत कम है। अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

स धूर्जटिजटाजूटो जायतां विजयाय वः।
यत्रैकपलितभ्रान्तिं करोत्यद्यापि जाह्नवी[1] ॥

(५७) शुकसप्तति।

शुकसप्तति में सत्तर कथाएँ संगृहीत हैं। इनका वक्ता एक तोता[2] और श्रोत्री पति को सन्देह की दृष्टि से देखने वाली मैना है। किसी वणिक् का पुत्र मदनसेन परदेश जाते समय घर पर अपनी पत्नी की देख-रेख करने के लिए एक तोते और एक कव्वे को छोड़ गया। ये दोनों पक्षी के रूप में वस्तुतः दो गन्धर्व थे। मदनसेन की भार्या धर्म-च्युत होने को तय्यार हो गई। कव्वे ने धर्मपथ पर दृढ़ रहने की शिक्षा दी, तो उसे मौत की धमकी दी गई। चतुर तोते ने अपनी स्वामिनी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए उससे पूछा कि—क्या तुम इस मार्ग में आने वाले विघ्नों को दूर करने का भी उपाय जानती हो, जिन्हें अमुक अमुक व्यक्ति काम में लाए थे। न जानती हो तो मैं तुम्हें कहानी द्वारा बतला सकता हूँ। वणिक् की वधू ने तोते की बात को पसन्द करते हुए कहानी सुनने की इच्छा प्रकट की। तोते ने रात को कहानी सुनाई। कहानी के अन्त में विघ्न का वर्णन आने के बाद अमुक अमुक व्यक्ति द्वारा काम में लाया हुआ उसके दूर करने के उपाय का वर्णन आया। कहानियों को आपस में कुछ इस तरह गूँथा गया है कि तोता हर रात को नई से नई समस्या खड़ी कर देता है। जब तोता सत्तरवीं कहानी सुना चुका, तब तत्काल ही उसका स्वामी मदनसेन परदेश से लौट आया।

---

१ महादेव की जटाओं का वह जाल, जिस पर गंगा आज भी आधे भाग के पलित (बुढ़ापे से श्वेत) हो जाने का भ्रम पैदा करती है, आपको विजयदायी हो। २ यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पुनर्जन्म-वाद में पशु-पक्षी भी मनुष्यों के समान ही यथार्थ जीवधारी माने जाते हैं। बाण की कादम्बरी में कथा का वक्ता तोता है, यह हम पहले ही देख चुके हैं।

तोते का उद्देश्य मदनसेन की पत्नी को पाप-पथ पर प्रवृत्ति होने से रोके रखना था, वह पूरा हो गया। कहानियों में असती स्त्रियों की चालाकियों का ही वर्णन अधिक आया है।

सारे का विचार करके देखने से ग्रन्थ रोचक कहा जाएगा। यह सरल गद्य में लिखा हुआ है। बीच बीच में कोई कोई औपदेशिक और कथा-प्रतिपादक पद्य आता गया है। कुछ पद्य प्राकृत भाषा में हैं। इनके आधार पर यह धारणा की गई है कि मूल-ग्रन्थ प्राकृत भाषा में ही था; परन्तु इस धारणा के पोषक अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। इस ग्रन्थ के दो संस्करण मिलते है। एक का रचयिता कोई चिन्तामणि भट्ट और दूसरे का कोई अज्ञातनामा श्वेताम्बर जैन कहा जाता हैं। ग्रन्थ लोक-प्रिय है और इसने आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य पर कुछ प्रभाव भी डाला है। इसके समय का पता नहीं। सम्भवतया यह किसी न किसी रूप में जैन हेमचन्द्र को (१०८८-११७२ ई०) विदित था।

(५८) सिंहासनद्वात्रिंशिका।

सिंहासनद्वात्रिंशिका में बत्तीस कथाएँ हैं। इनकी कहने वाली विक्रमादित्य के सिंहासन में लगी हुई पुतलियाँ है। कहा जाता है कि विक्रमादित्य ने अपना सिंहासन इन्द्र से प्राप्त किया था। उसके स्वर्गवासी हो जाने पर यह सिंहासन भूमि में गाड दिया गया। बाद में इसका पता लगाने वाला धाराधिपति भोज (११वीं श० मे) हुआ। जब वह इस पर बैठने लगा तब पुतलियों ने ये कहानियाँ उसे सुनाई। इस ग्रन्थ के उपलभ्यमान अनेक संस्करण इसकी लोक-प्रियता के परिचायक हैं। (इनमें से कुछ संस्करण कथा-सूचक पद्यों से मिश्रित गद्य में हैं, कुछ पद्य में हैं, जिनमें बीच-बीच में औपदेशिक पद्य भी हैं, और कुछ केवल पद्य में है)। इसका अनुवाद आधुनिक भाषाओं में भी हो गया है। विक्रमादित्य के 'विक्रम-कर्म' संस्कृत कवियो को अपनी रचनाओं के प्रतिपाद्यार्थ के

लिए कभी बड़े प्रिय थे। अत· इस ग्रन्थ की रोचकता में कोई न्यूनता नहीं आई। भाषा सरल है। ग्रन्थ के रचयिता के नाम और ग्रन्थ के निर्माण के काल का ठीक ठीक कुछ पता नहीं। बहुत कुछ निश्चय के साथ हम केवल यही कह सकते हैं कि यह वेतालपञ्चविंशतिका के बाद की रचना है।

(५९) बौद्ध-साहित्य।

अब तक हम लोक-प्रिय कथाओं के शुद्ध ब्राह्मणिक-साहित्य का ही वर्णन करते आए हैं। किन्तु लौकिक साहित्य की इस शाखा में बौद्ध और जैन साहित्य बडे सम्पन्न हैं। इस तथा अगले खण्ड में हम इन्हीं साहित्यो पर विचार करेंगे। बौद्ध कहानियों का मुख्य उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना है। उनमे मनुष्य के कर्मों के फल की व्याख्या है। बुद्धि की भक्ति से परलोक मे आनन्द मिलता है। इससे पराङ्मुख रहने वालों को नरक की यातना भोगनी पड़ती है। यहाँ उल्लेख के योग्य प्राचीनतम ग्रन्थ अवदान है। इनमे वीर्य-कर्मों या गौरवशालिनी उपार्जनाओं (Achievments) का वर्णन है।

(क) अवदानशतक।

प्राप्य अवदान सन्दर्भों में अवदानशतक सबसे पुराना सन्दर्भ समझा जाता है। ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध में ही इसका अनुवाद चीनी भाषा में हो चुका था। अतः इसका निर्माण-काल ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है। इससे पुराना यह हो नहीं सकता; कारण, इसमें 'दीनार' शब्द पाया जाता है। इसका मुख्य आधार बौद्धों के सर्वास्तित्ववादिमत का विनयपिटक है। ग्रन्थ दस दशकों में विभक्त है। इसकी कहानियों का जितना महत्त्व उपदिश्यमान शिक्षाओं के कारण है, उतना साहित्यिक गुणों के कारण नहीं। ग्रन्थ में कुछ गद्य है और कुछ पद्य। पद्य-भाग सरल काव्य के ढंग का है। कुछ उपाख्यान ऐतिहासिक भी हैं। उदाहरण के लिए बिम्बसार की रानी श्रीमती को ले सकते हैं। कहानी

बतलाती है कि अजातशत्रु ने इसे बुद्ध के भस्मादि अवशेष को श्रद्धाञ्जलि भेंट करने से मना किया। आज्ञा भंग के अपराध पर राजा ने इसका वध करवा दिया तो यह सीधी स्वर्ग को चली गई।

(ग) दिव्यावदान—यह उपाख्यानो का संग्रह ग्रन्थ है। इन उपाख्यानों का मुख्य आधार सर्वास्तित्ववादियों का विनयपिटक ही है। इसके एक भाग में महायान सम्प्रदाय के और दूसरे में हीनयान के सिद्धान्तों का व्याख्यान है। इसके संग्रहकर्ता को अश्वघोष के बुद्धचरित और सौन्दरानन्द का परिचय अवश्य था। इसकी साहित्यिक उपार्जनाएँ (Achievements) उच्च श्रेणी नहीं हैं। नन्द के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए अश्वघोष कहता है—'अतीत्य मर्त्यान् अनुपेत्य देवान्[1]' (सौन्दरा० ५) इसी बात को भद्दी करके यह गुप्त के पुत्र के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ यूँ कहता है—'अतिक्रान्तो मानुषवर्णम् असम्प्राप्तश्च दिव्यवर्णम्[2]'।

दिव्यावदान में शैली की एकता का अभाव है। शायद इसका यह कारण हो कि इसके उपजीव्य ग्रन्थ भिन्न भिन्न हैं। कभी कभी इसमें कथा-कथन पूर्ण पद्यों से मिश्रित गद्य आ जाता है तो कभी कभी काव्य-पद्धति पर लिखे हुए पद्यों से संयुक्त प्रसाधित गद्य।

ग्रन्थ का संग्रह-काल ईसा की दूसरी शताब्दी के आस-पास माना जा सकता है। यह उपर्युक्त अवदानशतक से नवीन है और २६५ ई० से अच्छा खासा करके पुराना है। क्योंकि, इसी सन् में इसके शार्दूल कर्णावदान नामक एक मुख्य उपाख्यान का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। कहानियाँ रोचक हैं और विभिन्न रसों की उत्पत्ति करती हैं। अशोक के पुत्र कुणाल की कहानी वस्तुतः करुणरसपूर्ण है। कुणाल की सौतेली माता ने अपने पति के पेट में घुसकर कुणाल की आँखें निकलवा ली थीं।

---

१ मनुष्यों से ऊपर उठकर, देवताओं तक न पहुँच कर। २ मनुष्यों के रंग से बाजी ले गया था, देवताओं के रंग तक पहुँच नहीं पाया था।

(ख) आर्यशूरकृत जातक माला।

जातक माला का अभिप्राय है जन्म की कथाओं का हार। आर्यशूर की जातक माला में बोधिसत्त्व[1] के गौरवशाली कृत्यों की कथाओं का संग्रह है, अर्थात् इसमें गौरवप्रद उन कार्यों का वर्णन है जो भावी बुद्ध ने पहले जन्मों में किये थे[2]। आर्यशूर की जातक माला जैसे वर्ण्य वस्तु के लिए पालीभाषा की जातक-पुस्तक तथा पालीभाषा के चरित्र पिटक की वैसे ही शैली के लिए अश्वघोष के काव्यों की ऋणी है। यह ग्रन्थ और बोधिसत्त्वावदानमाला[3] दोनों एक ही माने जाते हैं। इन जातक कथाओं में प्राचीन इतिहास भरने का यत्न दिखाई नहीं देता है। ये ईसइयों की औपदेशिक कहानियों से अधिक मिलती हैं, अतः ये ईसाइयों की उपदेश की छोटी छोटी पुस्तको के समान बुद्ध-धर्म के स्वीकृत सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए लिखी हुई मानी जाती हैं। ग्रन्थ में ग्रन्थोद्देश्य पाठक के मन में सद्धर्म की भावना उत्पन्न करना या प्रबल करना बताया गया है।

कहानियों की भाषा कुछ तो सुन्दर गद्य-मय और कुछ काव्य-श्रेणी की पद्यात्मक है। प्रत्येक कहानी का प्रारम्भ सरल गद्य-खण्ड से होता है और इसका उद्देश्य आचारपरक एक निश्चित शिक्षा देना है। दान का माहात्म्य दिखलाने के लिए बोधिसत्त्व के उस जन्म की कहानी दी गई है जिसमें वह शिविराजकुल में उत्पन्न हुआ था। उसने इतना दान दिया था कि भिक्षुओं को माँगने के लिए कोई वस्तु शेष नहीं रही थी। एक बार किसी अन्धे वृद्ध ब्राह्मण ने[4] आकर उससे एक आँख माँगी तो

---

१ जो व्यक्ति पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग पर चल पड़ा है और सर्वोच्च बुद्ध की अवस्था प्राप्त करने तक जिसे कुछ थोड़े से ही जन्म धारण करने पड़ेंगे, वह बोधिसत्त्व कहलाता है। २ यह विश्वास किया जाता है कि बुद्ध को अपने पूर्वजन्म की घटनाएँ याद थीं। ३ दोनों नामों की एकता का विचार सब से पहले राजेन्द्रलालमित्र ने प्रकट किया था। ४ वस्तुतः यह इन्द्र था जो उसकी दान-शीलता की परीक्षा लेने आया था।

उसने ब्राह्मण को अपनी दोनों आँखें दे दी। मन्त्रियों ने बहुतेरा कहा कि आप इस अन्धे ब्राह्मण को कोई और चीज़ दान में दे दीजिये, परन्तु राजा ने एक न मानी। राजा का उत्तर बड़ा ही महत्त्वशाली है। वह कहता है—

यदेव याच्येत तदेव दद्यान्नानीप्सितं प्रीणयतीह दत्तम्।
किमुह्यमानस्य जलेन तोयैर्दास्याम्यतः प्रार्थितमर्थमस्मै[1]॥

जब मन्त्रियों ने पुनः आग्रह किया तब राजा ने बड़ा ऊर्जस्वी विचार प्रकट करते हुए कहा—

नायं यत्नः सार्वभौमत्वमाप्तुं नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्तिम्।
त्रातुं लोकानित्ययं त्वादरो मे, याञ्चाक्लेशो मा च भूदस्य मोघः[2]॥

प्रायः हम यह पाते हैं कि यज्ञिय द्रव्य और यज्ञ-हेतु में कोई आनुपातिक भाग नहीं है। इसीलिए एक कहानी में हमें बताया गया है कि बोधिसत्त्व ने एक भूखी सिंहनी को खाने के लिए अपना शरीर दे दिया था॥

आर्यशूर प्रकाण्ड पण्डित था और भगवान् ने इसे लिखने की विशेष योग्यता प्रदान की थी। इसकी भाषा अविदूषित और शब्दविन्यास शुद्ध है। इसकी शैली ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी के शिला-लेखों से मिलती है। इसके अतिरिक्त यह छन्द के प्रयोग में प्रवीण है और उत्पाद्य-मान रस के अनुरूप छन्द का प्रयोग करना जानता है। इसके छन्दों में से कुछेक अव्यवहृत भी हैं और कलाकार की निर्मित कविता की शोभा बढ़ाने वाले हैं। पद्यों में इसने भिन्न भिन्न अलङ्कारों का भी प्रयोग किया है। देखिए इन पंक्तियों में कितना सरल और सुन्दर अनुप्रास है—

---

१ याचित ही वस्तु देनी चाहिए। याचित से भिन्न वस्तु दी जाए तो वह याचक को प्रसन्न नहीं करती। जलधारा में बहते हुए को जल से क्या लाभ। इसलिए मैं तो इसे प्रार्थित ही पदार्थ दूंगा। २ मेरा यह प्रयत्न न साम्राज्य प्राप्त करने के लिए है, न स्वर्ग, न मुक्ति और न कीर्ति। मेरी कामना तो लोक की रक्षा करना है। इसका मागने का क्लेश निष्फल न रहे।

ततश्चकम्पे सधराधरा धरा, व्यतीत्य वेलां प्रससार सागरः[1]।

(शिबिजातक, ३८)

गद्य में इसने दीर्घ समासों का प्रयोग किया है; किन्तु अर्थ में धुंधलापन कहीं कहीं ही आया है। इसके शानदार गद्य का एक आदर्शभूत उदाहरण देखिए—

अथ बोधिसत्त्वो विस्मयपूर्णमनोभि र्मन्दनिमेषप्रविकसितनयनैरमात्यैरनुयातः पौरैश्चाभिवीक्ष्यमाणो जयाशीर्वचनपुरःसरैश्च ब्राह्मणैरभिनन्द्यमानः पुरवरमुच्छ्रितध्वजविचित्रपताकं प्रवितन्यमानाभ्युदयशोभमभिगम्य पर्षदि निषण्णः सभाजनार्थमभिगतस्यामात्यप्रमुखस्य ब्राह्मणवृद्धपौरजानपदस्यैवमात्मोपनायिकं धर्मं देशयामास।

क्योंकि यह ग्रन्थ पालि-ग्रन्थों पर आश्रित है और बौद्ध-साम्प्रदाय सम्बन्धी है; अतः इसमें कहीं कहीं पाली के शब्दों का आजाना विस्मयजनक नहीं है।

काल—तारानाथ ने मामूली-सी वजह से आर्यशूर और अश्वघोष को एक व्यक्ति मानने का विचार प्रस्तुत किया है। उक्त महाशय ने अश्वघोष के कुछ और प्रचलित नाम भी दिए हैं; परन्तु इससे हम किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सकते हैं। अश्वघोष के काव्यों और जातकमाला में शैली की इतनी विषमता है कि उक्त विचार पर गम्भीरता से विचार करने का अवसर नहीं रहता।

जातकमाला १००० ई० के लगभग चीनी भाषा में अनूदित हो गई थी, और इसके रचयिता आर्यशूर का नाम तिब्बत में एक ख्यातनामा अध्यापक एवं कथा-लेखक के तौर पर प्रसिद्ध था। ७वीं शताब्दी का चीनी यात्री इत्सिंग इस ग्रन्थ से परिचित था। कर्मफलसूत्र, जिसका रचयिता यही आर्यशूर माना जाता है, ४३४ ई० में चीनी में अनूदित हो गया था। अतः

---

१ तब पर्वत और मैदान सभी हिल गए, समुद्र का पानी किनारों पर चढ़कर दूर तक फैल गया।

आर्यशूर का काल ईसा की चौथी या तीसरी शताब्दी के समीप मान सकते हैं।

(६०) जैन साहित्य।

बौद्ध कहानियों की तरह जैन कहानियाँ भी औपदेशिक ही हैं। उन का उद्देश्य पाठक-मनोरञ्जन नहीं, जैन धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा देना है।

(क) सिद्धर्षि की उपमितिभव प्रपंच कथा (९०६ ई०)।

उपमितिभव प्रपञ्च कथा में मनुष्य की आत्मा का वर्णन अलङ्कार के साँचे में ढाल कर[1] एक कथा के रूप में किया गया है। संस्कृत में अपने ढंग का सब से पुराना ग्रन्थ होने के कारण यह महत्त्वशाली माना जाता है। इसे ९०६ ई० मे सिद्धर्षि ने लिखा था। प्रस्तावना के अन्त मे लेखक ने स्वयं विशदार्थ कर दिया है। अतः अलङ्कार का समझना कठिन नहीं है। ग्रन्थ के बीच में कहीं कहीं आए हुए पद्यों को छोड़ कर सारा गद्य ही है। भाषा इतनी सरल है कि उसे बालक भी आसानी से समझ सकते हैं—कम से कम लेखक का उद्देश्य यही है। शैली रोचक है; परन्तु अलङ्कार के साँचे में ढला हुआ, तथा औपदेशिक प्रकार का होने के कारण ग्रन्थ रोचक नहीं है।

(ख) हेमचन्द्र कृत परिशिष्ट पर्व (१०८८–११७२ ई०)।

हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में प्राचीन काल के जैन साधुओं की कहानियाँ दी गई हैं। ये कहानियाँ सरल और लोकप्रिय हैं। लेखक के मन में अपने धर्म-प्रचार का भाव इतना उग्र है कि ऐतिहासिक नृप चन्द्रगुप्त भी जैनधर्मावलम्बी एक सच्चे भक्त के रूप में मरा बतलाया गया है। आश्चर्य है कि प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ ने इस कहानी पर विश्वास कर लिया। यह ग्रन्थ इसी लेखक के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित नामक ग्रन्थ का पूरक है।

---

१ इस प्रकार का दूसरा ग्रन्थ प्रबोध चन्द्रोदय नाटक है जो बाद में बना था।

अध्याय ९

औपदेशिक जन्तु-कथा (Fable)

(६१) औपदेशिक जन्तु-कथा का स्वरूप

भारतीय साहित्य-शास्त्री बृहत्कथा जैसे और पञ्चतन्त्र जैसे ग्रन्थों में पारस्परिक कोई भेद नहीं मानते हैं। परन्तु इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन दोनों का भेद विस्पष्ट कर देता है। इनका बाह्याकार प्रतिपाद्य विषय और अन्तरात्मा एक दूसरे के समान नहीं हैं। बृहत्कथा का प्रयोजन पाठक का मनोरञ्जन करना और पञ्चतन्त्र का प्रयोजन धर्मनीति और राजनीति की शिक्षा देना है। पूर्वोक्त की रचना सरल गद्य में या वर्णन-कृत् पद्य में या दोनों के संयोग में हुई है, परन्तु उत्तरोक्त में बीच बीच में औपदेशिक पद्यों से संयुक्त शोभाशाली गद्य देखा जाता है। उत्तरोक्त में कथाओं के शीर्षक तक पद्य-बद्ध दिए गए हैं। लोकप्रिय कथा-साहित्य में अन्धविश्वास, लोकप्रचलित दन्तकथाएँ, प्रणय और वीर्य-कर्मों (Adventures) की कहानियाँ, स्वप्न और प्रतिस्वप्न इत्यादि हुआ करते हैं, परन्तु पञ्चतन्त्र में हम प्रायः पशु-पक्षियों की कहानियाँ पाते हैं। ये पशु-पक्षी मानवीय संवेदनाओं से युक्त प्रतीत होते हैं, तथा विद्वान् राजनीतिविद् एवं चतुर धर्मनीति व्याख्याता के रूप में प्रकट होते हैं। लोक-प्रिय कथा से इसका भेद दिखलाने के लिए पञ्चतन्त्र को औपदेशिक जन्तु-कथा-साहित्य में सम्मिलित करते हैं।

(६२) औपदेशिक जन्तु-कथा का उद्भव

वैदिक साहित्य में, विशेष करके ऋग्वेद में, औपदेशिक जन्तु-कथाओं का ढूँढना व्यर्थ है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है पञ्चतन्त्र के स्वरूप के मुख्य तत्त्व पशु-पक्षियों की कथाएँ तथा नीति-शिक्षाएँ हैं। ऋग्वेद में (८, १०३) केवल एक ऐसा सूक्त है जिसमें प्रतीत होता है कि यज्ञ में मन्त्रोच्चारण करने वाले ब्राह्मणों की तुलना वर्षा के प्रारम्भ में टर्राते हुए मेंडकों से की गई है। इसके बाद कुछ उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में मिलते हैं। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि सत्यकाम का प्रथम शिक्षादायी एक बैल, उसके बाद एक राजहंस और फिर एक और पक्षी है। महाभारत में जन्तु-कथाएँ प्रारम्भिक अवस्था में देखने को मिलती हैं। हम एक पुण्यात्मा बिल्ली की कहानी पढ़ते हैं, जिसने चूहों के जी में अपना विश्वास जमा कर उन्हें खा लिया। विदुर ने धृतराष्ट्र को समझाते हुए कहा था कि आप पाण्डवों को परेशान न करें, उनको परेशान करने से ऐसा न हो कि सोने का अण्डा देने वाला पक्षी आपके हाथ से जाता रहे। एक और अवसर पर एक चालाक गीदड़ की कथा आई है जिसने अपने मित्र व्याघ्र, भेड़िये इत्यादि की सहायता से खाने के लिए खूब मांस पाया; परन्तु अपनी धूर्तता से उन्हें इसका ज़रा-सा भी भाग न दिया। इस कहानी से दुर्योधन को समझाया गया है कि उसे पाण्डवों के साथ किस तरह बरतना चाहिए।

बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव ने औपदेशिक जन्तु-कथा-साहित्य की उन्नति में सहायता की। पुनर्जन्मवाद में यह बात मानी जाती है कि मनुष्य शरीर में वास करने वाली आत्मा पाप-पुण्य के अनुसार तिर्यगादि की योनि में जाती रहती है। पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त पर भारतीय धर्मों में बड़ा बल दिया गया है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि बौद्धों और जैनों ने अपने अपने धर्म के मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए कहानी को एक अभ्रान्त साधन बना लिया था। बौद्ध जातकों में बोधिसत्त्व एवं दूसरे सन्तों के

पूर्वजन्मों के चरित का वर्णन करने के लिए पशु-पक्षियों की कथाएँ पाई जाती हैं। भर्हुत के स्थान पर बौद्ध जातकों का स्मारक साक्ष्य है, वह निश्चय रूप से बतलाता है कि ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में जन्तु-कथाएँ बड़ी लोकप्रिय थीं। पतञ्जलिकृत महाभाष्य में आए लोकोक्ति-सम्बन्धी कुछ उल्लेखों से भी इसकी पुष्टि होती है।

दूसरे तत्त्व के—नीति-शिक्षा तत्त्व के—बारे में यह सविश्वास कहा जा सकता है कि पञ्चतन्त्र का रचयिता नीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र का अधमर्ण है। रचियता का प्रतिज्ञात प्रयोजन राजा के निरक्षर कुमारों को अनायासतया नीति की[1]—राजनीति, व्यवहारिक ज्ञान और सदाचार की—शिक्षा देना है। यह बात असंशयित ही समझनी चाहिए कि पञ्चतन्त्रकार को चाणाक्य के ग्रन्थ का एवं राजनीति विषयक कुछ अन्य सन्दर्भों[2] का पता था। साधारण जन्तु-कथाओं के साथ नीति शास्त्र के सिद्धान्तों का चतुरता-पूर्वक मिश्रण करके औपदेशिक जन्तु कथा-साहित्य की सृष्टि की गई जैसा कि हम पञ्चतन्त्र में प्रत्यक्ष देखते हैं, जो संस्कृन साहित्य के इतिहास में निरुप म है। यह अपने प्रकार का आप ही है।

---

१ [पञ्चतन्त के एक संस्करणभूत] हितोपदेश का अधोलिखित पद्य देखिए—

कथाच्छलेन बालाना नीतिस्तदिह कथ्यते (भूमिका पद्य ८)।

अर्थात्—कथाओं के बहाने से बालकों को नीति सिखाने वाली बातें इस ग्रन्थ में लिखी जाती हैं।

भूमिका में स्वयं पञ्चतन्त्र को नीति-शास्त्र कहा गया है और कहा गया है कि जगत् के सारे अर्थ-शास्त्रों का सार देख चुकने के बाद यह ग्रन्थ लिखा जाता है।

२ भूमिका में लेखक ने नीति-शास्त्र के नाना लेखकों को प्रणाम करते हुए कहा है—

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः॥

(६३) असली पञ्चतन्त्र

(१) असली ग्रन्थ का नाम—असली ग्रन्थ का नाम अवश्य पञ्चतन्त्र ही होगा। दक्षिण की प्रतियों में, नेपाल की प्रतियों में, हितोपदेश में और उन सम्पूर्ण संस्करणों मे जिनमें कोई नाम दिया गया है, यही नाम आता है। उदाहरण के लिए हितोपदेश का कर्ता शुद्ध मन से कहता हैं:—

पञ्चतन्त्रात् तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते[1] (भूमिका पद्य ९)।

पञ्चतन्त्र की भूमिका में लिखा है:—

एतत् पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम्।

नाम में आए हुए 'तन्त्र' शब्द का अर्थ है 'किसी ग्रन्थ का एक अध्याय या खण्ड'। आभ्यन्तरिक साक्ष्य से भी इसका समर्थन होता है—

तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम्।

इस प्रकार के नाम और भी मिलते हैं। यथा; अष्टाध्यायी (आठ अध्यायों की एक पुस्तक। पाणिनि के व्याकरण का नाम)। शायद 'तन्त्र' शब्द का अभिप्राय उस 'ग्रन्थ खण्ड से' है जिसमें 'तन्त्र' का अर्थात् राज-नीति का और व्यवहारोपयोगी ज्ञान का निरूपण हो। प्रो० हर्टेल ने 'तन्त्र' का अर्थ दाव-पेच किया है; परन्तु इसे बुद्धि स्वीकार नहीं करती।

(२) ग्रन्थ की जन-प्रियता—इसकी जनप्रियता का प्रमाण इसी तथ्य में निहित है कि इसके दो सौ से अधिक संस्करण मिलते हैं, जो पचास से अधिक भाषाओं में हैं; और इन भाषाओं में तीन-चौथाई के लगभग भाषाएँ भारत से बाहर की हैं। ११०० ई० में इसका भाषान्तर हिब्रू में हुआ और १५७० ई० से पूर्व यह यूनानी, स्पेनिश, लैटिन, इटैलियन, जर्मन, पुरानी स्लैवोनिक, ज़ेक और इंग्लिश में भी अनूदित हो चुका था। आजकल इसका पठन-पाठन जावा से लेकर आइसलैण्ड तक होता है।

---

१ पञ्चतन्त्र और दूसरे ग्रन्थों से आशय लेकर यह ग्रन्थ लिखा जाता है।

भारत में तो यह ग्रन्थ और भी अधिक लोकप्रिय चला आ रहा है। इसका उल्था[1] मध्यकालीन तथा वर्तमान कालीन भारतीय भाषाओं में होकर उसका उल्था फिर संस्कृत में हुआ। इसे पद्य का रूप देकर फिर उसे गद्य का रूप दिया गया। इसका प्रसारण भी हुआ और आकुञ्चन भी। इतना ही नहीं, इसकी कुछ कहानियों ने सर्वसाधारण में प्रचलित कहानियों का रूप धारण कर लिया और फिर उनका सङ्कलन मौखिक कहानियों के आधुनिक संग्रह में हो गया। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि इसके समान जगत् का कोई अन्य ग्रन्थ लोक का प्रीति-भाजन नहीं हो सका।

(३) पञ्चतन्त्र के संस्करण—दुर्भाग्य से मौलिक पञ्चतन्त्र अलभ्य है। हाँ इसके प्राप्य संस्करणों की सहायता से किसी सीमा तक उसका पुनर्निर्माण हो सकना असम्भव नहीं है। इसके विविध संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन से यह विस्पष्ट है कि—

(क) उन सब संस्करणों की उत्पत्ति आदर्शभूत किसी एक ही साहित्यिक ग्रन्थ से हुई है (अन्यथा गद्य और पद्य दोनो में उपलभ्यमान अनेक शाब्दिक अभेद का कारण बताना असम्भव है)।

(ख) इन संस्करणों में घुसी हुई त्रुटियाँ मौलिक ग्रन्थ तक नहीं पहुँचती हैं।

मौलिक पञ्चतन्त्र के पुनर्निर्माण में वक्ष्यमाण संस्करण सहायक हो सकते हैं—

(१) क—तन्त्राख्यायिका ॥

---

१ लोक-प्रिय कथाओं के ग्रन्थों ने (जैसे; पञ्चविंशतिका, शुकसप्तति और द्वात्रिंशतिका ने) पञ्चतन्त्र का स्वतन्त्रता से उपयोग किया है, और पञ्चतन्त्र के अनुवाद ब्रजभाषा, हिन्दी, पुरानी और आधुनिक गुजराती, पुरानी और आधुनिक मराठी, तामिल इत्यादि भाषाओं में पाए जाते हैं।

ख—(११०० ई० के आस-पास) किसी जैन द्वारा रचित संस्करण जिसे आजकल 'सरल ग्रन्थ' (Textus Simplicior) का नाम दिया गया है।

ग—(११९९ ई० के आस-पास) पूर्णभद्र का प्रस्तुत किया हुआ संस्करण।

(२) क—दक्षिणी पञ्चतन्त्र।

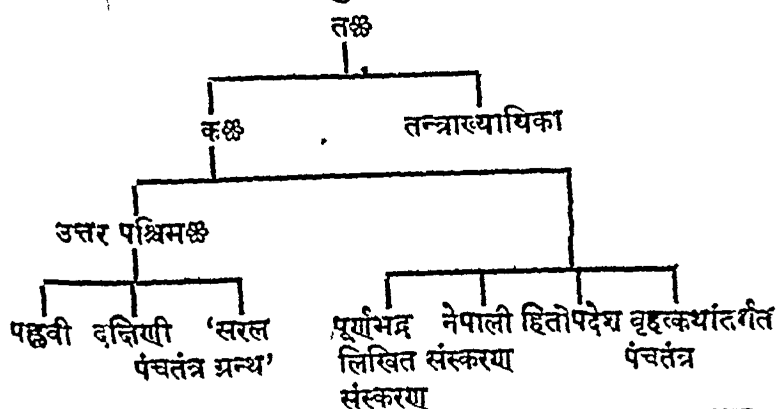
ख—नेपाली पञ्चतन्त्र।

ग—हितोपदेश।

(३) क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा मञ्जरी में और सोमदेव के कथा सरित्सागर में आया हुआ पञ्चतन्त्र का पाठ।

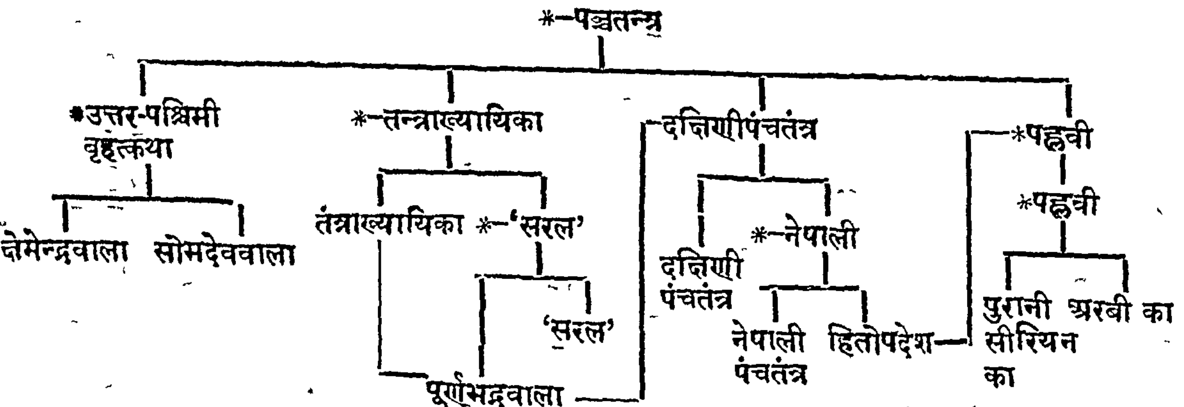
(४) पह्लवी संस्करण, जिसके आधार पर पाश्चात्य संस्करण बने।

ऐजर्टन ने (Edgerton) पञ्चतन्त्र के ऊपर बड़ा परिश्रम किया है। उसके मत से पञ्चतन्त्र की परम्परा की चार स्वतन्त्र धाराएँ हैं (जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है)। प्रो० हर्टल के विचार में दो ही स्वतन्त्र धाराएँ हैं। दोनों के विचारों के भेद को नीचे दी हुई सारणी से हम अच्छी तरह समझ सकते हैं—



१ यह चिह्न काल्पनिक संस्करण सूचित करता है।

ऐजर्टन (Edgerton) के मतानुसार वर्गीकरण।



* यह चिह्न काल्पनिक संस्करण को सूचित करता है।

दोनों के मतों के भेद बड़े महत्त्व के हैं, क्योंकि मौलिक ग्रन्थ का पुनर्निर्माण इन्हीं पर आश्रित है।

(१) हर्टेल की धारणा है कि सम्पूर्ण उपलभ्यमान संस्करणों का मूल एक दूषित आदर्शीभूत ग्रन्थ (Prototype) है (जिससे सारणी में 'त' कहा गया है) ऐजर्टन के मतानुसार यह कोरी कल्पना है।

(२) हर्टेल का अनुमान है कि तन्त्राख्यायिका को छोड़कर शेष सब संस्करणों का मूलाधार 'क' नामक मध्यस्थानस्थ एक आदर्शीभूत ग्रन्थ है। ऐजर्टन कहता है यह भी तो एक कल्पनामात्र ही है। हर्टेल के दृष्टिकोण से कोई पद्य या गद्य-खण्ड तभी असली माना जा सकता है जब कि वह तन्त्राख्यायिका में और कम से कम 'क' के एक प्रसव में मिले। दूसरी ओर एजर्टन का ख़याल है कि यदि कोई अंश दो स्वतन्त्र धाराओं में मिल जाए और चाहे तन्त्राख्यायिका में न भी मिले तो भी हम इस (अंश) को असली स्वीकार कर लेंगे।

(३) हर्टेल की एक धारणा और है। वह कहता है कि उ० प० (उत्तर-पश्चिमीय) नामक, मध्यस्थानीय, एक आदर्शीभूत संस्करण और है जिसके आधार पर दक्षिणी, पह्लवी एवं 'सरल' पञ्चतन्त्र बने हैं। किन्तु उसकी इस धारणा का साधक कोई प्रमाण नहीं है।

हर्टेल के मत को मन नहीं मानता है। हर्टेल कहता है कि पह्लवी दक्षिणी और 'सरल' पञ्चतन्त्र का आधार मध्यस्थानस्थ उ० प० संज्ञक कोई आदर्श-ग्रन्थ है; परन्तु इन ग्रन्थों के तुलनात्मक पाठ से दो बातों का पता लगता है। पहली, इनमें परस्पर बड़े भेद हैं, और दूसरी, इनका प्रस्फुटन पञ्चतन्त्र-परम्परा की तीन स्वतन्त्र धाराओं से हुआ है। हर्टेल का मत ठीक हो तो 'सरल' और तन्त्राख्यायिका में, या 'सरल' और पूर्णभद्रीय संस्करण में जितनी समानता हो उसकी अपेक्षा पह्लवी और 'सरल' में अधिक समानता होनी चाहिए। परन्तु अवस्था इससे बिल्कुल विपरीत है। इसी प्रकार यदि हर्टेल का मत ठीक हो तो, हितोपदेश और दक्षिणी पञ्चतन्त्र में जितनी

समानता हो उसकी अपेक्षा हितोपदेश और पूर्णभद्रीय संस्करण में अधिक समानता होनी चाहिए। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

(४) रचयिता—उपोद्घात मे आता है कि विष्णुशर्मा ने 'मिहिलारोप्य' नामक नगर के महाराज अमरशक्ति के तीन पुत्रो को छः महीने के अन्दर राजनीति पढ़ाने का भार अपने ऊपर लिया। उपोद्घात के तीसरे पद्य से शुद्ध रूप से प्रगट ही है कि इसका रचयिता विष्णुशर्मा ही था। यह मानने के लिए कोई कारण नहीं है कि यह नाम काल्पनिक है। हां, रचयिता के जीवन के विषय में कुछ मालूम नहीं है। इसने उपोद्घात के एक पद्य[2] में नाना देवताओं को नमस्कार किया है। इससे प्रतीत होता है कि यह कोई बौद्ध या जैन नहीं बल्कि एक उदार स्वभाव ब्राह्मण था।

(५) उत्पत्ति-स्थान—असली पञ्चतन्त्र के उत्पत्ति-स्थान के बारे में निश्चित कुछ भी मालूम नहीं है। हर्टल का प्रस्तुत किया हुआ विचार यह है कि पञ्चतन्त्र का निर्माण काश्मीर में हुआ होगा, कारण, असली पञ्चतन्त्र में शेर और हाथी का नाम नहीं आता है, ऊँट का नाम बहुत आता है। किन्तु यह युक्ति भी ठीक नहीं है। कुछ यात्राओं के नाम आते हैं परन्तु उनसे भी कोई परिणाम निकालना कठिन है; क्योंकि, ऐसे नाम सारे के सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध चले आ रहे हैं। यदि मिहिलारोप्य[1] नगर का राजा अमर शक्ति कोई वस्तुतः राजा हुआ है तो ग्रन्थकार कोई दाक्षिणात्य होगा। ग्रन्थ में ऋष्यमूक पर्वत का नाम आया है। यह पर्वत दक्षिण भारत में ही है। ग्रन्थकार को दाक्षिणात्य मान लेने पर इसका उल्लेख यथार्थ हो जाता है।

---

१ पाठान्तर महिलारोप्य है। २ वह पद्य यह है—

ब्रह्मा रुद्र कुमारो हरिवरुणयमा वह्निरिन्द्रः कुबेरश्,
चन्द्रादित्यौ सरस्वत्युदधि युगनगा वायुरुर्वी भुजङ्गाः।
सिद्धा नद्योऽश्विनौ श्रीर्दितिरदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्या,
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसुमुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च॥

(६) काल—दीनार एक रोमन सिक्का है जिसका प्रचार कभी यूरोप से भारत तक हो गया था। एक पद्य[1] में इसका नाम आया है। समझा जाता है कि यह पद्य असली पञ्चतन्त्र का है। अतः असली ग्रन्थ ईसा के बाद का हुए बिना नहीं रह सकता। असली ग्रन्थ ५५० ई० से बहुत पहले लिखा जा चुका होगा; क्योंकि, ५५० ई० में बर्ज़ोई द्वारा (Baızōe) इसका अनुवाद पह्लवी में हो चुका था। वह संस्करण पह्लवी अब अप्राप्य है, किन्तु इसका अनुवाद सन् ५७० ई० में बूद ने (Būd) पुरानी सीरियन भाषा में कर दिया था। अतः असली पञ्चतन्त्र का रचना-काल ईसी दूसरी या तीसरी शताब्दी में माना जा सकता है।

(७) भाषा—पुराविदों को इसमें प्रायः कोई विप्रतिपत्ति नहीं कि असली ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखा गया था। यदि ऐसा न मानें तो नाना संस्करणों में जो एक-सी भाषा पाई जाती है, उसका क्या कारण बताया जा सकता है। इसके अतिरिक्त हम यह भी निश्चित रूप से जानते हैं कि ग्रन्थ क्षत्रिय-कुमारों के लिए लिखा गया था और इसका लेखक ब्राह्मण था। यह समझना कठिन है कि ऐसा ग्रन्थ कभी प्राकृत में क्यों लिखा जाता।

(६४) पञ्चतन्त्र की वर्ण्यवस्तु।

पञ्चतन्त्र में तन्त्र नामक पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक की वर्ण्यवस्तु स्वतन्त्र है। प्रथम तन्त्र में उपोद्घात और सुहृद्-भेद वर्णित है चीनी-जाल के ढंग पर एक में एक घुस कर कतिपय कहानियों की सहायता से दिखलाया गया है कि करटक और दमनक इन दो चालाक गीदड़ों ने चालाकी चल कर किस तरह सिंह पिङ्गलक को और वृषभ सञ्जीवक इन दो सच्चे और सुखी मित्रों में फूट डलवा दी। पिङ्गलक को सञ्जीवक की मृत्यु से शोक हुआ

---

१ मालूम होता है डाक्टर हर्टल इस पद्य को कोई महत्त्व नहीं देते हैं। हर्टल का विश्वास है कि असली पञ्चतन्त्र ईसा से कोई २०० वर्ष पूर्व लिखा गया था। सच तो यह है कि अनेक कहानियां ईसा से २०० वर्ष पूर्व जैसे प्राचीन काल में भी बहुत पुराने काल से प्रचलित चली जा रही थीं।

तो कुटिलमति दमनक ने उसे सान्त्वना दे दी और शनैः शनैः आप उसका प्राधानामात्य बन बैठा।

दूसरे तन्त्र का नाम है मित्र-सम्प्राप्ति। इसकी कहानी की स्थूल रूप-रेखा यही है कि कपोतराज चित्रग्रीव, मूषकेश्वर हिरण्यक, काकवर लघुपतनक, मृगाग्रणी चित्राङ्ग और कूर्मकुलतिलक मन्थर एक एक करके आपस में मित्र बन गए और फिर पारस्परिक सहयोग के बल से उन्होंने अनेक कठिनाइयों और विपत्तियों से त्राण पाया। कदाचित् यह तन्त्र पहले से अधिक रोचक है, और इसका मुख्यतया उपदिश्यमान पाठ है—

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतान्यपि—

मनुष्य को यथा सम्भव अधिक से अधिक मित्र बनाने चाहिएँ।

तीसरे तन्त्र में कौए और उल्लू के वैर के दृष्टान्त से सन्धि-विग्रह का पाठ पढ़ाया गया है। कौओं का नेता उल्लू को पक्षिराज बनाने पर एतराज़ करता है। वह उल्लू को घृणास्पद कहता है और किसी नीच प्राणी को राजा बना लेने पर आने वाली विपत्तियों को बिल्ली और खरगोश की कहानी द्वारा विस्पष्ट करता है। नृप उल्लू कौओं से दुश्मनी निकालने का निश्चय करता है। कौओं का चतुर मन्त्री उल्लुओं में जाकर कहता है कि—मेरे हठी काकराज ने मुझे निकाल दिया है, मुझे शरण दीजिए। उल्लू उसे शीघ्र अपनी शरण मे रख लेते हैं। यहाँ पर एक कहानी द्वारा शत्रु-वर्ग मे भेद डालने के लाभ बतलाए गए हैं। अन्त में एक सुअवसर आने पर उल्लुओं के दुर्ग में आग लगा दी जाती है।

चौथे तन्त्र में लब्ध-प्रणाश का वर्णन है। एक बन्दर और एक नक्र में बड़ी घनिष्ठ मित्रता थी। नक्र की पत्नी से यह बात सही न गई। उसने बीमारी का दिखावा किया और कहा कि मुझे अगर आराम हो सकता है तो केवल बन्दर का कलेज़ा खाने से ही हो सकता है। बिचारे नक्र को पत्नी की बात माननी पड़ी। उसने एक दिन बन्दर को अपने घर आने का निमन्त्रण दिया। जब नक्र बन्दर को जल के अन्दर अपने

मकान को ले जा रहा था बन्दर को उसकी चालाकी का पता लग गया, और उसने कहा—मित्र ! तुमने पहले क्यों नहीं कहा था ? मैं अपना हृदय तो वृक्ष पर ही छोड़ आया हूँ । मूर्ख नक्र ने बन्दर की बात पर तत्क्षण विश्वास कर लिया और हृदय लिवा लाने के लिए वह बन्दर को पीठ पर चढ़ाए किनारे की तरफ़ मुड पड़ा । बन्दर ने वृक्ष पर चढ़कर अपनी जान बचा ली । नक्र ने बन्दर से पुनः मित्रता जोड़ने और उसे घर बुलाने का बड़ा प्रयत्न किया, पर बन्दर कब उसके चकमे में आने वाला था । बन्दर ने कहा—मैं गधा नहीं हूँ जो लौट पड़ूँ । बस अब गधे की कहानी प्रारम्भ हो जाती है । इसी तरह सिलसिला जारी रहता है ।

पाँचवें तन्त्र में अविमृश्यकारिता की हानियों का दिग्दर्शन है । कहानी में बतलाया गया है कि एक ब्राह्मण अपने शिशु की चौकसी करने के लिए एक नेवले को छोड़ गया और फिर किस तरह उसने अपने प्यारे उसी नेवले की हत्या कर डाली । नेवले का मुँह रुधिर से सना हुआ देख कर ब्राह्मण ने सोचा—इसने मेरे बच्चे को खा लिया है । वस्तुतः नेवले ने साँप को टुकडे-टुकडे करके शिशु की जान बचाई थी । तब ब्राह्मण की स्त्री को भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने एक नाई की कहानी सुनाई, जिसने सहकारी होकर अपनी स्त्री ही मार डाली थी । अन्त के दो तन्त्र बहुत ही छोटे हैं । पुराने कतिपय संस्करणों में उनका आकार घटाकर नहीं के बराबर-सा कर दिया गया है, जिससे वे पिछले तीन बड़े-बड़े तन्त्रों के परिशिष्ट से दिखाई देने लगे हैं[1] ।

---

१ अधोऽङ्कित तालिका से प्रत्येक तन्त्र की काया का कुछ अनुमान हो सकता है—

	नाम	पृष्ठ संख्या	श्लोक संख्या	कथा संख्या
	प्रस्तावना	३	१०	×
१म तत्र	मित्रभेद	९२	४६१	२२
२य तत्र	मित्रसप्राप्ति	३९	१९९	६
३य तव	काकोलूकीय	४९	२५४	१६
४र्थ तत्र	लब्धप्रणाश	२६	८०	११
५म तत्र	अपरीक्षितकारिता	३०	९८	१४

ये अंक १९०२ में निर्णय-सागर प्रेस में मुद्रित संस्करण के अनुसार हैं ।

(६५) पञ्चतन्त्र की शैली।

(१) ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उससे यह मालूम होगा कि पञ्चतन्त्र निश्चय ही औपदेशिक जन्तु-कथाओं की पुस्तक है, जिसका प्रतिज्ञात प्रयोजन मनोहर और आकर्षक रीति से राजनीति और व्यवहारिक ज्ञान की शिक्षा देना है। इसकी कहानियों में पाण्डित्य और हास्य रस दोनों हैं, तथा इनमें से अधिक में पात्र पशु हैं। कहानी और राजनीतिक उद्देश्य को ऐसे कौशल से एक जगह मिलाया गया है कि प्रत्येक कहानी स्वयं कहानी के रूप में भी रमणीय है और किसी-न-किसी धर्मनीतिक या राजनीतिक बात का सुन्दर दृष्टान्त भी है। उदाहरण के लिए प्रथम तन्त्र की प्रथम कथा ही लीजिए। इसमें एक बन्दर की मूर्खता का वर्णन है, जिसने आधे चिरे हुए दो तख्तों के ऊपर बैठकर उनमें फँसाए हुए खूँटे को बाहर खींचा, तो उसकी पूँछ तख्तों के बीच में आ गई। इससे यही शिक्षा दी गई है कि किसी को दूसरे के काम में दखल नहीं देना चाहिए। प्रथम ही तन्त्र की इक्कीसवीं कहानी में महाभारत का प्रसिद्ध वाक्य 'शठं प्रति शाठ्यमाचरेत्'[१] विस्पष्ट किया गया है। कोई आदमी परदेश जाते समय अपनी लोहे की वस्तुएँ अपने मित्र एक बनिये के पास धरोहर रख गया। परदेश से लौटने पर जब उसने उन्हें माँगा, तब बनिये के मन में बेईमानी आ गई, और उसने उत्तर दिया कि—तुम्हारी लोहे की चीज़ों को चूहे खा गए। आदमी होशियार था। वह बनिये के लड़के को साथ ले जाकर कहीं छुपा आया और आकर कहने लगा—मित्र! दुःख है, तुम्हारे लड़के को श्येन ले कर उड़ गया। बनिये को लड़का वापिस लेने के लिए अवश्य ही उसकी सब चीज़ें देनी पड़ीं। पहले तन्त्र की अन्तिम कहानी बतलाती है कि मूर्ख मित्र से बुद्धिमान् शत्रु अच्छा है—एक स्वामी का सच्चा

१ इन कहानियों का उद्देश्य व्यवहारिक राजनीति की शिक्षा देना है, आचार की नहीं। अतः कुछ कहानियों में कूट-विद्या की शिक्षा भी भरी है। प्रथम तन्त्र में ही कूट-विद्या-विशारद दो गीदड़ों की कथा आती है, जिन्होंने छल-कपट द्वारा सिंह और वृषभ दो घनिष्ठ मित्रों में फूट डलवा दी थी।

भक्त किन्तु मूर्ख सेवक था। एक दिन स्वामी सो रहा था। उसके मुँह पर बार-बार उड़ती हुई मक्खी को मारने के लिए सेवक ने तलवार चलाई, जिसने बेचारे स्वामी की जान ले ली। दूसरी ओर, डाकुओं ने ब्राह्मणों की जान बचा दी।

(२) लेखक केवल मधुर कथावाचक और चतुर राजनीतिज्ञ ही नहीं, प्रत्युत वर्णन-कला का गुरु भी है। हम देखते हैं, प्रायशः वह मनोहारिणी सुन्दर कथा के कहने के आनन्द में मग्न हो जाता है। 'ग्रेट शार्ट स्टोरीज़ आव् दि वर्ल्ड' (Great Short Stories of the World) नामक आधुनिक कहानी-संग्रह में इन कहानियों को एक प्रधान स्थान दिया है।

(३) पात्रों द्वारा अन्त्यानुप्रास के पद्य बुलवाना इसकी रचना की एक और विशेषता है। देखिए, सिंह गीदड़ से कहता है—

न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं हि तथा प्रधानम्।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रदानं, सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्[1] ॥ (१,३१३)

इन पद्यों की हासरसमयता, मधुरता और औचिती के कारण ही पञ्चतन्त्र सर्वोत्तम कथा-पुस्तकों की श्रेणी से बहुत ऊपर उठा हुआ है। यह कहना कठिन है कि इन सब पद्यों का रचयिता भी ग्रन्थकार ही है। कदाचित् उसने इनमें से बहुत से पद्य पुराने धार्मिक ग्रन्थों में से या अन्य प्रमाणिक पुस्तकों में से लिए होंगे[2]। ग्रन्थकार की बुद्धिमत्ता का परिचायक इन पद्यों का उचित निर्वाचन है।

---

१ विद्वानों के विचार से विपद्यमान की रक्षा करना ही सबसे बड़ा धर्म है। इस धर्म की बराबरी न गौ का दान कर सकता है, न पृथिवी का और न अन्न का।
२ मालूम होता है कि लेखक को तीसरे तन्त्र की रूपरेखा के लिए और व्याध का जाल लेकर उड़ जाने वाले कबूतरों की कथा के लिए सङ्केत महाभारत से (देखिए, १०, १ और ५, ६४) मिला होगा। महाभारत में पराजित कौरवों को समझाया गया है कि जैसे कौवों ने उल्लुओं पर रात में आक्रमण करके विजय प्राप्त की थी, वैसे ही तुम भी रात में पाण्डवों के डेरों पर छापा मार कर विजय प्राप्त कर लो। इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया मालूम होता है कि सूरज की रोशनी में न देख सकने के कारण उल्लू बेवश होते हैं।

(४) पञ्चतन्त्र की एक और खूबी यह है कि प्रत्येक कथा का शीर्षक एक श्लोक में दिया गया है। इसी श्लोक में कथा से निकलने वाली शिक्षा भी दे दी गई और इसीमें मुख्य-मुख्य कथा-पात्रों के नाम भी आ गए हैं। प्रथम तन्त्र की आठवीं कथा का शीर्षक देने वाला पद्य देखिए—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः[1] ॥

पात्रों के नामों से युक्त पद्यों का एक उदाहरण लीजिए—

अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते।
अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमलिको यथा[2] ॥

(५) पञ्चतन्त्र में कथा वर्णन करने वाले कुछ उत्तम पद्य भी हैं। हरिण की कथा में एक पद्य आया है—

वात-वृष्टि-विधूतस्य मृगयूथस्य धावतः।
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि कदा तन्मे भविष्यति[3] ॥

ऐसे पद्यों की मौलिकता में सन्देह नहीं हो सकता। ऐसा मालूम होता है कि ये ग्रन्थ में स्वयं आगए हैं; क्योंकि लेखक ने इस बात का बड़ा ध्यान रक्खा है कि वर्णन गद्य में ही दिया जाए (पद्य तो केवल औपदेशिक या शीर्षक सूचक ही हैं[4])।

(६) भाषा प्रायः सरल, शुद्ध और विशद है। यदि भाषा ऐसी न होती, तो तरुण राजकुमारों को नीति सिखाने का लेखक का प्रतिज्ञात उद्देश्य कैसे पूरा होता। पद्य प्रायः अनुष्टुप् छन्द में ही हैं। रामायण, महाभारत

---

१ जिसमें बुद्धि है, उसमें बल भी समझो। मूर्ख के अन्दर बल कहां से आया। खरगोश ने वन में मद-मस्त शेर को मार डाला था। २-धन संग्रह करके भी मनुष्य उसका भोग नहीं कर सकता। मूर्ख सोमिलिक घने जंगल में पहुँच कर उपार्जित धन को खो बैठा था। ३ ओह! वह समय कब आएगा, जब मैं हवा और बारिश से झकोरे हुए इधर उधर दौड़ते हुए हरिणों की डार में पीछे-पीछे दौड़ता रहूँगा। ४ चम्पू में लेखक अपने सुभीते के अनुसार गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग करता है। अतः चम्पुओं में और जातकमालाओं में वर्णन-पूर्ण पद्य पर्याप्त देखे जाते हैं।

और स्मृतियों की शैली का अनुसरण करते हुए उनमें दीर्घ समास और क्लिष्टान्वयी वाक्य नहीं रक्खे गए हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

आपत्काले तु सम्प्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु सम्प्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद् भवेत्॥ (२, ११८)
उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥ (३, ३८)
किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न भक्तिमान्॥ (उपोद्घात ७)

ये पद्य इतने सुगमार्थ हैं कि ये प्रायः प्रारम्भिक श्रेणी की पाठ्य-पुस्तकों मे दिए गए हैं।

कहीं-कहीं लेखक ने प्रयासापेक्षी पद्यों का भी प्रयोग किया है और उनमे दीर्घ समास भी रक्खे हैं। उदाहरणार्थ—

सिद्धिं प्रार्थयता जनेन विदुषा तेजो निगृह्य स्वकं,
सत्त्वोत्साहवताऽपि दैवविधिषु स्थैर्यं प्रकार्यं क्रमात्।
देवेन्द्रद्रविणेश्वरान्तकसमैरप्यन्वितो भ्रातृभिः,
किं क्लिष्टः सुचिरं त्रिदण्डमवहच्छ्रीमान् न धर्मात्मजः[1]॥ (३, २२३)

परन्तु पञ्चतन्त्र के बाद के काव्य की शैली से इनकी शैली की तुलना करके देखी जाए, तो ये पद्य बिलकुल ही सरल प्रतीत होंगे। अधोलिखित पद्य, जो राजा और मन्त्री के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन करता है, मुद्रा-राक्षस नाटक मे भी पाया जाता है:—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति[2]॥

---

१ विधाता की गति [प्रबल] होने पर सिद्धि चाहने वाले समझदार आदमी को, चाहे उसमें शक्ति और उत्साह भी हो, चाहिए कि धीरे-धीरे स्थिरता सम्पादित करे। क्या श्रीमान् धर्मनन्दन (युधिष्ठिर) इन्द्र, कुबेर और यम के तुल्य भाइयों वाला होकर भी देर तक त्रिदण्डधारी होकर कष्ट नहीं भोगता रहा? २ राजलक्ष्मी अत्युन्नत राजा और मन्त्री दोनों पर पैरों को जमाकर उनकी सेवार्थ उपस्थित होती है; परन्तु

गद्य की सरलता के बारे में क्या कहना। यह तो मानी हुई बात है कि इसमें दण्डी और बाण के गद्य की कठिनता का लेश मात्र भी नहीं है। सच तो यह है कि यह जातकमालाओं और चम्पुओं के गद्य से भी सुगम है। इसमें कृदन्त के प्रयोग प्रचुरता से पाए जाते हैं। भूतकाल के लिए प्रायः 'क्त' प्रत्ययान्त अथवा ऐतिहासिक लट्वाले पद का प्रयोग किया गया है। कर्तरि प्रयोग की अपेक्षा कर्मणि प्रयोग अधिक हुआ है।[1] कृदन्त अव्ययों और कृदन्त विशेषणों की बहुलता है। तिङन्त क्रियापदों के स्थान में कृदन्त क्रियापद व्यवहार में लाए गए हैं।

(६६) तन्त्राख्यायिका।

तन्त्राख्यायिका पञ्चतन्त्र का ही एक विकृत रूप है। इसकी केवल एक ही हस्ताङ्कित प्रति काश्मीर से शारदा-लिपि में लिखी मिली है। इसका पता वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में प्रो. हर्टल ने लगाया था। इसके दो उपरूप मिलते हैं। हर्टल ने उनके नाम अ (A) और ब (B) रक्खे हैं। हर्टल के मत से 'अ' अधिक मौलिक है, और ऐजर्टन के मत से 'ब'।

हर्टल ने तन्त्राख्यायिका के महत्त्व पर हद से ज्यादा ज़ोर दिया है[2]। हाँ, इससे इन्कार नहीं हो सकता कि किसी और संस्करण की अपेक्षा तन्त्राख्यायिका में मूलांश अधिक है। इसमें मूल से जो जो भेद हैं वह मुख्यतया वृद्धि और विस्तार करने का अधिक है परित्याग और परिवर्तन का कम। इसमें बढ़ाई हुई कुछ कहानियाँ हैं—नील शृगाल (२, ४) चतुर शृगाल (१, १३), तन्तुवाय सोमिलक (२, ४), कुटिल कुट्टनी (३, ५),

---

स्त्री है, स्वभावत बोझ बर्दाश्त नहीं कर सकती, अत. उनमें से किसी एक को छोड़ देती है। १ ऐसी शैली का अनुकरण करना सुगम है और इसीलिए विद्यार्थियों को सलाह दी जाती है कि वे ऐसी शैली को अपनाएँ। २ हर्टल का विश्वास है कि तन्त्राख्यायिका ही एक ऐसा संस्करण है, जिसमें मूल पञ्चतन्त्र की भाषा असली रूप में विद्यमान है; यदि उसमें कहीं कोई परिवर्तन है भी, तो वह इरादतन नहीं किया गया है। परन्तु इस मत के विरुद्ध जाने वाले और भी संस्करण हैं, जिनके बारे में भी बिलकुल यही राय प्रगट की जा सकती है।

महाराज शिबि (३, ७), वृद्धसारस (३, ११), लशुन-चोर (४, १), और बनावटी सिपाही (४, ३) इनमें से कुछ कहानियों में लुङ् लकार का पुनरुक्त प्रयोग पाया जाता है । इसी से इनका प्रक्षिप्त होना सिद्ध होता है । इस ग्रन्थ के काल का निर्णय करना कठिन है।

(६७) 'सरल' ग्रन्थ (The Textus Simplicior)।

इस संस्करण के ग्रन्थ का पाठ रूप-रेखा और कार्य-वस्तु दोनों की दृष्टि से बहुत कुछ परिवर्तित पाया जाता है । पाँचों तन्त्रो का आकार प्रायः एक-जितना कर दिया गया है । असली पञ्चतन्त्र के तीसरे तन्त्र की कई कहानियाँ इसमें चौथे तन्त्र में रख दी गई हैं, और सभी तन्त्रों में कुछ नई बातें बढ़ा दी गई हैं। तीसरे, चौथे और पाँचवें तन्त्र के ढाँचे परिवर्तन कर दिए गए हैं। उदाहरणार्थ, पाँचवे तन्त्र में मुख्यता नाई की कहानी को प्राप्त है, और इसी मे एक दूसरी कथा डाल दी गई है । इन नई कहानियों में से कई वस्तुतः रोचक हैं। पहले तन्त्र की पाँचवीं कथा में एक जुलाहा विष्णु बन बैठता है । परन्तु अपने आप को दिव्यांश का अवतार मानने वाले एक राजा की मूर्खता से उसकी कलई खुल जाती है । जब इस राजा ने अपने पड़ोसी राजाओं से लडाई प्रारम्भ कर दी और स्वयं पराजित होने के समीप आ गया, तब विष्णु को उसके यश की रक्षार्थ अवतार लेना पड़ा।

इसी संस्करण का पाठ तन्त्राख्यायिका के पाठ से बहुत मिलता है । इसमें असली पञ्चतन्त्र के लगभग एक तिहाई श्लोक आ गए हैं । इस संस्करण में ब्राह्मण, ऋषि-मुनियो के स्थान पर जैन साधुओं के उल्लेख हैं, तथा दिगम्बर, नग्नक, क्षपणक, धर्म-देशना जैसे शब्दो का अधिक प्रयोग पाया जाता है। इससे अनुमान होता है कि इसका निष्पादक कोई जैन था। सारे ग्रन्थ पर विचार करने से इसका निष्पादक अच्छी शैली का सिद्धहस्त लेखक प्रतीत होता है।

'सरल' ग्रन्थ में (The Textus Simplicior) माघ और रुद्रभट्ट के पद्य उद्धृत हैं। परन्तु यह पूर्णभद्र से (११९९ ई०) तो निस्सन्देह प्राचीन है। अतः इसका काल स्थूल रूप से ११०० ई० के आस-पास माना जा सकता है।

(६८) पूर्णभद्र निष्पादित पञ्चतन्त्र।

पूर्णभद्र का ग्रन्थ साधारणतः पञ्चाख्यानक[1] के नाम से प्रथित है। इसका निर्माण कुछ तन्त्राख्यायिका के और कुछ 'सरल' ग्रन्थ के आधार पर हुआ है। कुछ अंश किसी अप्राप्य ग्रन्थ से भी लिया प्रतीत होता है। इसमें कम से कम इक्कीस नई कहानियाँ हैं। इनमें से कुछ निस्सन्देह मनोहारिणी हैं। पहले तन्त्र की नौवीं कहानी में पशु की कृतज्ञता और मनुष्य की अकृतज्ञता का व्यतिरेक दिखलाया गया है। मालूम होता है लेखक नीति-शास्त्र में पूर्ण निष्णात था। इसकी शैली सुगम, सरल और शोभाशालिनी है। ग्रन्थ का निर्माण सोम नामक किसी मन्त्री को प्रसन्न करने के लिए सन् ११९९ ई० में किया गया था।

(६९) दक्षिणीय पञ्चतन्त्र।

दक्षिण में प्रचलित पञ्चतन्त्र पाँच विविध रूपों में उपलब्ध होता है। इसका मुख्य आधार वह असली ग्रन्थ है, जो हितोपदेश का और नेपाली पञ्चतन्त्र का है। जैनों द्वारा निष्पादित उक्त दोनों संस्करणों की अपेक्षा इसमें मौलिक अंश वस्तुतः अधिक है। एजर्टन के मत से इसमें आद्य पञ्चतन्त्र का तीन चौथाई गद्यांश और दो तिहाई पद्यांश सुरक्षित है। इसके पाँचों विविध रूपों में एक समुपबृंहित है, और उसमे छियानवे कथा हैं; शेष चारों न्यूनाधिक संक्षेपात्मक हैं और उनमें असली ग्रन्थ के महत्त्वशून्य भाग का बहुत-सा भाग सन्निविष्ट नहीं किया गया है। जैसे नेपाली मे वैसे ही इसी दक्षिणीय में भी कालीदास का एक पद्य पाया जाता है और निस्संदेह यह कालिदास से बाद का है। इसमें भी अनेक प्रक्षिप्त कथाएँ हैं। उदाहरण के लिए गोपिका वाली कथा का नाम लिया जा सकता।

(७०) नेपाली संस्करण।

नेपाली संस्करण की कई हस्ताक्षित प्रतियाँ मिलती हैं। एक प्रति में केवल पद्य-भाग[2], ही है परन्तु अन्य प्रतियों में पद्य के साथ साथ

---

१ कभी कभी यही नाम उक्त 'सरल' ग्रन्थ के लिए भी आता है। २ इसमें एक गद्य-खंड भी है। वह अचानक अनवधानता से लिखा गया प्रतीत होता है।

संस्कृत या नेवारी भाषा मे गद्य भी है। नेपाली संस्करण मे दूसरे और तीसरे तन्त्र का क्रम-परिवर्तन हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने असली पञ्चतन्त्र का, जो हितोपदेश का आधार है, उपयोग अवश्य किया था। इस संस्करण का कोई निश्चि निर्माण-काल नहीं बतलाया जा सकता। इसमें कालिदास का एक पद्य उद्धृत है; अतः इतना ही निःशङ्क कहा जा सकता है कि यह कालिदास के बाद तैयार हुआ होगा।

(७१) हितोपदेश।

हितोपदेश पञ्चतन्त्र का वह विकृत रूप है, जिसका सम्बन्ध बङ्गाल से है। सच तो यह है कि इसने बंगाल में अन्य सब संस्करणों का प्रचार उन्मूलित कर दिया है। इसके लेखक का नाम नारायण[1] था। वह किन्हीं धवलचन्द्र[2] का कृपाभाजन था। लेखक ने भूमिका के प्रथम पद्य में धूर्जटि एवं १, १७२ मे चन्द्रार्धचूडामणि और ४, १३८ में चन्द्रमौलि को नमस्कार किया है। अतः अनुमान होता है कि यह शैव था। भूमिका के दूसरे और आठवें पद्य से जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ के लिखने मे लेखक का उद्देश्य बच्चों के समझने योग्य सरल कथाओं का एक ऐसा सन्दर्भ तैयार करना था, जो संस्कृत भाषा की शिक्षा देने, वाक्चातुर्य सिखाने और राजनीतिक पाण्डित्य प्राप्त कराने में उपयोगी सिद्ध हो सके। लेखक ने कहा है:—

> श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु।
> वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च॥ (पद्य २)
> यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।
> कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते॥

१ देखिए, यावत् स्वर्णाचलोऽयं दवदहनसमो यस्य स्फुलिङ्ग.।
तावन्नारायणेन प्रचरतु रचितः संग्रहोऽय कथानाम्॥ (४, १३८)

२ देखिए, श्रीमान् धवलचन्द्रोऽसौ जीयान् माण्डलिको रिपून्।
येनाऽय संग्रहो यत्नाल्लेखयित्वा प्रचारितः॥ (४, १३९)

हितोपदेश का उपजीव्य पञ्चतन्त्र तथा एक कोई और ग्रन्थ है। लेखक ने भूमिका के नौवें पद्य में इस बात को स्वयं भी स्वीकार किया है। अनुसन्धान अभी इस दूसरे ग्रन्थ का पता नहीं लगा सका है। कदाचित् यह कोई कथा-ग्रन्थ होगा, क्योंकि हितोपदेशकार कम से कम सतरह नई कथाएँ देता है। इन सतरह में से केवल दो ही ऐसी हैं, जिनसे आचार की शिक्षा मिलती है। इससे एक तो यह सिद्ध होता है कि लेखक का उद्देश्य आचार की शिक्षा देना नहीं था; दूसरे यह कि उसने पञ्चतन्त्र की मूल रूप-रेखा का ही पूर्णतया अनुसरण किया है। बाक़ी पन्द्रह कहानियों में से सात जन्तु-कथाएँ हैं—पाँच प्रेम-पाश की और तीन वीर्य-कर्म की चूहे की कहानी, को क्रमशः बिल्ली, कुत्ता और चीता बन गया परन्तु ऋषि को मारने के लिए जिसे फिर चूहा बनना पड़ा, लेखक ने कदाचित् महाभारत से ली है। चतुर स्त्री की (२, ६) कहानी शुक-सप्तति में और बीरबर की वेताल पञ्चविंशतिका में आई है। नीति-शास्त्र के ग्रन्थों में से उसका मुख्य उपजीव्य कामन्दकीय नीतिसार था।

काल—(१) हितोपदेश का नेपाली संस्करण १३७३ ई० का है; अतः यह इससे पूर्व ही बना होगा।

(२) इसने माघ और कामन्दकी से बहुत कुछ लिया है; अतः इसे इनके बाद का ही होना चाहिए।

(३) इसने 'भट्टारकवार' शब्द का प्रयोग किया है; अतः यह ९०० ई० के बाद का प्रतीत होता है।

(४) यह शुक-सप्तति और बेताल पञ्चविंशतिका का ऋणी है। किन्तु इससे इसके काल का निश्चय करने में विशेष सहायता नहीं मिलती।

रूप-रेखा—हितोपदेश चार भागों में विभक्त है, जिनके नाम हैं—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि। इसमें असली पञ्चतन्त्र के पहले और दूसरे तन्त्र का क्रम बदल दिया गया है, और तीसरे तथा पाँचवें तन्त्र

को सन्धि और विग्रह नाम के दो भागों में कुछ नया रूप दे दिया गया है, चौथा तन्त्र बिल्कुल छोड़ दिया गया है। सन्धि अर्थात् चतुर्थ अध्याय में एक नई कहानी दी गई और इसी अध्याय में असली पञ्चतन्त्र के पहले और तीसरे तन्त्र में से कई कहानियाँ सम्मिलित कर दी गई हैं। इस प्रकार बने हुए हितोपदेश में असली पञ्चतन्त्र के पद्य-भाग की लगभग एक तिहाई और गद्य-भाग का लगभग दो बटा पाँच भग आ गया है।

शैली—लेखक का उद्देश्य है—बच्चों को संस्कृत भाषा और नीति सिखाना। इस उद्देश्य के अनुसार इसकी भाषा सरल, सुगम और रोचक है। कुछ उद्धृत पद्यों को छोड कर शेषांश में न तो दीर्घ समास हैं और न क्लिष्टान्वयी वाक्य। मूल पञ्चतन्त्र का पदे-पदे अनुसरण करने का प्रयत्न किया गया है, इसी लिए तिङन्त क्रियापदों के स्थान पर कृदन्तीय क्रियापद और कर्तरि प्रयोग की जगह कर्मणि प्रयोग अधिक हैं। कुछ पद्य लेखक के अपने बनाए प्रतीत होते हैं। इनसे लेखक की महति कवि-प्रतिभा का प्रमाण प्राप्त होता है। हितोपदेश का प्रचार केवल बँगाल में ही नहीं, सारे भारतवर्ष में है। यही कारण है कि इसका अनुवाद बँगला, हिन्दी और कई अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में हो गया है। इसके पद्यों की सरलता का दिग्दर्शन करने के लिए देखिए—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥ (भूमिका २५)

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत।
एवं पुरुषकारेण विना दैव न सिध्यति॥ (भूमिका २०)

गद्य का भी उदाहरण लीजिए—

तद् भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि। राजपुत्रैरुक्तम्—कथ्यताम्। विष्णुशर्मोवाच—श्रूयतां सम्प्रति मित्रलाभः; यस्यायमाद्यः श्लोकः।

(७२) बृहत्कथा संस्करण, अथवा उत्तरपश्चिमीय संस्करण।

बृहत्कथामञ्जरी में और कथासरित्सागर में आए हुए पञ्चतन्त्र के संस्करण सम्भवतः असली बृहत्कथा में नहीं होंगे, बल्कि वे कश्मीरियों द्वारा कभी बाद में बढ़ा दिए गए होंगे। पञ्चतन्त्र के इस संस्करण मे अन्य संस्करणों से इतना भेद है कि इसमे न तो उपोद्घात है और न प्रथम तन्त्र की तीसरी कथा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्करण में प्रत्येक दो तन्त्रों के बीच में बाह्य तत्त्वो का समावेश करके उनका पार्थक्य प्रकट किया गया है। इस संस्करण के पाठ का ठीक ठीक निश्चय करना बड़ा कठिन है। क्षेमेन्द्र अत्यन्त संक्षेप कर जाता है, और सोमदेव तो असली कहानियाँ तक छोड़ जाता है।

(७) पह्लवी संस्करण और कथा की पश्चिम यात्रा।

पञ्चतन्त्र का पह्लवी संस्करण हकीम बार्जोई के प्रयत्न से खुसरो अनोशेर्वा के शासन काल मे (५३१-७९ ई०) प्रस्तुत हुआ। इसके इस जन्म का नाम कर्टक[१] और दमन[१] था। यह संस्करण तन्त्राख्यायिका से बहुत मिलता हुआ होगा। दुर्भाग्य से यह संस्करण लुप्त होगया था। परन्तु इसका अनुवाद ५७० ई० में बूद नामक किसी विद्वान् ने पुरानी सीरियन भाषा में ७५० ई० के लगभग अब्दुल्लः इब्नुल मोकफ्फा ने अरबी में कर दिया था। सीरियन संस्करण की केवल एक अपूर्ण हस्तांकित प्रति प्राप्य है। अरबी संस्करण का नाम था कलीलः[२] दिम्नः यह अरबी संस्करण महत्त्व का संस्करण है, क्योंकि यही सब पाश्चात्य संस्करणो का उपजीव्य है। दसवीं या ग्यारवी शताब्दी के आस-पास इसका अनुवाद पुरानी सीरियन से बाद की सीरियन भाषा में और १२५१ ई० मे पुरानी स्पैनिश भाषा मे हुआ। ये अनुवाद पर्याप्त उर्वर नहीं निकले। १०८० ई० के समीप अरबी अनुवाद का अनुवाद यूनानी भाषा में हुआ। यह यूनानी अनुवाद इटैलियन[३], एक जर्मन दो लैटिन और कई स्लैवोनिक

---

१ ये दोनों नाम प्रथम तन्त्र में दो चतुर शृगालों के है। २ ये दोनों नाम कर्टक और दमनक के रूपान्तर है। ३ इसका कर्ता गियुलिओनुति (Giulio-Nuti) है और रचना काल १५८३ ई०।

अनुवाद का उपजीव्य बना। अरबी अनुवाद का हिब्रू अनुवाद ११०० ई० के निकट हुआ। इसका कर्ता रब्बी जोईल था। इसका महत्त्व अरबी अनुवाद से भी अधिक है, क्योंकि फिर इसका लैटिन अनुवाद १२६३ और १२७८ ई० के बीच जोन आव् कैपुआ ने (John of Capua) किया। यह १४८० ई० में दो बार मुद्रित हुआ। इसका फिर जर्मन अनुवाद ऐन्थॉनियस वॉन फ़र ने (Anthonius Von Pfo1e) १४८३ ई० मे किया। तब से यह कई बार मुद्रित हो चुका है। इस अनुवाद का महत्त्व इसलिए है कि इसने जर्मन-साहित्य पर बड़ा प्रभाव डाला और यह डैनिश, आइसलैंडिक, डच और स्पैनिश अनुवाद का (१४९३ ई०) मूल बना। स्पेनिश का अनुवाद इटैलियन में १५४६ ई० मे हुआ, और इसका अनुवाद फ्रेंच में-१५५६ ई० में हुआ।

ए० ऐफ़० डोनी ने लैटिन का सीधा अनुवाद इटैलियन में किया। यह दो भागों मे सन् १५५२ ई० में वीनिस मे प्रकाशित हुआ। इसके प्रथम भाग को १५७० ई० में सर टामस नॉर्थ ने इंग्लिश मे अनूदित किया।

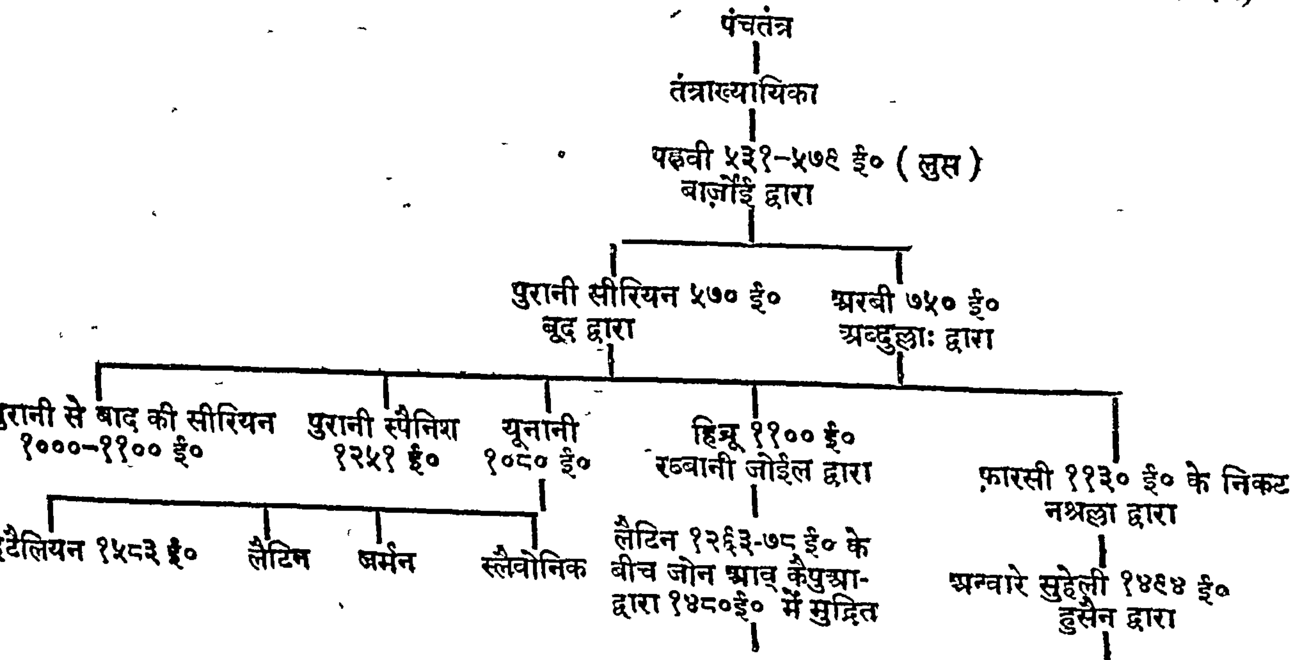
अरबी संस्करण का फ़ारसी अनुवाद ईसा की बारहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में अबुल-मआली नश्रल्लाः ने किया। यह अनुवाद मूल बना अन्वारे सुहेली का, जो १४९४ ई० के इधर उधर हुसैन ने तैयार की। आगे चलकर इसका अनुवाद ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में अली ने तुर्की भाषा में किया। फिर इस तुर्की का अनुवाद फ्रेंच में हुआ और उसका अनुवाद डच, हंगारियन, जर्मन और मलए तक में हुआ।

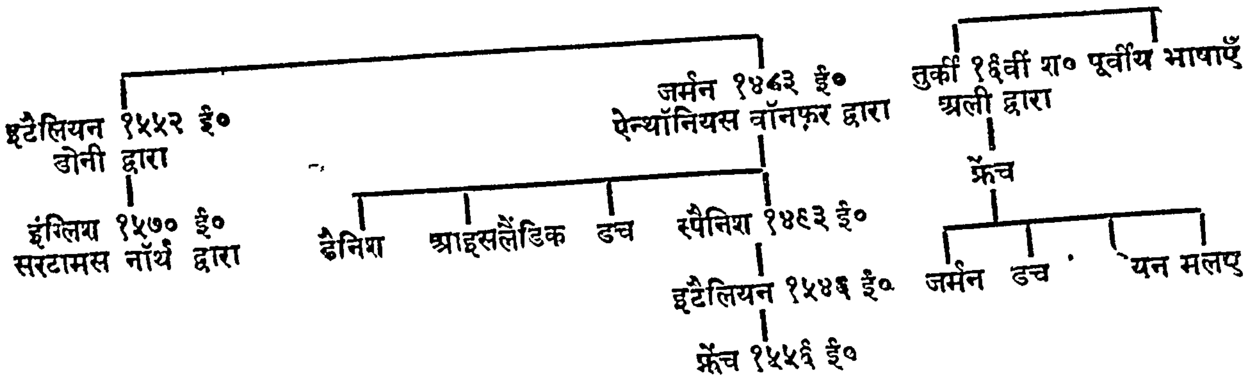
इन औपदेशिक जन्तु-कथाओं का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपयोग करने वाला ला-फ़ॉनटेन (La Fontaine) हुआ। औपदेशिक जन्तु-कथाओं की पुस्तक के अपने दूसरे संस्करण में (१६७८ ई०) वह साफ़ तौर पर मानता है कि अपनी नई सामग्री के लिए (७-९) मैं भारतीय विद्वान् पिल्पइ का[1] (Pilpay) ऋणी हूँ। नीचे दी हुई सारणी से यह बात आसानी से समझ में आ जाएगी कि भारतीय औपदेशिक जन्तु-कथा ने पाश्चात्य देशों में किस किस द्वार से प्रवेश किया।

---

१ विद्यापति का अपभ्रंश।

पंचतंत्र का पश्चिम में प्रवेश सूचित करने वाली सारणी। (सारे नामों की संख्या ३२)




इटैलियन १५५२ ई०
डोनी द्वारा
इंग्लिश १५७० ई०
सरटामस नॉर्थ द्वारा
जर्मन १४८३ ई०
ऐन्थॉनियस वॉनफ़र द्वारा
डैनिश
आइसलैंडिक
डच
स्पैनिश १४९३ ई०
इटैलियन १५४६ ई०
फ्रेंच १५५६ ई०
तुर्की १६वीं श० पूर्वीय भाषाएँ
अली द्वारा
फ्रेंच
जर्मन
डच
यन मलए

अध्याय १०

रूपक

(७४) रूपक का उद्भव।

रूपक का उद्भव अँधेरी गुहा में निहित है। साहित्य-क्षेत्र में बच निकले हुए रूपक के प्राचीनतम नमूने कालिदास के या उसके पूर्वगामियों के प्रौढ रूपक हैं, जो हमारी आँखों के सामने बिजली की तरह चमकते हुए आते हैं। संस्कृत रूपक के अप्रतर्क्य उद्भव को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न वाद घड़े गए हैं। उनमें से कुछ का सम्बन्ध धर्म की धारणा से और कुछ का लौकिक लीलाओं से है।

(क) परम्परागत वाद।

साम्प्रदायिक वाद के अनुसार नाट्य-विज्ञान के आविर्भाव का स्थान द्यु-लोक है। रजत-काल के प्रारम्भ में देव और मर्त्य मिल कर ब्रह्मा के पास गए, और उन्होंने उससे प्रार्थना की कि हमें मनोविनोद की कोई वस्तु प्रदान की जाए। ब्रह्मा ने ध्यानावस्थित होकर नाट्य-वेद प्रकट किया। इसके लिए उसे चारों वेदों का, सार निकालना पड़ा—ऋग्वेद से नृत्य, सामवेद से सङ्गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस। शिव ने इसमें ताण्डवनृत्य का पार्वती ने लास्यनृत्य का, और विष्णु ने नाटक की चार वृत्तियों का समावेश किया। स्वर्गलोक के चीफ़ इंजिनियर विश्वकर्मा ने रंगशाला का निर्माण किया। सबसे प्राचीन रूपक, जो इन्द्रध्वज पर्व पर खेले

गए त्रिपुरा दाह और समुद्र-मन्थन थे। इस कला को मर्त्यलोक में पहुँचाने का काम भरत के सुपुर्द किया गया। यह सारे का सारा उपाख्यान महत्त्व से शून्य नहीं है; क्योंकि इससे इन बातों पर प्रकाश पड़ता है—

(१) नाट्य-वेद की रचना मे चारों वेदों का सहयोग है।

(२) प्राचीनतम रूपक धार्मिक थे और वे धार्मिक पर्वों पर खेले गए थे।

(३) इसमे नर और नारी दोनों ने ही भाग लिया।

(४) वैदिक काल मे वास्तविक रूपक विद्यमान नहीं था। यही कारण था कि देवताओं को ब्रह्मा से उनके लिए एक नए प्रकार के साहित्य को (अर्थात् रूपक को) पैदा करने की प्रार्थना करनी पड़ी।

(ख) रूपक का धर्मसापेक्ष उद्भव।

(१) प्रो० रिजवे का विचार है कि भारत में, वस्तुतः सारे जगत् में ही रूपक का जन्म मृतात्माओं के प्रति प्रकट की हुई लोगों की श्रद्धा से हुआ है; यही श्रद्धा, फिर, सारे धर्म का आदि मूल है—इस श्रद्धा की अर्थापन्न चीज़ों में से जीव-बलि के सिद्धान्त का एक पुनरुच्छ्वसन भी है। इस विचार के अनुसार नाटकों का अभिनय मृतात्माओ की प्रीति के लिए होता था। परन्तु इसका साधक प्रमाण नहीं मिलता। पृथिवी की अन्य जातियो के बारे में यह विचार साधारणतया कुछ मूल्य रख सकता हो, परन्तु भारतीयों के बारे में यह ठीक नहीं माना जा सकता।

(२) पर्व-वाद—इस वाद का बीज इन्द्रध्वज पर्व पर नाटकों के खेले जाने के उल्लेख में सन्निहित है। इस वाद में माना जाता है कि एक तो इन्द्रध्वज पर्व यूरोप के मे-पोल (May-Pole) त्यौहार के सदृश है। दूसरे, रूपक का उद्भव कदाचित् वसंन्त में आने वाले त्यौहारों से हुआ होगा; क्योंकि भीषण शरद के बाद वसन्त में जगत् की सभी सभ्य जातियाँ कोई न कोई त्यौहार मनाती हैं। यह वाद वस्तुतः बुद्धिमत्ता से पूर्ण है। परन्तु

इस वाद का दुर्भाग्य कि इन्द्रध्वज का त्यौहार, जो इन्द्र की वृत्र (मेघ-) विजय का सूचक है, वर्षा के अन्त में पड़ता है।

(२) कृष्णोपासना-वाद—इस वाद में भारतीय रूपक के उद्भव और उपचय का सम्बन्ध कृष्ण की उपासना के उदय और प्रसार से जोड़ा जाता है। निस्सन्देह कृष्णोपासना के कई अङ्ग इस प्रसङ्ग में बड़े महत्त्व के कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, [रथ-] यात्राएँ, नृत्य, वाद्य और गीत, तथा लीलाएँ ऐसी वस्तु हैं, जिन्होंने संस्कृत-नाटक के निर्माण में बड़ा योग दिया है। संस्कृत-नाटक का विकास कृष्णोपासना के घर शूरसेन देश में हुआ। नाटकों में शौरसेनी प्राकृत का प्राबल्य इस बात का द्योतक है कि नाटक का प्रादुर्भाव ही वहाँ हुआ। कृष्णोपासना के कारण ब्रजभाषा का हाल ही मे जो पुनः प्रचार हुआ है, वह भी यही सूचित करता है कि ब्रजभाषा ने भारतीय नाटक के विकास पर कभी बड़ा प्रभाव डाला होगा। परन्तु इस वाद में कुछ त्रुटियाँ भी हैं। पहली तो यह कि कृष्ण-सम्बन्धी नाटक ही सबसे प्राचीन है, इसका पोषक प्रमाण अप्राप्य है। दूसरी यह कि राम-शिव प्रभृति अन्य देवताओं की प्रसिद्ध उपासनाओं ने भारतीय नाटक के विकास में जो बड़ा भाग लिया, उसकी उपेक्षा की गई है।

(ग) रूपक का धर्मनिरपेक्ष उद्भव।

(१) लोकप्रिय-स्वाँग-वाद—प्रो० हिलब्रैंड (Hillebrandt) और स्टेन कोनो (Stenkonow) का विचार है कि भारतीय रूपक के प्रादुर्भाव से भी पहले भारत में लोक-प्रिय स्वाँगो का प्रचार था। बाद में रामायण और महाभारत की कथाओं ने स्वाँगों के साथ मिलकर रूपक को जन्म दे दिया।

डा० कीथ ने इस वाद का प्रत्याख्यान किया है। रूपक के प्रचार से पूर्व स्वाँगों के प्रचलित होने का साधक कोई समुचित साक्ष्य सुलभ नहीं है। कोनो ने स्वाँगों का परामर्श करने वाले जितने उल्लेख उपस्थित किए हैं वे सब-के-सब महाभाष्य के अथवा उसके भी बाद काल के हैं। अतः उनसे कोनो का मत पुष्ट नहीं होता है। सच तो यह है कि डा०

कीथ के मतानुसार प्रारम्भिक स्वाँग-काल के विषय में हमारा सारा ज्ञान कल्पनाश्रित है। प्रो० हिलब्रैंड (Hille brandt) की युक्तियों में कुछ अधिक बल है। उसने उट्टङ्कित किया है :—(१) नाटकों में संस्कृत के साथ साथ प्राकृत का प्रयोग है। (२) गद्य-पद्य का मिश्रण है। (३) रंगशालाओं मे सादगी है। (४) विदूषक जैसा सर्वसाधारण का प्रीतिपात्र पात्र है। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि भारतीय रूपक सर्वसाधारण के मनोविनोद की वस्तु थी। परन्तु इन बातों का इससे भी अच्छा समाधान हो सकता है। कृष्णोपासना वाद के अनुसार उक्त चारों बातों मे से पहली तीन का समाधान बहुत अच्छी तरह से हो जाता है और रूपक के उद्भव का सम्बन्ध धर्म की धारणा से जुड़ जाता है। रूपकों में विदूषक पात्र की सत्ता का प्रादुर्भाव महाव्रत संस्कार में शूद्र पात्र की आवश्यकता से हुआ माना जा सकता है, और महाव्रत एक धार्मिक संस्कार है। दूसरे पक्ष में तो ऐसा कोई प्रमाण ही नहीं मिलता जो नाटकों में विदूषक रखने की प्रथा का सम्बन्ध किसी लौकिक लीला से जोड सके।

(२) कठपुतलियों के नाच का वाद—आर पिशल का विचार है कि रूपक की उत्पत्ति कठपुतलियों के नाच से हुई। इनका उल्लेख पुत्तलिका, पुत्रिका, दरुमयी इत्यादि के नाम से महाभारत, कथासरित्सागर और राजशेखर की बालरामायण मे बहुशः पाया जाता है। और वादों की अपेक्षा इस वाद मे 'स्थापक'[1] संज्ञा भी अधिक अन्वर्थ सिद्ध होती है। परन्तु, जैसा कि प्रो० हिलब्रैंड ने निर्देश किया है, इस वाद में बड़ी त्रुटि यह है कि कठपुतलियों के नाच का इतिहास दृष्टि में रखकर यह मानना पड़ता है कि—रूपक इससे पहले ही विद्यमान था, जो इस नाच का आधार था।

(३) छायानाटक वाद—प्रो० लूडर्स (Luders) कहते हैं कि संस्कृत-रूपक के विकास में मुख्य भाग छाया द्वारा खेल दिखाने की प्रथा का है। यह बात स्मरणीय है कि रूपक शब्द जितना अन्वर्थ इस सिद्धान्त के

---

१ वह पुरुष, जो किसी वस्तु को ठीक स्थान पर रक्खे।

अनुसार सिद्ध होता है उतना किसी और के नहीं। परन्तु जैसा कि डा कीथ ने बतलाया है, यह वाद महाभाष्य के एक स्थल के अयथा अर्थावधारण पर अवलम्बित है। अनन्तरोक्त सिद्धान्त के पक्षपाती समान इस सिद्धान्त के अनुयायी को भी रूपक की सत्ता छाया-नाटक जन्म से पहले स्वीकार करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त इस मत गद्य-पद्य के मिश्रण का तथा संस्कृत-प्राकृत के प्रयोग का कोई कारण नहीं बताया जा सकता।

(४) संवादसूक्त वाद—ऋग्वेद में पन्द्रह से अधिक संवादयुक्त सूक्त हैं। ये सूक्त निश्चय ही धर्मनिरपेक्ष—लोकव्यवहार-परक (Secular) हैं। १८६९ ई० में प्रो० मैक्स मूलर ने प्रस्ताव रखते हुए और कुछ काल पश्चात् प्रो० लैवि ने (Levi) उसका अनुमोदन करते हुए कहा कि इन सूक्तों में धर्म की भावना से भरे हुए नाटकों के दृश्यों के दर्शन होते हैं। वॉन श्रॉडर (Von Schroeder) ने इस प्रस्ताव पर सपरिश्रम विचार करके यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि इस सूक्तों से रहस्यपूर्ण नाटकों (Mystery-plays) की सूचना मिलती है। गर्भरूप में ये नाटक भारत के भारोपीय काल से प्राप्त हुए थे। डा० हर्टल ने एक कदम और आगे बढ़कर घोषणा की कि वैदिक नाटक के विकास-काण्ड का मूल सुपर्णाध्याय के अन्दर देखने को मिल सकता है। परन्तु इस घोषणा की गोद हरी नहीं हुई। दूसरे अध्येताओं ने भी अपने-अपने राग अलापे हैं। अर्थ चाहे कुछ भी लिया जाए, इतना तो निश्चित ही है कि ऋग्वेद में कतिपय सूक्त वार्तालाप युक्त भी हैं और उनमे से थोड़ों की (यथा, 'सरमा और पणिलोग' की) व्याख्या नाटकीय-दृश्य वाद के सहारे बहुत अच्छी तरह की जा सकती है।

तब रूपक का उद्भव कैसे हुआ? इसके प्राचीनतम चिह्न हमें कहाँ प्राप्त हो सकते हैं?

(क) वैदिकानुष्ठानों का साक्ष्य—उपलभ्यमान पर्याप्त प्रमाणों से पता प्रदर्शित किया जा सकता है कि रूपक के प्रायः सारे के सारे उपादान तत्त्व वैदिक अनुष्ठानो में विद्यमान हैं।

(अ) रूपक के आवश्यक घटक हैं—नृत्य, गीत और संवाद। नृत्य का उल्लेख ऋग्वेद में मौजूद है। उदाहरणार्थ, विवाह-सूक्त में पुरन्ध्रियाँ नव-दम्पती के आयुष्यार्थ नृत्य करती हैं। गीत को तो सामवेद में सभी मानते हैं। ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है।

(आ) वैदिक अनुष्ठान छोटी-छोटी अनेक क्रियाओं के सूत्रों से ग्रगुम्फित जाल थे। उनमें से कुछ में नाटकीय तत्त्व भी विद्यमान थे। यह ठीक है कि यह कोई वास्तविक नाटक नहीं था; क्योंकि नाटक का अभिनय करना ही मुख्य उद्देश्य नहीं था। अभिनेता लोग उसके द्वारा सीधा धार्मिक फल चाहते थे।

(इ) महाव्रत-अनुष्ठान वस्तुतः एक प्रकार से नाटक था। इस अनुष्ठान में कुमारियाँ अग्नि के चारों ओर नाचती थीं। शूद्र और वैश्य का प्रकाशार्थ कलह करना वस्तुतः नाटकीय अभिनय है।

(ई) यज्ञ-सत्रों (Sacrificial sessions) के अन्तरालों में यज्ञ-मण्डप में बैठे हुए यजमानों और याजकों के मनोविनोदार्थ वार्तालापमय सूक्त पढ़े जाते थे। इस धारणा की पुष्टि हरिवंश पुराण से होती है।

(उ) कई विद्वान् कहते हैं कि—नाटकों मे गद्यमय संवाद महाव्रत अनुष्ठान में प्रयुक्त संवाद को देखकर बढ़ाया गया है। यदि इस विचार को ठीक मान लें, तो रूपक के सब उपादान तत्त्व हमें वैदिक अनुष्ठान में मिल जाते हैं।

पहले ये सब उपादानिक तत्त्व पृथक्-पृथक् रह कर ही अपना काम करते रहे। इनका सायोगिक व्यापार तथा रूपक की आत्माभूत कथा-वस्तु का विकास बाद में चल कर हुआ। पढ़कर सुनाने की प्रथा (जो संस्कृत नाटकों में संगीत से भी अधिक महत्त्व रखती है) और भी आगे चलकर रामायण और महाभारत की कथाओं से ली गई।

(ख) रामायण-महाभारत का प्रभाव।

नट[1] और नर्तक दोनों शब्द रामायण एवं महाभारत में पाए जाते हैं। रामायण के सूक्ष्म अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि—इसके उस भाग में, जो असली समझा जाता है, नाटक शब्द भी मौजूद है। देखिए—

वादयन्ति तथा शान्तिं लास्यन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च॥ (२, ६६, ४)

रामायण के बाल-काण्ड में भिन्न-भिन्न रसों का उल्लेख पाया जाता है। यथा—

रसैश्शृङ्गारकरुणाहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम्॥ (१, ४; ६)

अधोऽवतार्यमाण पंक्ति में शैलूष शब्द आया है—

---

१ (ई० पू० की चौथी श० से भी पूर्व होने वाले) पाणिनि ने भी 'नट' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु आजकल उस 'नट' शब्द का पाणिनि-विवक्षित अर्थ बतलाना कठिन है। (ई० पू० दूसरी श० में होने वाले) पतञ्जलि का साक्ष्य अधिक निश्चित है। यदि कोई बात भूतकाल में हुई हो और उसे वक्ता ने न देखा हो, तब उसे अपूर्ण भूतकाल में प्रकट करने के लिए कौन से लकारादि का प्रयोग करना चाहिए? इसको समझाते हुए पतञ्जलि ने 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' का उल्लेख किया है। अधिक सम्भावना यही है कि ये नाटक हैं, जो पतञ्जलि के देखे हुए या पढ़े हुए थे। उसने नाटकोपयोगी कम से कम तीन साधनों का उल्लेख भी किया है:—(१) शौभिक लोग, जो दर्शकगण के सम्मुख दृश्य का अभिनय करते थे, (२) रजक लोग, जो कपड़े पर चित्रित करके दृश्यों को विवृत करते थे, और (३) ग्रन्थिक लोग, जो अपने भाषणों द्वारा दर्शनवृन्द के सामने उक्त दृश्यों को यथार्थ करके दिखलाते थे। उसने एक 'भ्रुकुस' शब्द भी दिया है, जो ठीक तरह स्त्री-रूपधारी पुरुष के लिए प्रयुक्त होता था। इस प्रकार अकेले पतञ्जलि के साक्ष्य के आधार पर ही कहा जा सकता है कि—ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी से पहले ही भारत में रूपक का पर्याप्त विकास हो चुका था।

शैलूषाश्च तथा स्त्रीभिर्यान्ति ॥ (२, ८३, १५)

इसी प्रकार सूत्रधार, नाटक तथा इसी वर्ग के अन्य शब्द महाभारत में भी आते हैं। उदाहरणार्थ देखिये—

इत्यब्रवीत् सूत्रधारस्सूतः पौराणिकस्तथा ॥
(१, ५१, १५)

नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारकाः ॥
(२, १२, ३६)

आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायकाः ॥
(३, १५, १३)

नाटक का पता हरिवंश से भी लगता है। इसके अतिरिक्त, रामायण महाभारत की कथाओ का नाटकान्तर्गत वार्तालाप को उच्चस्वर से पढ़कर सुनाने की प्रथा पर जो प्रभाव पड़ा, हम उससे भी इन्कारी नहीं हो सकते हैं। सामाजिक और धार्मिक सभा-सम्मेलनों मे जातिय कविता को उच्च स्वर से पढ़कर सुनाने का काम मन्दिरो और मैदानों में महीनों चलता था। धीरे-धीरे सर्वसाधारण को संस्कृत का समझना कठिन होता चला गया। इसलिए भारतो और मागधों ने बोल-चाल की भाषा के वाक्य सम्मिलित करने प्रारम्भ कर दिए, और शायद किताबी संस्कृत की सर्वथा अवहेलना कर दी। बाद में जब बोलचाल की भाषा में ही कथा करने की परिपाटी प्रचलित हो चली और अर्थ करने वाले की आवश्यकता न रही, तब सङ्गीत और नाटकोपयुक्त अङ्ग-भङ्गि को भी सम्मिलित कर लिया गया। इससे सारी वस्तु अत्यन्त रोचक और नाटकीय होगई। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण मूल्यवान् हैं।

(१) साँची से प्राप्त होने वाले उत्कीर्ण लेख से (जो निःसन्देह ईसवी सन् से पूर्व का है, अनेक कथको (कथा कहने वालो) का पता चलता है, जो अङ्ग-भङ्गि के साथ नाच रहे हैं कथा कह रहे हैं और गा रहे हैं। ये सब बातें वस्तुतः नाटकीय हैं।

(२) रामायण के उत्तरकाण्ड में कुश और लव दो गायकों का वर्णन आता है। वे जिस राम के अनभिज्ञात पुत्र हैं, उसी के चरित की कथा कर रहे हैं।

(३) भरत (वर्तमान भाट—कथा कारक) शब्द बतलाता है कि उच्च स्वर से बोल-सुनाने का नाटक के साथ कितना गहरा सम्बन्ध है।

(४) उक्त तीसरे प्रमाण का समर्थन कुशलव शब्द से भी होता है।

(५) उत्तर रामचरित में भवभूति कहता है कि नाटकों पर रामायण-महाभारत का महान् ऋण है।

(६) भास के नाटक भी अपने आपको रामायण-महाभारत का ऋणी सूचित करते हैं।

(ग) धर्म का प्रभाव—रूपकों की उत्पत्ति को सच्ची प्रेरणा धर्म से ही प्राप्त हुई है। स्वर्ग में पहला रूपक एक धार्मिक उत्सव पर ही खेला गया था। ताण्डव और लास्य ये दोनों महादेव और पार्वती ने दिए थे। कृष्ण, राम, शिव एवं अन्य देवताओं की भक्ति ने रूपक के विकास में बड़ी सहायता की है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि—जैन और बौद्धधर्म नाटकों के विरुद्ध हैं, परन्तु इन धर्मों के अनुयायियों को भी अपने धर्म का प्रचार करने के लिए नाटकों का आश्रय लेना पड़ा।

(घ) लौकिक वस्तुओं का प्रभाव—साथ ही साथ भारत में कभी ग्रामोत्सव और छाया नाटकों का तथा कठपुतलियों के नाच का प्रचार भी अवश्य रहा होगा।

बढ़ती हुई अभिरुचि के कारण केवल इसी काम को करने वाले लोगों की श्रेणी भी उत्पन्न हो गई होगी। ऐसे लोग सामाजिक और नैतिक दृष्टि से निम्नस्थानीय समझे जाते थे। हमारे इस विचार का समर्थन पतञ्जलि करता है। गाँवों के अकृत्रिम वातावरण में हुए रूपकों के इस विकास को देख लेने के बाद हम उनमें प्राकृत भाषाओं के प्रयोग के,

गद्य-पद्य के मिश्रण के, नाच-गान की प्रधानता के और रंगशाला की सादगी के कारण को भी भली भाँति समझ सकते हैं।

अब प्रश्न रहा रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार की जाति के (Allegorical) रूपकों का। कदाचित् ऐसे रूपकों का जन्म जैन और बौद्धधर्म की आचारविषयक और साधारण उपदेश सम्बन्धी शिक्षाओं से हुआ है। राजा लोग रूपक विद्या के निरन्तर संरक्षक रहे; बहुत सम्भावना यही है कि इसीलिए लोगों को राजाओं के या रनिवास की प्रणयलीलाओं के रूपक लिखने का ख्याल पैदा हो गया। यही रूपक आगे चलकर सब रूपकों के लिए मानदण्ड बन गए।

भारतीय और यूनानी रूपक साहित्य के इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार उपस्थित होने पर हम कहेंगे कि यूनानी रूपक ने संस्कृत रूपक की उत्पत्ति में कुछ योग दिया हो, इस बात की बहुत ही कम सम्भावना है[1]।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुए कहा जाएगा कि भारतीय रूपक का विकास एक दो नहीं, अनेक शताब्दियों में हो पाया होगा। यह—रूपक का विकास—मानो एक सजीव शरीर था, जिसके रूप में बार-बार परिवर्तन हुए, जिसने जो मिला उसी को हड़प कर लिया और फिर भी अपना स्वरूप अक्षुण्ण रक्खा। डा० वेलवल्कर का कथन है:—"इसके सब के सब जटिल उपादानों की व्याख्या करने के लिए किसी एक सिद्धान्त से काम नहीं चल सकता। रूपक के विविध-विध रूप और रंग हैं। उनमें से कभी एक को और कभी दूसरे को लेकर प्रतिभाओं का जो संग्राम हुआ है, उसने हमारे प्रश्न को और भी कठिन बना दिया है। हमें आशा भी यही थी; क्योंकि, रूपक का तात्पर्य लोकानुकृति से है; और, जीवन के समान ही, यदि यह दुर्विश्लेषणीय रहे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है"।

---

१ विस्तृत विवरण के लिए प्रघट्टक ७५ देखिए।

(७५) रूपक का यूनानी उद्भव।

कुछ विद्वान् समझते हैं कि शायद संस्कृत रूपक का जन्म यूनानी रूपक से हुआ होगा। उनकी धारणा है कि यूनानी रूपक का इतिहास भारतीय रूपक के इतिहास से बहुत अधिक पुराना है; और महान् सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारतीय समुद्र-तट पर कुछ यूनानी लोग बस गए थे, जो फुर्सत के वक्त जी बहलाने के लिए अपने देश के नाटक खेला करते होंगे। उनके इन नाटकों से भारतीय नाटकों की उत्पत्ति और वृद्धि पर उसी प्रकार बड़ा प्रभाव पड़ा होगा, जिस प्रकार उनकी ज्योतिष और गणित विद्या का बड़ा प्रभाव भारतीय ज्योतिष और गणित विद्या पर पड़ा है। वेबर (Weber) और विंडिश (Windisch) ने दोनों देशों के रूपकों में सादृश्य दिखाते हुए इस सिद्धान्त की बेल को मढ़े चढ़ाने का पुष्कल प्रयास किया है। उन्होंने यवन और यवनिका शब्दों पर बड़ा ज़ोर दिया है। संस्कृत रूपकों में यवनियों को राजाओं की अङ्गरक्षिकाओं के रूप में पेश किया गया है; परन्तु यूनानी रूपकों में यह बात नहीं पाई जाती है। यवनिका शब्द सूचित करता है कि भारतीय रंगशालाओं के पर्दे विदेशी वस्त्र या रंग इत्यादि से कदाचित् ईरानी बेल-बूटेदार कालीन की जाति के किसी वस्त्र से तैयार किए जाते थे। यही बात लैवि ने कही भी है। यूनानी रूपकों में पर्दे का प्रयोग नहीं है। इससे उक्त सिद्धान्त की स्वयं हत्या हो जाती है। दूसरी ओर ऐसे प्रबल प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि संस्कृत रूपक यूनानी रूपक का ऋणी नहीं रहा होगा। अन्तरात्मा, कथावस्तु-क्रम तथा निर्माण-सिद्धान्त की दृष्टि से यूनानी और संस्कृत नाटक एक दूसरे से बिलकुल विपरीत दिशा में चलते हैं।

(१) यूनानी नाटक में देश और काल की एकता का नियम है, संस्कृत नाटक में नहीं। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल तक में हम देखते हैं कि एक अङ्क का स्थान वन है, तो दूसरे का राजप्रासाद या इससे

भी बढ़कर; एक अङ्क का स्थान भूलोक है, तो दूसरे का स्वर्गलोक। इतना ही नहीं, एक ही अङ्क तक में स्थान-भेद हो सकता है। अभिज्ञानशाकुन्तल के अन्तिम अङ्क में हम यही बात पाते हैं। काल को देख, तो अभिज्ञान-शाकुन्तल के अन्तिम दो और उत्तररामचरित के आदिम दो अंकों की कथाओं के कालों में कई वर्षों का अन्तर पाते हैं।

(२) संस्कृत रूपक में सुख-दुःख की घटनाओं का सुन्दर सम्मिश्रण रहता है। यह बात यूनानी रूपकों के नियमों के सर्वथा विरुद्ध है। इस दृष्टि से संस्कृत रूपकों की तुलना स्पेनिश और इंग्लिश[1] रूपकों के साथ अधिक अच्छी तरह की जा सकती है; कारण, इनके लिए, जैसा कि श्लैजल (Schlegel) कहता है, "दुःखमय (Tragedy) तथा सुखमय (Comedy) शब्दों का प्रयोग उस अभिप्राय के साथ हो ही नहीं सकता, जिसके साथ प्राचीन विद्वान् इनका प्रयोग किया करते थे"। संस्कृत रूपकों की रचना सदा मकड़ी के जाल के सदृश होती है और उनमें "गम्भीरता के साथ छिछोरापन एवं शोक के साथ हास्य" मिला रहता है[2]। उनमें भय, शोक,

---

१ शेक्सपियर के रूपकों के साथ सादृश्य की कुछ और बातें ये हैं—

(क) विदूषक, जो शेक्सपियर के मूर्ख से बिलकुल मिलता है।

(ख) गद्य-पद्य का सम्मिश्रण।

(ग) पात्रों के नाना नमूनों की निस्बत एक एक व्यक्ति का ही चरित्र-चित्रण अधिक करना।

(घ) काल्पनिक और भयंकर अंशों का समावेश।

(ङ) श्लेषालङ्कार का प्रयोग तथा शब्दों का हास्योत्पादक तोड़-मरोड़।

(च) रूपक की क्रिया को बढ़ाने के लिए एक जैसे उपाय; यथा—पत्रों का लिखना, मृतकों का जीवित करना और कहानी में कहानी भरना।

मैकडानल ने कहा है—"उस अवस्था में, जिसमें प्रभाव डालने या उधार लेने का बिलकुल प्रश्न ही नहीं उठता है, समान घटनाओं की इतनी परम्परा का होना शिक्षा देता है कि दो वस्तुओं का एक जैसा विकास परस्पर निरपेक्ष रूप से भी हो सकता है"।

२ जैसे—जिस समय नायक-नायिका शोक में मग्न हैं, उस समय भी विदूषक अपना काम खूब करके दिखलाता है।

करुणा इत्यादि मानवीय सभी हार्दिक भावों को जागरित करने का प्रयत्न किया जाता है सही, परन्तु उनमें कथा का अन्त दुःख में नहीं दिखाया जाता। यह दुःखपूर्ण अन्त, जैसा कि जौनसन (Johnson) कहता है, शेक्सपियर के दिनों में दुःखमय (Tragedy) रूपक का पर्याप्त लक्षण समझा जाता था।

(३) यूनानी काव्य का प्रधान सिद्धान्त जीवन को हर्षरूप और गर्वरूप देखना था; परन्तु संस्कृत के रूपक-लेखक जीवन में शान्ति और अनुद्धतता देखते थे। यही कारण है कि भारतीय दुःखमय रूपकों में अत्यधिक विपत्ति का चित्र नहीं और सुखमय रूपकों में अतिसीम हर्ष का उद्रेक नहीं।

(४) संस्कृत रूपकों में यूनानी रूपकों का मिलकर गाया जाने वाला गीत (Chorus) नहीं होता है।

(५) संस्कृत रूपक आकार की दृष्टि से भी यूनानी रूपकों से मेल नहीं खाते हैं। मृच्छकटिक का आकार ऐस्काईलस (Aeschylus) के प्रत्येक रूपक के आकार से तिगुना है। दूसरी ओर, जितने समय में यूनानी लोग एक ही बैठक में तीन दुःखमय (Tragedies) और एक प्रहसन (Farce) का खेल कर लेते थे, भारतीय, यदि रूपक लम्बा हुआ तो, केवल एक ही रूपक का अभिनय करते थे।

(६) यूनानी के मुक़ाबिले पर संस्कृत रूपक स्वरूप में वस्तुतः रमणीय-कल्पना-बहुल होता है।

संस्कृत रूपक अत्यन्त जटिल जाल है। साहित्य दर्पण ने रूपक के मुख्य दो भेद किए हैं—रूपक और उपरूपक। प्रथम के पुनः दस और चरम के अठारह उपभेद किए गए हैं। संस्कृत रूपक का अपना विशिष्ट रूप है[1]। इन नाना आधारों पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि संस्कृत रूपक अवश्य प्रकृष्ट प्रतिभा की एक भारतीय प्रसूति है, यह किसी विदेशी साहित्य-तरु की शाखा नहीं है। हॉरविट्ज (Horwitz) कहता है:—

---

१ विस्तृत विवरण के लिए प्रघट्टक ७६ देखिए।

"क्या हम कभी यह कहते हैं कि, चूँकि पीकिंग में लीपज़िग और वीमर से भी बहुत पहले से प्रेक्षा-भवन विद्यमान थे, अतः जर्मन-नाटक चीन से लिया हुआ माना है ? तब फिर भारत के प्रसङ्ग में क्यो ? यदि नाटक-कला का उद्भव चीन में और यूनान में परस्पर निरपेक्ष हुआ था, तो भारत में ऐसा क्यों नहीं हो सकता" ।

(७६) संस्कृतरूपक की विशेषताएँ ।

संस्कृत रूपक की कुछ विशेषताएँ—देश और काल की एकता का न मानना, सुख तथा दुःख की घटनाओं का सुन्दर मिश्रण, दुःखान्तता का पूर्ण अभाव,[1] दूसरे देशों के नाटकों की अपेक्षा अधिक आकार और रमणीय कल्पना की बहुलता ऊपर वर्णित हो चुकी हैं। कुछ अन्य नीचे दी जाती हैं।

(१) वर्णन-पूर्ण गद्य का और मुक्तक (Lyrical) पद्य का संयोग। साधारणतया रूपक की गति में वर्णन-पूर्ण गद्य से वृद्धि हो जाती है, और ऐसा गद्य प्रायः देखने में आता भी है; परन्तु प्रभाव का अवश्य वर्धक अवसरानुसारी मुक्तक पद्यों का समावेश ही है। सच तो यह है कि रूपक को वास्तविक हृद्यता और सुन्दरता के प्रदाता ये पद्य ही हैं। इनके बिना रूपक वार्तालाप का एक शुष्क प्रकरण रह जाता है। अकेले अभिज्ञान-शाकुन्तल में ऐसे कोई दो सौ पद्य हैं। साधारणतया रूपक का लगभग आधा शरीर तो इन पद्यों से ही निष्पन्न हो जाता है। ये पद्य विभिन्न छन्दों में होते हैं और कवि की काव्य-कुशलता का परिचय देते हैं।

---

१ नियम यह है कि संस्कृत रूपकों में मृत्यु का दृश्य नहीं दिखाया जाता है और अन्त सुखमय रक्खा जाता है। इस नियम का कठोरता से पालन होता है। इसी नियम के उल्लङ्घन से बचने के लिए भवभूति को अन्त में सीता और राम का पुनर्मिलन करना पड़ा है। अन्य कवियों की भी ऐसी ही दशा है। यद्यपि अन्त में दुःखमय घटना नहीं होती, तथापि करुण रस के और विप्रयुक्त प्रेमि-युगलों के चित्र खींच-खींच कर बड़े-बड़े कवियों तक को रूपक के प्रारम्भ और मध्य में पर्याप्त दुःख का वर्णन करना पड़ता है। मृच्छकटिक और अभिज्ञानशाकुन्तल में यह मध्य में है, और उत्तर-रामचरित में यह यूँ तो सारे में है, किन्तु प्रारम्भ में विशेष है।

(२) संस्कृत और नाना प्राकृतों का मिश्रण—अपने-अपने सामाजिक पद के अनुसार भिन्न-भिन्न पात्र भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते हैं। साधारण नियम यह है कि—नायक, राजा, उच्चश्रेणी के पुरुष और तपस्विनी ये सब संस्कृत बोलते हैं। विदूषक ब्राह्मण होने पर भी प्राकृत बोलता है। कुलीन स्त्रियाँ, बालक और उत्तम वर्ग के सेवक सामान्यतः गद्य में शौरसेनी का और पद्य में महाराष्ट्री का प्रयोग करते हैं। राजभवन के अन्य परिजन मागधी बोल सकते हैं। गोपाल, लुण्टाक, प्रवञ्चक, द्यूतव्यसनी इत्यादि दूसरे लोग प्राकृत के अन्यभेद—आभारी, पैशाची, अवन्ती प्रभृति बोलते हैं। अपभ्रंश का प्रयोग अत्यन्त घृणित और असभ्यों के द्वारा होता है।

(३) संस्कृत रूपककर्ता का मुख्य उद्देश्य दर्शकसमूह के हृदय में किसी एक विशिष्ट रस का उद्रेक उत्पन्न करना है। वह रस शृङ्गार, वीर, करुण या कोई और[१] भी हो सकता है। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण तथा अन्य सब वस्तुएँ इसी लक्ष्य के अधीन होती हैं। क्योंकि संस्कृत रूपकों में गति या क्रिया-वेग (Action) के ऊपर बल नहीं दिया गया है, अतः आधुनिक तुला पर रखने के बाद उनमें से अधिक संख्यक यथार्थ रूपक की अपेक्षा रूपकीय काव्य ही अधिक माने गए हैं।

(४) रूपकों की कथावस्तु चुनकर कोई प्रसिद्ध कहानी रक्खी जाती है, ताकि सामाजिक इससे पूर्णतया आनन्दित हो सकें। यह कहानी प्रायः इतिहास या रामायणादि में से ली जाती है। कुछ अपवादों को[२] छोड़ यही देखा जाता है कि रूपक की कथावस्तु कोई प्रेम-कहानी होती है, और शृङ्गार रस

---

१ प्रायः रिवाज यह है कि शृङ्गार रस ही मुख्य रस माना जाता है। इसके बाद वीर का नम्बर है। अपने उत्तररामचरित में भवभूति ने करुण का परिपाक किया है। शेष रसों में से अवसरानुसार किसी को भी रूपक में मुख्य रस बनाने का विधान तो कर दिया गया है, परन्तु उनमें से किसी को मुख्य बहुत ही कम बनाया गया है। २ उल्लेखनीय अपवाद ये हैं—विशाखदत्त-रचित मुद्राराक्षस, भट्टनारायण-कृत वेणीसंहार और श्रीहर्ष-प्रणीत नागानन्द।

ही मुख्य रस होता है। प्रथम-दर्शन होते ही नायक-नायिका का परस्पर प्रेम होता है; परन्तु जीवन भर के लिए संयुक्त होने से पहले उन्हे वियोग-क्षुर की दुरत्यय-निशित धार पर चलना पडता है। इस काल में उन्हे कभी अभिलाष, कभी नैराश्य, कभी सन्देह, कभी निश्चय इत्यादि अनेक मनोवेदनाओं की तीखी अनियों की चोटें झेलनी पडती हैं। बीच-बीच में राजा के मनोविनोदकारी विदूषक द्वारा या नायिका की विश्वस्त सखी द्वारा छिड़काई हुई हास्यरस की बूँदों से सामाजिकों का मन प्रफुल्ल रक्खा जाता है।

(५) संस्कृत रूपक का उपक्रम आशीर्वाद के श्लोक से, जिसे नान्दी कहते हैं, होता है। इसके बाद प्रस्तावना आती है। इसमें पत्नी के साथ या किसी परिचारक के साथ आकर सूत्रधार अभिनेष्यमाण रूपक से दर्शकों को सूचित करता है, और किसी अभिनेता का प्रवेश कराकर रंगमञ्च से हट जाता है। मुख्य और उपभेद के अनुसार प्रत्येक रूपक में अंकों की सङ्ख्या भिन्न-भिन्न होती है। किसी में एक तो किसी मे दस तक अङ्क होते हैं (उदाहरणार्थ, नाटिका में चार और प्रहसन मे एक अंक होता है)। किसी अङ्क के समाप्त होने के बाद अन्य अङ्क के प्रारम्भ में प्रवेशक या विष्कम्भक नाम से एक तरह की भूमिका होती है, जिसमें सामाजिकों के सामने उन घटनाओं का वर्णन किया जाता है, जो उनके सामने रंगमञ्च पर घटित न होकर नेपथ्य में घटित हुई हैं। यह इसलिए कि वे अगली घटनाओं को अच्छी तरह समझने के योग्य हो जाएँ। पात्रों की संख्या का कोई बन्धन नहीं है। साथ ही पात्र दिव्य, अदिव्य या दिव्यादिव्य तीनों प्रकार के हो सकते हैं। रूपक के अन्त में भरतोक्ति (राष्ट्रीय-प्रार्थना) आती है। इसका पाठ करने वाला कोई प्रधान पात्र होता है। प्रायः यह स्वयं नायक द्वारा ही पढ़ी जाती है।

(६) अब रङ्गशाला के विषय में लीजिए। नाट्य-शास्त्र के विधान के अनुसार यह वर्गाकार, आयताकार या त्रिभुजाकार होनी चाहिए। नाट्य-शास्त्र में नाटक खेलने के समयों का भी विधान मौजूद है। वे समय हैं:— चान्द्रिक अनध्याय, राजतिलक, जनता के उत्सव, धार्मिक पर्व, विवाह,

पुत्रजन्म, मित्र-मिलन, गृह-प्रवेश या नगर-विजय। ये खेल प्रायशः सङ्गीतशालाओं में होते थे। रंगमंच के पृष्ठ की ओर एक पर्दा टँगा रहता था। अभिनेतृ-वर्ग उसी पर्दे के पीछे वेष धारण करके मञ्च पर आता और अपना अभिनय समाप्त करके फिर उसीके पीछे चला जाता था। इस पर्दे के पीछे के स्थान को 'नेपथ्य' कहते हैं। जब किसी पात्र को शीघ्रता से प्रवेश करना होता था, तब वह 'पर्दे को उठाकर' प्रवेश करता था। मञ्च के प्राकृतिक दृश्य तथा सजावट के सामान बहुत साधारण होते थे। खेल में की अनेक बातें दर्शकों को वर्णन-पूर्ण पद्यों के अनुकरणात्मक क्रिया के या नाट्य (सपरिश्रम सीखे हुए और दर्शकों के समझ लेने योग्य अङ्ग-सञ्चालन) के द्वारा समझा दी जाती थीं।

(७) ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत रूपककार रूपक का प्रधान प्रयोजन लोकरञ्जन समझते थे, न कि एकमात्र अनुभूयमान जीवन का सजीव चित्र खींचना। यदि किसी रूपक का अवसान सावसाद हो, तो सामाजिक लोग दूयमान और शोकाकुल होकर रङ्गशाला से बाहर निकलें। ऐसी अवस्था में खेल का यथार्थ अर्थ ही व्यर्थ हो जाए। इसके सिवा, भारतीय लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते हैं, अतः इनके लिए मृत्यु इतनी दुःखप्रद घटना नहीं है, जितनी पाश्चात्य लोगों को। इस नियम के अपवादों की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया है। उन्होने उदाहरण भी ढूँढ लिए हैं। नाम के लिए 'ऊरुभङ्ग' रूपक की समाप्ति शोकोत्पादक है। परन्तु ऐसे उदाहरणों में हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि दुःशासन जैसे पात्रों की समवेदना बिलकुल नहीं हो सकती; उलटा, वे तो उसकी मृत्यु से प्रसन्न होते हैं। सिद्धान्तकारों का सिद्धान्त है कि वास्तविक दुःखमय रूपक का रूप भीषण और रोमाञ्चकर मृत्यु-घटना में सन्निहित नहीं है, प्रत्युत उस घटना के पहले या पीछे उत्पाद्यमान करुणारस में। अतः भारतीय रूपकों में साक्षात् मृत्यु का अभिनय नहीं किया जाता।

(८) इतना ही नहीं। हास्य अथवा गम्भीरता की कोई भी बात, जो अशिष्ट समझी जाती है, अभिनीत नहीं की जाती। यही कारण है कि शाप-

दान, निर्वासन, राष्ट्र-विपत्ति, दशन, चुम्बन, अशन, शयन इत्यादि का अभिनय सर्वथा प्रतिषिद्ध है।

(७७) कतिपय महिमशाली रूपक।

मुद्रित अथवा अद्यावधि अमुद्रित संस्कृत रूपकों की संख्या छः सौ से अधिक है; परन्तु उनमें से महत्त्वपूर्ण, जिनका यहाँ उल्लेख उचित होगा, उँगलियों पर गिनने योग्य ही हैं। भास, कालिदास और अश्वघोष के रूपकों का वर्णन तीसरे अध्याय में हो चुका है। दूसरे प्रसिद्ध रूपक ये हैं—

(१) शूद्रक का मृच्छकटिक, (२) रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द, जो श्रीहर्ष के बनाए बतलाए जाते हैं, (३) विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, (४) भट्ट नारायण का वेणीसंहार, (५) भवभूति का मालती-माधव, महावीरचरित और उत्तररामचरित, (६) राजशेखर का बालभारत इत्यादि, (७) दिङ्नाग की कुन्दमाला, (८) मुरारि का अनर्घराघव, और (९) कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय।

(७८) शूद्रक।

संस्कृत साहित्य में नृप शूद्रक महान् लोकप्रिय नाटककार है। इसके नाम का उल्लेख वेतालपञ्चविंशति में, दण्डी के दशकुमारचरित में, बाण के हर्षचरित और कादम्बरी दोनों ग्रन्थों में, तथा सोमदेव के कथासरित्सागर में पाया जाता है। कल्हन ने इसे नृप विक्रमादित्य से पूर्वभावी बतलाया है। इसका जीवनचरित्र अङ्कित करने के लिए कई ग्रन्थ[1] लिखे गए थे।

१—इनमें से उल्लेखनीय ये हैं :—

(क) शूद्रकचरित—इसका उल्लेख वादिघघाल ने काव्यादर्श की अपनी टीका में किया है। (ख) शूद्रककथा—इसके रचयिता रामिल और सौमिल थे। इसका संकेत राजशेखर की कृति में मिलता है। (ग) शूद्रककथा—पञ्चशिखरचित प्राकृत-कविता। इसका नाम भोज की रचना में आया है। (घ) विक्रान्तशूद्रक—एक रूपक। इसका नाम भोज और अभिनवगुप्त ने किया।

रूपक है। इसकी एक और विशेषता यह है कि सत्ताईस के सत्ताईस लघु पात्रों का व्यक्तित्व विस्पष्ट दिखाई देता है। पात्रों में राज-दरबारी, पुलिस के सिपाही लुटेरे, चोर, राजनीतिक नर और श्री १०८ संन्यासी भी हैं। तीसरे अंक में हम सेंध मारने का एक वर्णन पढ़ते हैं। इसमें स्तेय-कर्म एक नियमित कला कही गई है। मृच्छकटिक (मृत्+शकटिका) नाम छठे अंक की एक घटना पर आश्रित है। वसन्तसेना चारुदत्त के पुत्र की मिट्टी की गाड़ी अपने रत्नजटित सुवर्णालंकारों से भर देती है। यह बात न्यायालय में चारुदत्त पर लगाए हुए अभियोग का पारिस्थितिक साक्ष्य (Circumstantial evidence) बन गई और इसने अभियोग को और भी जटिल बना दिया। दो प्रेमियों की निजी प्रेम कथा में राजनीतिक क्रान्ति मिला देने से रूपक की रमणीयता बढ़ गई है।

काल—दुर्भाग्य से शूद्रक के काल का अभ्रान्त शोधन शक्य नहीं है। दण्डी, बाण और वेतालपञ्चविंशतिकाकृत् ने इसके नाम का उल्लेख किया है, अतः यह इनसे पूर्वभावी अवश्य सिद्ध होता है। कल्हण के मत से इसी के बाद विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा। परन्तु यह विक्रमादित्य ही विक्रम सम्वत् का प्रवर्तक था, इस बात को सिद्ध करना कठिन है। निश्चित तो यही मालूम होता है कि चूंकि 'चारुदत्त' रूपक का ही समुपबृंहित[1] रूप मृच्छकटिक है, अतः शूद्रक भास का उत्तरभावी है। कई विद्वानों ने इसे अवन्ति-सुन्दरी-कथा में वर्णित नृप शिवस्वाति का समकालभव मानकर इसके काल-शोधन का श्रम उठाया है। एक गणना के अनुसार शिवस्वाति का समय ७१ ई० के आस-पास है, परन्तु पुराणोक्त इतिहास-तिथियों के आधार पर लगाई हुई दूसरी गणना के अनुसार वह (शिवस्वाति) ई० पू० चौथी या पाँचवीं शताब्दी में शासन करता था।

(७६) हर्ष के नाम से प्रचलित तीन रूपक।

(क) प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द इन तीन रूपकों की प्रस्तावना में रचयिता का नाम नृप हर्ष मिलता है। हर्ष नाम के कम से कम चार राजा इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

---

१ इस विषय में विस्तृत विवरण गत तीसरे अध्याय में देखिए।

(१) हर्ष, कश्मीर का राजा।

(२) हर्ष, धारा के नृप भोज का पितामह।

(३) हर्ष विक्रमादित्य, उज्जैन का राजा, मातृगुप्त[1] का शरण्य।

(४) हर्षवर्धन, कन्नौज का स्वामी।

ऐच. ऐच. विल्सन ने रत्नावली का रचयिता काश्मीर के अधिपति श्रीहर्ष को (१११३-२५ ई०) ठहराया है। परन्तु यह मत ग्राह्य नहीं है; कारण, रत्नावली का उद्धरण क्षेमेन्द्र के (११वीं श० का मध्य) औचित्यालङ्कार में पाँच बार[2], और नृप जयापीड के (८वीं श० का चतुर्थ पाद) सचिव दामोदरगुप्त के कुट्टिनीतम में कम से कम एक बार[3] अवश्य आया है। रत्नावली का रचयिता ईसा की आठवीं शताब्दी से बहुत पहले ही हुआ होगा। यह विचार कि कनौज का राजा हर्षवर्धन (६०६-६४८ ई०) ही रत्नावली का रचयिता होगा इत्सिंग के यात्रा-वर्णन से भी पुष्ठ होता है। इत्सिंग कहता है कि नृप शीलादित्य[4] ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की कथा को पद्य-बद्ध किया था और अपने जीते जी इसका प्रचार करने के लिए नृत्य और अभिनय के साथ इसका खेल भी करवाया था[5]। इसके अतिरिक्त बाण हमें बतलाता है कि हर्षवर्धन में [महती] कवि प्रतिभा थी।

(२) धावक या बाण?—मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में काव्य के चार प्रयोजनों में से एक प्रयोजन धनप्राप्ति भी बतलाया है और इसका उदाहरण देते हुए कहा है—"श्रीहर्षादेर्धावक (बाण)[6] आदीनामिव धनम्"। कदाचित् धावक ने श्रीहर्ष के राज-दरबार में रहकर कोई उत्तम काव्य लिखा

---

१ राजतरङ्गिणी में (अनुच्छेद ५१८) कल्हण लिखता है।—

तत्रानेहस्युज्जयिन्या श्रीमान् हर्षापराभिध।

एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत ॥

२ रत्नावली १, ८। २, २। २, ३। २, ४। और २, । १२। ३ रत्नावली १, २४। ४ हर्ष का दूसरा नाम। ५ 'भारत एवं मलय द्वीपों में बौद्धधर्म का एक इतिहास' ('इंग्लिश, पृष्ठ १६३, तकोकुसु (Takokusu) द्वारा अनुदित)। ६ यह पाठ काश्मीरी प्रति के अनुसार है।

होगा और इसके लिए अपने स्वामी से कोई बहुमूल्य पुरस्कार प्राप्त किया होगा। इस बात से भी इन्कार नहीं हो सकता कि बाण को भी हर्षचरित लिखने पर अपने स्वामी [हर्ष] से पुष्कल द्रव्य मिला होगा। इन रूपकों को हर्षचरित के साथ मिलाकर देखते हैं तो इनकी अपकृष्ट शैली से इनका बाणकृत न होना बिल्कुल विस्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, बाण का हर्षचरित साहित्यिक गुणों में इन रूपकों से निस्सन्देह उत्कृष्ट है। अतः इन रूपकों की तथाकथित बिक्री की अपेक्षा हर्षचरित की बिक्री से बाण को अधिक धन मिल सकता था। परन्तु मम्मट के उपर्युक्त वाक्य का अर्थ और तरह भी लगाया जा सकता है। इस अर्थ का समर्थन राजशेखर द्वारा भी होता है जिसने लिखा है कि धावक ने ये रूपक लिखकर इनके ऊपर श्रीहर्ष से पुरस्कार प्राप्त किया[1]। हाँ यह कहना कठिन है कि राजशेखर की यह बात कितनी विश्वसनीय है कितनी नहीं, क्योंकि हमें धावक के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है। दूसरी ओर, सुभाषित-संग्रहों में हर्षवर्धन के नाम से उद्धृत कई बड़े ही रमणीय पद्य मिलते हैं।

(३ संयुक्त-कर्तृत्व—नागानन्द में बौद्धधर्म का रङ्ग देखा जाता है। नान्दी में भगवान् बुद्ध की स्तुति है। नायक जीमूतवाहन बोधिसत्त्व है, और 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त पर बल दिया गया है। डा० मैक्डानल (Macdonell) ने कहा है कि इन रूपकों के रचयिता पृथक् पृथक् हैं; परन्तु वक्ष्यमाण हेतुओं से हम इस विचार को ग्राह्य नहीं मान सकते। (१) इन तीनों रूपकों की प्रस्तावनाओं से इनका कर्त्ता एक ही व्यक्ति पाया जाता है; (२) इन में से एक के पद्य दूसरे में पाए जाते हैं; उदाहरणार्थ एक ऐसा पद्य है जो रत्नावली और प्रियदर्शिका दोनों में

---

१ देखिए, अतीत खण्ड १४। २ हर्ष की एक नाट्य-शास्त्र-टीका भी प्रसिद्ध है। यद्यपि रत्नावली नाट्यशास्त्र के नियमों के अनेक उदाहरण उपस्थित करती है, तथापि हम निश्चय से नहीं कह सकते कि उस टीका का और रत्नावली का लेखक एक ही व्यक्ति है। उस टीका में से अभिनवगुप्त, शारदातनय और बहुरूपमिश्र ने उद्धरण दिए हैं।

आया है, तथा दो ऐसे हैं जो रत्नावली और नागानन्द दोनों में देखे जाते हैं, और (३) इन तीनों रूपकों की शैली तथा वचोभङ्गी इतनी अभिन्न है कि पाठक को इनके रचयिता की एकता में सन्देह उत्पन्न ही नहीं होता।

(ख) कथावस्तु—(१) रत्नावली और प्रियदर्शिका दोनों की दोनों नाटिका हैं, दोनों में चार चार अङ्क हैं तथा दोनों की कथा-वस्तु एवं रूपरेखा में भी बहुत अधिक समानता है। दोनों में नायक उदयन और महिषी वासवदत्ता है। रत्नावली में सागरिका (लङ्का की राजकुमारी रत्नावली) और उदयन के प्रणय तथा अन्त मे विवाह होजाने का वर्णन है। इसका आयोजक सचिव यौगन्धरायण था। जहाज़ के डूब जाने की विपत्ति आने पर रत्नावली दयनीय दशा में उदयन के दरबार में पहुँची। कुछ काल तक वह महारानी की सेविका बनी रही, परन्तु अन्त में मालूम हो गया कि वह लङ्का की राजकुमारी है। सच्ची हिन्दू-पत्नी के समान, जो पति के सुख के लिए सदा अपने सुखों की बलि देने को तैयार रहती है, वासवदत्ता ने रत्नावली का विवाह उदयन के साथ हो जाना स्वीकार कर लिया। इस वस्तु का आधार इतिहास या ऐतिहासिक उपाख्यान है और कुछ बदले हुए रूप में यह कथा कथासरित्सागर में भी आई है। एक ओर रत्नावली नाटिका कालिदास के मालविकाग्निमित्र से और दूसरी ओर राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी से अत्यन्त मिलती जुलती है।

प्रियदर्शिका नाटिका में उदयन के आरण्यिका (प्रियदर्शिका) के साथ अनुराग-व्यवहार का और अन्त में विवाह-बन्धन का वर्णन है। वह अङ्गदेश के राजा दृढवर्मा की दुहिता थी और उदयन से उसकी सगाई हुई थी। अभी प्रियदर्शिका का विवाह नहीं हुआ था कि कालिङ्ग के राजा ने अङ्ग पर आक्रमण करके दृढवर्मा को बन्दी बना लिया। प्रियदर्शिका आरण्यिका के नाम से उदयन के अन्तःपुर में पहुँच गई। दीर्घ कालक्रम के पश्चात् उसका रहस्य खुल गया और अन्ततो गत्वा वह उदयन की परिणीता प्रिया बन गई[1]।

---

१ इस रूपक के अन्दर एक और रूपक है जिसमें विश्वासपात्री सखी (सास्कृत्यायनी) कर्त्री धर्त्री बनी हुई है। इस अवान्तर रूपक में (मनोरमावेषधारी) राजा (वासवदत्तारूपधारिणी) आरण्यिका के प्रणय-पाश में बँध जाता है।

नागानन्द में पाँच अङ्क हैं। इसमे जीमूतवाहन के आत्मोत्सर्ग की कथा है।[1] इसने सर्प के स्थान पर अपने आपको गरुड़ को खाने के लिए दे दिया था। इसके इस औदार्य-कार्य से प्रसन्न होकर गौरीदेवी ने इसे पुनर्जीवित कर दिया, जिससे इसके रोते हुए माता-पिता को बड़ा हर्ष हुआ। मृत सर्प भी जीवित कर दिए गए, और गरुड़ ने प्रतिज्ञा की कि मैं अब से सर्पाहार का परित्याग करता हूँ। रूपक में हिन्दू और बौद्ध विचारों का सुन्दर संयोग है तथा जिस काल में यह लिखा गया है उसका प्रतिबिम्ब इसमें खूब झलक रहा है।

(ग) शैली—हर्ष ने अपनी रचना द्वारा वैदर्भी रीति का बहुत उत्तम आदर्श उपस्थित किया है। यद्यपि इसमें कालिदास और भास जैसी न तो सूक्ष्मेक्षिका है और न ऊँची उड़नेवाली कल्पना, तथापि इसमें सादगी और सुगमता का एक महान् गुण है। इसकी भाषा श्रेण्य (Classical) संस्कृत है और वाक्य नपे-तुले हैं। अलङ्कारों का विन्यास यथोचित और भव्य है। इसमें मौलिकता कम, वर्णन-शक्ति पर्याप्त और स्निग्धमसृणता तो आदि से अन्त तक है। इसकी शैली के उत्तम नमूने का एक पद्य पढ़िए—

आरुह्य शैलशिखरं त्वद्वदनापहृत-कान्ति-सर्वस्वः।
प्रतिकर्तुमिवोर्ध्वकरः स्थितः पुरस्तान्निशानाथः॥

एक अवसर पर यह कहता है:—

विरम विरम वह्नेन! मुञ्च धूमानुबन्धं,
प्रकटयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम्।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः,
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि॥

जीमूतवाहन का वक्ष्यमाण विचार कितना चारु है:—

स्वशरीरमपि परार्थे यः खलु दद्यामयाचितः कृपया।
राज्यस्य कृते स कथं प्राणिवधक्रौर्यमनुमन्ये॥

---

१ जीमूतवाहन की ऐसी ही एक कथा कथासरित्सागर की बारहवीं तरंग में दी गई है।

भाषा और छन्द—श्रेण्य (Classical) संस्कृत के अतिरिक्त श्रीहर्ष ने विविध प्राकृतों का भी प्रयोग किया है। इनमें सबसे अधिक प्रयोग शौरसेनी का हुआ है। पद्यों की प्राकृत महाराष्ट्री है और नागानन्द रूपक में एक चेट मागधी बोलता है।

इसका प्रिय छन्द शार्दूलविक्रीडित है। इसके रूपको में यह ७२ बार आया है। इसके बाद स्रग्धरा का नम्बर आता है।

(८०) मुद्राराक्षस।

विशाखदत्त के मुद्राराक्षस की गणना संस्कृत के अत्यन्त उत्कृष्ट रूपकों में की जाती है। इसमें सात अङ्क हैं, जिनमें मौर्य-काल की एक राजनीतिक घटना का वर्णन है। राक्षस को अपनी ओर मिलाने के चाणक्य-कृत कपटपूर्ण उपायो का, अन्तिम नन्दसम्राट् के सचिव की प्रखरप्रतिभा और सच्ची स्वामिभक्ति का, मलयकेतु को अपने साथ मिलाकर प्रथम मौर्य नरेश्वर को सिंहासनच्युत करने की उक्त सचिव द्वारा की हुई चातुर्याञ्चित योजनाओं का ऊर्जस्वित् वर्णन पढ़ने योग्य है। अन्त में चाणक्य ने मलयकेतु और राक्षस में फूट डलवा ही दी। राक्षस को तिरस्कार सहकर विवश हो मलयकेतु की सेवा से हाथ खींचना पड़ा। अपने मित्र राक्षस के परिवार को गुप्तरूप से शरण देने के अपराध में सेठ चन्दनदास भी विपत्ति में पड़ गया। अन्त में अपने सुहृद् चन्दनदास के त्राणार्थ राक्षस को चाणक्य के लिए आत्मा-समर्पण करना पड़ा। चाणक्य ने राक्षस से कहा यदि तुम चन्दनदास के प्राणो की रक्षा चाहते हो तो तुम्हें चन्द्रगुप्त मौर्य का सचिव-पद स्वीकार करना होगा। इच्छा न होने पर भी राक्षस को चाणक्य की बात माननी पड़ी। यहीं नाटक की सानन्द समाप्ति हो जाती है।

मुद्राराक्षस ऐतिहासिक नाटक है और इसमें अनेक राजनीतिक षड्यन्त्रों का वर्णन है। शृङ्गार और करुण रस का इसमें स्पर्श भी नहीं है। समापक अंक में चन्दनदास की स्त्री के रूप में केवल एक ही स्त्री-पात्र का

अपने शतक में उद्धृत किया है, अतः अनुमान है कि विशाखदत्त भर्तृहरि से पूर्व हुआ होगा—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्न-विहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति।

इस पद्य 'त्वमिव; पुकार कर कह रहा है कि मैं वास्तव में मुद्राराक्षस नाटक का हूँ, भर्तृहरि के शतक का नहीं।

(८१) वेणीसंहार।

वीररस का दूसरा रूपक भट्ट नारायण कृत वेणीसंहार है। इसमें सात अङ्क हैं और महाभारत की एक सुप्रसिद्ध घटना इसका प्रतिपाद्य विषय है। द्रौपदी ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक दुःशासन कृत मेरे अपमान का बदला नहीं चुका लिया जायगा, तब तक मै सिर का जूड़ा नहीं बाँधूँगी। भीम जोश में आगया और कहने लगा यदि युधिष्ठिर ने दुर्योधन से सन्धि की तो मैं इसका साथ छोड़ दूँगा। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों और धार्तराष्ट्रों के बीच सन्धि कराने का बड़ा प्रयत्न किया; परन्तु सन्धि न हो सकी। अन्त में महाभारत का जगत्प्रसिद्ध युद्ध हुआ। उसमें सब धार्तराष्ट्र मारे गए और भीम ने दुःशासन के रुधिर में रँगे हुए अपने हाथों से द्रौपदी का जूड़ा बाँधा।

शैली—भट्ट नारायण का चरित्र-चित्रण परम रमणीय है। मृच्छकटिक के पात्रों के समान इसके पात्रों का व्यक्तित्व भी विस्पष्ट है। परन्तु इसमें वर्णनों के बाहुल्य के और महाभारतीय विवरणों की प्रचुरता के कारण पैदा हुआ गति अर्थात् क्रिया-वेग (Action) का अभाव खटकता है। शृङ्गार का प्रतिपादन निस्सत्त्व हो गया है, शायद केवल इसलिए कि नाटककार ने दासवत् नाट्यशास्त्र के विधि-विधानों का पालन किया है। मुद्राराक्षस के तुल्य इसमें भी प्रस्फूर्ति और सजीवता है। भवभूति की

भाँति भट्ट नारायण भी कभी कभी संस्कृत या प्राकृत गद्य में दीर्घ समासों का प्रयोग करने का तथा अर्थ की प्रतिध्वनि जैसी शब्दध्वनि के द्वारा यथासम्भव प्रभाव पैदा करने का शौकीन है। वेणीसंहार हास्य और करुण रस से शून्य नहीं है। अन्तिम अङ्क भावों की गरिमा और भाव-द्योतना की मधुरिमा के लिए प्रसिद्ध है। इसका निशा-वर्णन इतना हृदयङ्गम है कि इसी के आधार पर कवि निशा-नारायण की उपाधि से अलंकृत किया गया है।

काल—(१) भट्ट नारायण के उद्धरण वामन, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ग्रन्थों में मिलते हैं; अतः यह अवश्य ईसा की आठवीं शताब्दी से पहले हुआ होगा।

(२) लोक-प्रसिद्धि है कि यह बङ्गाल के राजा आदिशूर के (७वीं श० का पूर्वार्ध) निमन्त्रण से कन्नौज से बङ्गाल चला गया था।

(३) धर्मकीर्ति के रूपावतार की एक टीका की हस्तलिखित प्रति में लिखा है कि बाण की प्रार्थना स्वीकार करके भट्ट नारायण किसी बौद्ध महन्त का शिष्य हो गया था तथा रूपावतार को भट्ट नारायण और धर्मकीर्ति ने मिलकर लिखा था।

इस से यही परिणाम निकलता है कि भट्ट नारायण भट्ट बाण का सम-सामयिक था।

(८२) भवभूति।

(१) भवभूति का आसन भारत के मूर्धन्य रूपककारों की श्रेणी में है। इसका असली नाम श्रीकण्ठ था। सूक्ति-संग्रहों में इसके नाम से कई ऐसे भी पद्य मिलते हैं जो इसके उपलभ्यमान रूपकों में नहीं हैं (इससे अनुमान होता है कि इसने इन रूपकों के अतिरिक्त कुछ और भी लिखा होगा)। इसका जन्म विदर्भ देश में वेद के विद्वानों के विख्यात वंश में

हुआ था। यह स्वयं बड़ा प्रकाण्ड पण्डित[1] था। इसकी प्रथम कृति की तत्कालीन कला-कुशलों ने बड़ी कटु समीक्षा की; किन्तु अपनी कला की उत्कृष्टता से अभिज्ञ और आशा से परिपूर्ण भवभूति ने अपनी लेखनी को उठाकर न रक्खा। यह निर्भय होकर लिखता गया। इसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो शारदा देवी इसकी वशंवदा अनुचरी[2] है। इसका विचार था। प्रायः लोग स्त्रियों के सतीत्व और कवि-कृतियों के चमत्कार को सन्देह की दृष्टि से देखा ही करते हैं[3]। आगे चलकर इसने अपने दुरालोचकों को फटकार बताते हुए कहा भी था कि मैं[4] यह प्रयास तुम लोगों के लिए नहीं उठा रहा हूँ; मेरा विश्वास है मेरे जैसा हृदय और मेरी जैसी प्रतिभा रखने वाला कोई पुरुष कभी अवश्य पैदा होगा क्योंकि समय का कोई अन्त नहीं और यह पृथिवी भी बड़ी विस्तृत है।

(२) ग्रन्थ—(क) महावीरचरित। महावीरचरित कदाचित् भवभूति का सबसे पहला सन्दर्भ[5] है। इसमें लेखक के पूर्व पुरुषों का पूरा विवरण

---

१ अपने पहले दो रूपकों में इसने कुछ ऐसे उद्धरण दिए हैं जो (वेद, उपनिषद् ब्राह्मण और सूत्र इत्यादि) वैदिक साहित्य के ही नहीं, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, रामायण—महाभारत, कालिदास के ग्रन्थ इत्यादि का भी स्मरण कराते हैं।

२ य ब्रह्माणमिय देवी वाग्वश्येवानुवर्तते ॥

३ यथा स्त्रीणा तथा वाचा साधुत्वे दुर्जनो जन. ॥

४ ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञा
जानन्ति ते किमपि, तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ (मा० मा० १, ६)

५ भारती जनश्रुति के अनुसार भवभूति ने इस नाटक का केवल पाँचवें अङ्क के छयालीसवें पद्य तक का ही भाग लिखा था; शेष भाग की पूर्ति करने वाला सुब्रह्मण्य कवि कहा जाता है। इस अधूरेपन का कोई कारण निश्चित नहीं किया जा सकता।

है और इसकी रूप-रेखा में मसृणता का अभाव लेखक की अभ्यासावस्था को द्योतित करता है। कथावस्तु का आधार रामायण है, परन्तु इसमे और रामायणी कथा में बहुत ही अधिक भेद है। सारी कथा की भित्ति रावण की कपटवृत्ति की और महावीर (राम) के विनाशार्थ उसके किए हुए दुरुपायों की भूमि म खड़ी की गई है। इसमें मालतीमाधव की सी विषयनूतनता नहीं है, हाँ कथावस्तु की एकता अपेक्षाकृत अधिक है। परन्तु कुछ दृश्य अनाटकीय हो गए हैं और अनेक विवरण-वर्णनों तथा लम्बी वक्तृताओं के कारण क्रिया-वेग (Action) को दुर्बल कर दिया है। चरित्र चित्रण में भी धुँधलापन है। माल्यवन्त और रावण जैसे मुख्य पात्र भी पाठक के मन में अग्रगण्य व्यक्तियों के रूप मे भासित नही होते हैं।

(ख) मालतीमाधव—मालतीमाधव एक प्रकरण है और इसमें दस अङ्क हैं। इसकी कथा का आधार कथासरित्सागर की पृथक् पृथक् कथाएँ हैं। लेखक ने उन्हें लेकर एक सूत्र में गूँथ दिया और एक बिल्कुल नई चीज़ पैदा करके पाठकों के सामने रख दी। इस प्रकरण को लिखने का चाव भवभूति को शायद मृच्छकटिक देखकर पैदा हुआ होगा। किन्तु इसमें मृच्छकटिक जैसा हास्य रस नहीं है; यहाँ तक कि इसमें विदूषक भी नही है। मृच्छकटिक के विरुद्ध इसमें प्रकृति के भयानक, भीषण और अलौकिक अंशो का समावेश बड़े शौक़ से किया गया है।

मालतीमाधव में मालती और माधव के प्रणय-बन्धन का वर्णन है। मालती एक राज-मन्त्री की दुहिता थी और माधव एक तरुण विद्यार्थी था। मालती के पिता के राजा ने मालती का विवाह अपने एक कृपा-पात्र से करने का निश्चय कर रक्खा था, किन्तु मालती उसे नहीं चाहती थी। राजा के सारे उपायों को माधव के सुहृद् मकरन्द ने मालती का रूप बनाकर और उसके साथ विवाह करवा के निष्फल कर दिया। यद्यपि भवभूति की रचना यथार्थ की प्रतिमूर्ति है तथापि पात्रो के राग और शोक का अधिक भाग बनावटी प्रतीत होने लगता है। कथावस्तु मुख्यतया एक आकस्मिक घटना पर अवलम्बित है। मालती

दो बार मौत के मुँह में जाने से अचानक बच जाती है। नौवें अङ्क पर कालिदास के मेघदूत का और विक्रमोर्वशीय के चौथे अङ्क का प्रभाव परिलक्षित होता है। माधव मेघ के द्वारा अपनी प्रणष्टप्रिया को सन्देश भेजना चाहता है। यद्यपि भवभूति में कालिदास की-सी मनोरमता और मादकता नहीं है, तथापि इस अङ्क में यह दुःखपूर्ण करुणरस के वर्णन में कालिदास से बढ़ गया है।

(ग) उत्तररामचरित—उत्तररामचरित निश्चय ही भवभूति की श्रेष्ठ कृति है। जैसा कि इसने स्वयं कहा है—"शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम्" (उ. रा. च. ७, २०) यह इसकी परिपक्व प्रतिभा की प्रसूति है। रामायण के उत्तरकाण्ड में आया है कि एक निराधार लोकापवाद को सुनकर राम ने सीता का परित्याग कर दिया था। इसी प्रसिद्ध कथा के गर्भ से उत्तररामचरित की कथा ने जन्म लिया है, किन्तु दोनों के अङ्ग-संस्थान में बड़ा भेद है। अपनी नाटकीय आवश्यकताओं के अनुसार लेखक ने उल्लिखित कथा में कई हेर-फेर करके इसके कान्त कलेवर को और भी अधिक कमनीय कर दिया है। इसकी उत्पादित कुछ नवीनताएँ ये हैं—(१) चित्र-पट-दर्शन का दृश्य, (२) वासन्ती और राम की बातों को अदृश्य रहकर सुनने वाली सीता, (३) वासन्ती के सामने राम का सीता के प्रति स्नेह स्वीकार करना, (४) लव और चन्द्रकेतु का युद्ध, (५) वसिष्ठ और साधुओं का वाल्मीकि के आश्रम में आना, और (६) राम के उत्तर चरित का उसी के सामने अभिनय।

सात अङ्कों के इस नाटक में भवभूति ने करुण रस के वर्णन को इसकी चरमसीमा तक पहुँचा दिया है[1]। सच पूछो तो इस गुण में संस्कृत

---

१ देखिए,

अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

अथवा,

करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव॥

का कोई नाटककार इससे आगे नहीं बढ़ सका है। भवभूति के करुण विलाप से पाषाण भी रोते थे और वज्र-हृदय भी फटते थे। प्रतीत होता है कवि ने अपने इस गुण से पूर्ण अभिज्ञ होकर ही कहा है—'एकोरसः करुण एव निमित्तभेदात्'.........। इसके बारे में भवभूति और कालिदास में विशाल वैषम्य है। शेक्सपियर के तुल्य कालिदास बात व्यञ्जना से कहता है, किन्तु मिल्टन के समान भवभूति अभिधा से। जब हृदय शोक से अभिभूत हो जाता है तब मुँह से बहुत कम शब्द निकलते हैं। हम शेक्सपियर में देखते हैं कि कार्डेलिया (Cordelia) के शव पर इकट्ठे होने वाले शोक का एक शब्द तक नहीं बोल सकते। उसी प्रकार जब कालिदास के राम ने सीता-विषयक झूठे लोकापवाद को सुना उसका हृदय प्रेम और कर्त्तव्य की चक्की के दो पाटों के बीच में आकर पिसने लगा—यह टुकड़े टुकड़े हो गया, ठीक उसी तरह जिस तरह आग में तपाया हुआ लोहा घन की चोट से हो जाता है—परन्तु न वह मूर्च्छित हुआ और न उसकी आँखों से आँसुओं की नदी बह चली। एक धीर-हृदय राजा की भाँति उसने लक्ष्मण को आज्ञा दी कि सीता को ले जाकर वन में छोड़ आओ। यदि राम अपने मानवीय हृदय की दुर्बलता को प्रकट होने से नहीं रोक सका तो केवल तब जब उसने सीता को वन में छोड़ लौट आए हुए लक्ष्मण के मुँह से सीता का विदा-काल का सन्देश सुना। अब पलकों के अन्दर रुके हुए आँसुओ के कारण उसकी आँखों के आगे अँधेरा-सा आ गया, उसने दोचार शब्द कहे; परन्तु न तो रोया और न उसने हाय-तोबा मचाई। दूसरी ओर, भवभूति आख्यायिका काव्यकारों का अनुकरण करके करुण रस का कोई अवसर तब तक जाने देने को तैयार नहीं जब तक उसके पात्र मूर्च्छित न हो लें और आँसुओं की नदी न बहालें तथा दर्शक सचमुच उसके साथ रोना प्रारम्भ न करदें।

क्या राम ने सीता को निर्वासित करके धर्म का काम किया था? क्या निरपराध और निरुपाय सीता के साथ उसका यह व्यवहार अन्याय और निर्दय नहीं था? यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है। परन्तु राम उस समय

प्रेम और कर्तव्य की 'उभयतो रज्जुपाश' में फँस गया था। क्या उसने अपने पवित्र प्रेम और विशुद्ध उच्च रघुवंश को यूँ लाञ्छित होने दिया होता? क्या वह लोकापवाद के पात्र बने हुए एक व्यक्ति के प्रति नियम-शैथिल्य का उदाहरण इसलिए उत्पन्न करता कि वह उसके पूर्ण सतीत्व का विश्वासी था या वह उसकी रिश्तेदार थी और इस तरह प्रजा को सदाचार के बन्धनों को शिथिल करने की स्वच्छन्दता दे देता? या वह कर्तव्य की वेदि पर प्रेम की बलि देकर प्राणों से भी प्यारी सीता को छोड़ देता? उसे क्या करना चाहिए था? उसे राजा बने अभी थोड़ा ही समय गुज़रा था। 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः'। अन्त में प्रेम और कर्त्तव्य में कर्तव्य बलवान् निकला। राम ने सीता—न स्वजीवन शक्ति ही—निर्वासित करदी। वह सीता के लिए कठोर तो अपने लिए और भी कठोर था। इस वियोग की पीड़ा उसे इतनी ही दुःसह थी जितनी सीता को। राम का जीवन सीता के जीवन से भी क्लेशापन्न हो गया। सीता की बलि चढ़ गई, राम के अपने जगदाह्लाद की बलि चढ़ गई, परन्तु 'राम-राज्य' एक लोकोक्ति बन गई। आज लोग 'राम-राज्य' की कामना करते हैं। क्या कभी किसी और राजा ने भी अपनी प्रजा के लिए इतना महान् आत्म-त्याग किया है?

उत्तर रामचरित में कवि को वस्तुतः अपने अन्य रूपकों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। एक तरह से चरित्र-चित्रण बहुत ही बढ़िया है। परन्तु इस नाटक में क्रिया-वेग (Action) की मन्दता खटकती है। इसीलिए आधुनिक आलोचना की तुला पर तोलने के बाद इसे वास्तविक नाटक होने की अपेक्षा 'नाटकीय काव्य' अधिक समझा गया है। इस रूपक की एक और विशेषता यह है कि इसके समापक अङ्क के अन्दर एक और रूपक है। इस अङ्क में भवभूति कालिदास से भी आगे बढ़ गया है। सीता-राम के पुनर्मिलन में जो चमत्कार और गम्भीर रस है वह शकुन्तला—दुष्यन्त के वन-खण्ड प्रणय में नहीं है।

(२) शैली—(क) भवभूति भावप्रवण कवि है[1]। इसलिए यदि कालिदास की तुलना शेक्सपियर के साथ तो इसकी तुलना मिल्टन के साथ की जाती है। यही उचित भी है। यदि इसमें कालिदास का-सा माधुर्य, गौरव और व्यञ्जकत्व नहीं है तो यह किसी घटना या भाव (Emotion) को थोड़े ही शब्दों में हृदयङ्गम रूप से चित्रित करने में कालिदास से अधिक सिद्धहस्त है। उदाहरणार्थ, बूढ़ा कञ्चुकी अपनी आदत के अनुसार राम को 'रामभद्र' कह कर सम्बोधन करने लगता है, परन्तु तत्क्षण सम्भल कर कहता है 'महाराज'।

(ख) प्रकृति में जो कुछ भी भीषण, घटाटोप और अलौकिक है वह संस्कृत के सब कवियों की अपेक्षा भवभूति को ज़्यादा प्रिय है। अभ्रंकष पर्वतों, निबिड काननों, झरझर झरते हुए झरनों और दुष्प्रवेश अपत्यकाओं के इसके वर्णन वस्तुतः आँखों के सामने एक चित्र खड़ा कर देते हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसने प्रकृति के मृदुल और कल्पनास्पर्शी रूप के दर्शनों का कभी आनन्द नहीं उठाया। इसका उदाहरण देखना हो तो देखिए इसने मालतीमाधव के आठवें अङ्क के अवसान पर निशीथ का कैसा नयनाभिराम चित्र खींचा है।

(ग) भवभूति अपने रूपकों में नाना रसों का गम्भीर सम्मिश्रण करने में बड़ा कृतहस्त है (भूम्ना रसाना गहनाः प्रयोगाः)। सो महावीर-

---

१ सूक्तिग्रन्थों में भवभूति की प्रशसा में पाए जाने वाले पद्यों में से कुछ उदाहरण देखिए—

भव्या यदि विभूति त्व तात कामयसे तदा।
भवभूतिपदे चित्तमविलम्ब निवेशय॥
सुकवि-द्वितय मन्ये निखिलेऽपि महीतले।
भवभूतिः शुकश्चाय वाल्मीकिस्तु तृतीयक.॥
भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाती।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

चरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित में मुख्य रस यथाक्रम वीर, शृङ्गार, और करुणा हैं। एक एक नाटक तक में कई कई रसों का समावेश पाया जाता है। उदाहरणार्थ मालतीमाधव के तीसरे और सातवें अङ्क में वीर, तीसरे में रौद्र, पाँचवें में बीभत्स और भयानक, नौवें में करुणा और नौवें तथा दसवें में अद्भुत रस है।

(घ) महावीरचरित और मालतीमाधव दोनों की ही शैली में कचा- पकापन मिला हुआ देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि महाकवि अभी प्रौढ़ि के मार्ग में था। इसके कुछ पद्य परमप्रसाद गुण पूर्ण हैं और लय, भाव या रस के सर्वथा अनुरूप हैं। उत्तररामचरित की शैली उदात्त और उत्कृष्ट है। उस में प्राण है तथा कान्ति है और लावण्य है। उसे हम उत्तररामचरित में कहे हुए कवि के अपने शब्दों में कह सकते हैं—'धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्'।

(ङ) इसकी शैली की एक और बड़ी विशेषता इसकी विचार-द्योतन की पूर्ण योग्यता है[1]। यह योग्यता तीनों रूपकों में समान रूप से देखने में आती है।

(च) कालिदास के विपरीत यह गौडीवृत्ति का आदर्श लेखक है। 'ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्' इस वचन के अनुसार गौडी- वृत्ति में गद्यावस्था में लम्बे लम्बे समास होते हैं। कभी कभी अर्थ की अपेक्षा शब्द की अधिक चिन्ता करता हुआ यह जानकर अप्रसिद्ध पदों और जटिलान्वयी वाक्यों का प्रयोग करता है।

(छ) इसकी वचन-रचना में वास्तविक प्रौढता और उदारता है।

(ज) इसकी सरल और स्वाभाविक रचनाएँ बहुत ही प्रभावशालिनी हैं। एक उदाहरण देखिए। मालती की बातों को छुपकर सुनता हुआ माधव अपने वयस्य मकरन्द से कहता है:—

---

१ इस गुण की दुर्लभता के बारे में भारवि का निम्नलिखित पद्य प्रसिद्ध ही है-

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानी।
आनन्दनानि हृदयैकरसायनानि
दिष्ट्या मयाप्यधिगतानि वचोमृतानि॥ (मा. मा. ४, ८)

इस पद्य के अन्त्यानुप्रास में, जो जान-बूझकर लाया गया है, कितना प्रभाव है।

वासन्ती ने राम को जो हृदयविदारक उपालम्भ दिया वह भी इसी साँचे में ढालकर लिखा गया है:—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं……।

(झ) व्याकरण के अप्रचलित रूपों और कोश-संग्रह-सूचक नाना शब्दों के प्रयोग का यह बड़ा रसिक है।

(ञ) इसके रूपकों के—विशेषतः उत्तररामचरित के—पात्रों में वैयक्तिक वास्तविकता देखने में आती है। उदाहरणार्थ राम और सीता के मर्मस्पर्शी शोक-प्रकाशक शब्द देखिए—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगात्॥

(ट) इसकी प्रेम-भावना का स्वरूप अपेक्षाकृत ऊँची श्रेणी का है और संस्कृत साहित्य में उपलभ्यमान साधारण प्रेम-भावना के स्वरूप से निस्सन्देह कहीं अधिक उदात्त है। उदाहरणार्थ देखिए—अद्वैतं सुखदुःखयोः…

(ठ) भवभूति आत्म-स्वरूप से परिचित था और इसे अपनी कृति पर गर्व था। इसका प्रमाण इसके अपने वचनों से मिला है—

अहो सरसरमणीयता संविधानस्य (मा. मा. ६, १६, २) और, अस्ति वा कुतश्चिदेवं भूतं विचित्ररमणीयोज्ज्वलं महाप्रकरणम् (मा. मा. १०, २३, १८)।

(ड) यह शिखरिणीछन्द के निपुण-निर्माण में खूब अभ्यस्त है। दूसरे छन्द जिनका अधिक बार प्रयोग हुआ है शार्दूलविक्रीडित और वसन्ततिलका हैं।

काल—सौभाग्य से भवभूति का समय प्रायः निश्चित-सा ही है। बाण ने अपने हर्षचरित की भूमिका में इनका नाम नहीं लिया, परन्तु वामन ने (८वीं श०) इसकी रचना में से उद्धरण दिए हैं और राजशेखर (९०० ई० के लगभग) तो अपने आपको भवभूति का अवतार ही कहता है[1]। कल्हण ने[2] लिखा है कि भवभूति और वाक्पतिराज कन्नौज-राज यशोवर्मा के आश्रय में रहा करते थे। यशोवर्मा को काश्मीर के शासक ललितादित्य ने परास्त किया था और कहा जाता है कि ललितादित्य ने ७३६ ई० में चीन के राजा के यहाँ अपना राज-दूत भेजा। वाक्पतिराज ने अपने ग्रन्थ गउडवह में भवभूति की प्रशंसा की है इसके लिए 'आज भी'[3] का प्रयोग किया है। यह 'आज भी' बताता है कि भवभूति वाक्पतिराज से पहले हुआ था और वाक्पतिराज के काल में इसका यश खूब फैल चुका था। इस हिसाब से हम भवभूति का समय ७०० ई० के आसपास मान सकते हैं।

(८३) राजशेखर

राजशेखर का जन्म एक कवि-वंश[4] में हुआ था। इसकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी एक क्षत्रिय राजकन्या थी जो काव्य-कला में बड़ी कुशल थी। अधिक सम्भवतः यह विदर्भ और कुन्तल देश का निवासी था।

---

१ देखिए—

बभूव वल्मीकभव॰ पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थित. पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखर.॥ (बा. रा १, १६)

२ कविर्वाक्पतिराजः श्रीभवभूत्यादि सेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥ (४, १४४)

३ भवभूइजलहि निग्गयकव्वामयरसकणा इव स्फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहाणिवेसेसु॥ (गउडवह ७९९)

४ यह एक ऊँचे दर्जे के पुरोहित का पुत्र और अकालजलद नामक एक महाकवि का प्रपौत्र था।

(१) नृपराजशेखर ?—माधवाचार्यरचित शङ्करदिग्विजय में वर्णित है कि राजशेखर केरलदेश का राजा था और उसने शङ्कराचार्य को अपने बनाए तीन नाटक भेंट किए थे। राजशेखर का एक शिलालेख भी मिलता है जिससे लिपितत्त्ववेत्ता[1] ईसा की नौवीं या दसवीं शताब्दी का बतलाते हैं। किन्तु कवि राजशेखर और नृप राजशेखर को एक ही व्यक्ति मानने के लिए कोई प्रमाण दिखाई नहीं देता है। कवि राजशेखर एक उच्चश्रेणी के पुरोहित का पुत्र था, इससे यही अनुमान होता है कि शायद यह कोई राजा नहीं था। अधिक सम्भवतः कवि राजशेखर नृप राजशेखर का समान-नामक होने से लोगों की भ्रान्ति का कारण हुआ।

(२) राजशेखर के ग्रन्थ—अपनी बालरामायण की प्रस्तावना में यह स्वयं कहता है कि मैंने छः ग्रन्थ लिखे हैं। निम्नलिखित चार नाटकों को छोड़ कर शायद इसके बाकी दो ग्रन्थ हैं रत्नमञ्जरी (एक नाटिका) और अष्टपत्रदलकमल (जिसका साक्ष्य भोज देता है)।

(क) बालरामायण—यह दस अंकों का महानाटक है। प्रस्तावना में कवि के कुछ असम्भव गुणों का भी उल्लेख है। इस नाटक की विशेषता यह है कि इसमें रावण का प्रणय प्रधान वस्तु दिखलाई गई है। शुरु से ही सीता को प्राप्त करने के लिए रावण राम का प्रतिद्वन्द्वी दिखलाया गया है।

(ख) बालभारत या प्रचण्ड-पाण्डव—यह रूपक अपूर्ण है। केवल दो अङ्क प्राप्य हैं जिनमें द्रौपदी के विवाह, द्यूत-दृश्य तथा पाण्डवों के वन-गमन तक का वर्णन है।

(ग) विद्धशालभञ्जिका—यह नियमानुसृत नाटिका है। इसमें चार अङ्क हैं। इसका नायक लाट-भूपति चन्द्रवर्मा है। कथावस्तु न अधिक रोचक है न अधिक महत्त्वपूर्ण।

(घ) कर्पूरमञ्जरी—यह भी एक नाटिका ही है और इसमें अङ्क भी चार ही हैं। इसमें प्रणय-पथ की समता-विषमताओं का तथा नृप चन्द्रपाल

---

१ देखिए, ट्रावनकोर आर्कियालोजिकल सिरीज २, ८–१३।

का कुन्तल की राजकुमारी के साथ विवाह हो जाने का वर्णन है । य नाटिका अवन्तिसुन्दरी की प्रार्थना से लिखी गई थी । इसकी भाषा आ से अन्त तक प्राकृत है । राजशेखर को गर्व है कि सकल-भाषा-प्रवीण प्राकृत को, जो ललनाओं की भाषा है, सुन्दर शैली से युक्त साहित्यिक रच के लिए प्रयोग में ला सकता हूँ ।

(३) नाटकीय कला[1]—राजशेखर के ग्रन्थों का विशेष लक्षण यह है इसने वस्तु वर्णन में बड़ा परिश्रम किया है । मौलिक कथानक लिखने निपुण चरित्र-चित्रण करने में इसने कष्ट नहीं उठाया । इसका सारा ध्या विचारों को प्रभावोत्पादक रीति से अभिव्यक्त करने की तथा समानश्रुति ध्वनियों का प्रचुर प्रयोग करने की ओर देखा जाता है । डा. ए. बी. की की सम्मति है कि यदि काव्य का लक्षण केवल एक-सी ध्वनियाँ ही हैं राजशेखर उच्चतमश्रेणी का एक कवि माना जाएगा । यह संस्कृत औ प्राकृत के छन्दों का प्रयोग करने मे बड़ा कृतहस्त है । इसने अकेली प्राकृ में ही कम से कम सतरह प्रकार के छन्द लिखे हैं । इसकी भाषा सुग और रोचक है तथा छन्द विच्छित्तिशाली और आकर्षक हैं । बोल चाल के विशेषतः महाराष्ट्री भाषा से शब्द बेरोक-टोक लिए गए हैं । इसकी शैल का एक और विशेष रूप यह है कि गीतगोविन्द या मोहमुद्गर के समा कभी कभी इसमें अन्त्यानुप्रास का भी प्रयोग पाया जाता है ।

(४) समय—सौभाग्य से राजशेखर का समय निश्चयापूर्वक बतला जा सकता है । यह अपने आपको भवभूति का अवतार कहता है[2] । इस

---

१ राजशेखर की स्तुति का वक्ष्यमाण पद्य सुभाषित सग्रहों में पाया जाता है

पातुं श्रोत्ररसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मतां,
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः ।
भोक्तुं स्वादु फलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं,
तद् भ्रातः शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः ॥

२ खण्ड ८२ के चौथे अङ्क पर पहली टिप्पणी देखिए ।

आलङ्कारिक उद्भट (८वीं श०) और आनन्दवर्धन (९वीं श०) का भी उद्धरण दिया है। दूसरी ओर इसका उल्लेख यशस्तिलक चम्पू (९६० ई० में समाप्त) के रचयिता सोमदेव ने और धारा के महाराज मुञ्ज (९७४-९९३ ई०) के आश्रित धनञ्जय ने किया है। अपने चारों रूपकों में इसने अपने आपको कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल का आध्यात्मिक गुरु लिखा है। इस राजा के शिलालेख ९०३ और ९०७ ई० के मिले हैं[1]। इन सब बातों पर विचार करके राजशेखर को ९०० ई० के आस-पास मानने में कोई हानि मालूम नहीं होती है।

(८४) दिङ्नाग की कुन्दमाला।

(१) छः अङ्कों वाली कुन्दमाला का प्रथम प्रकाशन, दक्षिण भारत में कुछ ही समय पूर्व प्राप्त हुई चार हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर, सन् १९२३ ई० में दक्षिण भारती ग्रन्थमाला में हुआ। इसने विद्वानों का ध्यान शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और तब से यह कई टीकाओं तथा अनुवादों के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

लेखक का नाम कहीं दिङ्नाग मिलता है तो कहीं धीरनाग। प्रस्तावना केवल मैसूरवाली ही प्रति में मिलती है। इसमें कहा गया है कि कुन्दमाला अरारालपुर निवासी कवि दिङ्नाग की कृति है[2]। दूसरी ओर, तंजोर वाली प्रति के अन्त में लेपक (Scribe) ने लिखा है कि यह अनूपराध के निवासी धीरनाग की कृति है। संस्कृत साहित्य में धीरनाग की अपेक्षा निस्सन्देह दिङ्नाग नाम ही अधिक प्रसिद्ध है। फिर पुस्तक के अन्त में कही हुई लेपक (Copyist) की बात की अपेक्षा प्रस्तावना में कही हुई स्वयं ग्रन्थकार की बात ही अधिक विश्वसनीय है, इसीलिए आधुनिक विपश्चित् धीरनाग की अपेक्षा दिङ्नाग पाठ ही युक्ततर समझते हैं।

---

१ कीलहार्नः—ऐपिग्रैफिया इण्डीका १, १७१। २ देखिए, तत्रभवतोऽरारालपुरवास्तव्यस्य कवेर्दिङ्नागस्य कृतिः कुन्दमाला ''

(२) भवभूति के उत्तररामचरित के समान कुन्दमाला का कथानक रामायण के उत्तरकाण्ड से लिया गया है और इसमें सीता के बन में निर्वासन की, राम को उसका पता लगने की और दोनों के पुनर्मिलन की कहानी दी गई है। वाल्मीकि के आश्रम में गोमती नदी में बहती हुई कुन्द-पुष्पों की माला देखकर राम ने सीता का पता लगा लिया था, इसीलिए नाटक का नाम कुन्दमाला रक्खा गया।

(३) शैली और नाटकीय कला—कविदृष्ट शक्ति की दृष्टि से दिङ्नाग भवभूति से घट कर है, परन्तु नाटककार के रूप में इसे भवभूति से अधिक सफलता मिली है। इस नाटक में सजीवता और क्रिया-वेग दोनों हैं तथा चरित्र-चित्रण भी अधिक विशद और चित्रवत् मनोहर है। इसने भवभूति की कई त्रुटियों का भी परिष्कार कर दिया है। उदाहरणार्थ, न तो यह लम्बी लम्बी वक्तृताओं को पसन्द करता है और न श्रमोत्पादित वर्णन (जो नाटक की अपेक्षा काव्य के अधिक उपयुक्त हैं), तथा न इसने दीर्घ समास और न दुर्बोध पद ही प्रयुक्त किए हैं। उत्तररामचरित में करुण के साथ वीर रस का संयोग देखा जाता है; किन्तु इस सारे नाटक में अन्य रसों के मिश्रण से रहित शुद्ध करुण रस की ही प्रधानता है। भाषा सुगम और हृदय ग्राहिणी तथा सवाद कौतूहलवर्धक और नाटक गुणशाली हैं। यदि उत्तररामचरित नाटकीय काव्य है तो कुन्दमाला सच्चा नाटक—अभिनय के नितान्त उपयुक्त। दिङ्नाग के पात्र वैसे कल्पनाप्रसूत नहीं हैं जैसे कालिदास के हैं, ये वस्तुतः भवभूति के पात्रों से भी अधिक पार्थिव हैं। इसे यद्यपि अनुप्रास और यमक अलङ्कार बड़े प्रिय हैं, तथापि इसने विशद-अर्थ व्यय करके कभी इनका प्रयोग नहीं किया है। इसकी शैली की एक और विशेषता यह है कि यह कभी कभी लय-पूर्ण गद्य व्यवहार में लाता है।

(४) समय—कुन्दमाला की कथा बिल्कुल वही है जो उत्तररामचरित की है। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से विस्पष्ट हो जाता है कि कुन्दमाला लिखते समय इसके लेखक के सामने उत्तररामचरित रक्खा हुआ था। कई बातों में कुन्दमाला उत्तररामचरित का ही बहुत कुछ विस्तृत रूप है।

भवभूति के नाटक में तो राम को सीता की पहचान केवल स्पर्श से ही होती है, परन्तु इसमें स्पर्श के अतिरिक्त पहचान के और भी पाँच साधन हैं, वे हैं.—सीता शरीरस्पर्शी वायु, कुन्द-माला, सीता का जलगत प्रतिबिम्ब, पदचिह्न, और दुकूल। उत्तररामचरित में राम और सीता का मिलन केवल एक बार होता है, परन्तु कुन्दमाला में दो बार। ऐसे और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, कुन्दमाला में कई ऐसे प्रसङ्ग भी हैं जो उत्तररामचरित को देखे बिना असमाधेय ही रहते हैं। उदाहरणार्थ, यह जान कर कि राम मेरे प्रति निरनुक्रोश हैं, सीता गर्व का अनुभव करती है (देखिए, निरनुक्रोश इत्यभिमनः, अङ्क ३, पद्य १२ के पूर्व)। कुन्दमाला में ढूँढने से ऐसा कोई भी अवसर नहीं मिलता जिससे सीता के इस अभिमान करने का कारण ज्ञात हो सके। परन्तु उत्तररामचरित में जब हम राम को वक्ष्यमाण पद्य बोलता हुआ सुनते हैं तब सब ब'त विस्पष्ट हो जाती है:—

स्नेहं दया च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ (उ. रा. च. १,१२)

इसके अतिरिक्त, हम देखते हैं कि राजशेखर कुन्दमाला के बारे में कुछ नहीं कहता है। इस नाटक में से उद्धरण देने वाला सबसे पहला पुरुष भोजदेव (लगभग १०१८-१०६० ई०) है। महानाटक (११वीं से १३वीं श०) शारदातनयकृत भावप्रकाश (लगभग १२वीं श०) और साहित्यदर्पण (१४वीं श०) में भी इसके उल्लेख या उद्धरण पाए जाते हैं। अतः हम कुन्दमाला का निर्माण-काल ईसा की १०वीं शताब्दी के आस-पास मान सकते हैं।

(८५) मुरारि।

(१) मुरारि के श्रमोत्पादित अनर्घराघव में सात अङ्क हैं जिनमें रामायण की कहानी दी गई है। कथावस्तु के निर्माण की दृष्टि से यह अधिकतर भवभूति के महावीर-चरित से मिलता जुलता है।

(२) शैली और नाटकीय कला—मुरारि की गणना संस्कृत के महाकवियों में की जाती है। कभी कभी यह महाकवि तथा बाल-वाल्मीकि की उपाधि से भूविषित किया जाता है। गम्भीरता की दृष्टि से इसकी बड़ी प्रशंसा सुनी जाती है। उदाहरण के लिए उसकी स्तुति में एक पद्य देखिए—

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं,
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।
अब्धिर्लङ्घित एव पानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

विचार-द्योतन की इसकी शक्ति वस्तुतः असाधारण और भाषा एवं व्याकरण पर इसका प्रभुत्व प्रशंसनीय है। इससे अत्युक्तियों का बड़ा शौक़ है। इसकी किसी सुन्दरी की मुखच्छवि की बराबरी चन्द्रमा भी नहीं कर सकता, इसीलिए चन्द्रमा की छवि की न्यूनता को पूर्ण करने के लिए रात्रि में नक्षत्रमण्डल चमकता हैं[1]। इसका वचनोपन्यास अक्लिष्ट परन्तु पाण्डित्य-पूर्ण है। कभी कभी जब यह अपनी पण्डिताई दिखलाने लगता है तब किसी टीका की सहायता के बिना इसे समझना कठिन हो जाता है। इसकी उपमाओं में कुछ कुछ मौलिकता और पद्योक्तियों में सङ्गीत जैसी लयश्रुति है। इसके कुछ श्लोक वास्तव में शानदार और जादू का-सा असर रखने वाले हैं। खेद है कि कुछ पाश्चात्य विद्वान् इसके ग्रन्थ के जौहर की महत्ता को नहीं जान सके हैं। विलसन का मत है कि हिन्दू पण्डितों ने मुरारि का अन्यायपूर्ण पक्षपात किया है; कारण, "आजकल के हिन्दू विचार की विशुद्धता, अनुभूति की कोमलता और कल्पना की आभा का अन्दाज़ा लगाने की बहुत कम योग्यता रखते हैं"। परन्तु अनर्घराघव का सर्वाङ्गपूर्ण-अध्येता जानता है कि इन्हीं गुणों के कारण की जाने वाली मुरारि की प्रशंसा सर्वथा यथार्थ है।

---

१ अनेन रम्भोरु ! भवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलया धृतस्य।
ऊनस्य नून प्रतिपूरणाय तारा. स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः॥

(१) समय—(क) मुरारि ने भवभूति के दो पद्य उद्धृत किए हैं, अतः यह निश्चय ही भवभूति के बाद हुआ।

(ख) काश्मीर के अवन्तिवर्मा के (८५५-८८४ ई०) आश्रय में रहने वाले रत्नाकर ने अपने हरविजय महाकाव्य में श्लेष के द्वारा मुरारि की ओर जो संकेत किया है वह नीचे के पद्य में देखिए—

अंकोत्थनाटक इवोत्तमनायकस्य,
नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्। (३७, १६७)

(ग) मङ्ख के (११३५ ई०) श्रीकण्ठचरित से प्रतीत होता है कि वह मुरारि को राजशेखर से पहले उत्पन्न हुआ समझता था। अतः मुरारि का स्फुरण-काल मोटे रूप में ईसा की नौवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माना जा सकता है।

(८६) कृष्णमिश्र।

कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय एक महत्त्वपूर्ण अप्रस्तुत प्रशंसात्मक (Allegorical) रूपक है। इसकी रचना किसी मन्दमति शिष्य को अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त समझाने के लिए की गई थी। इस रूपक में बड़ी सुगम और विशद रीति से अद्वैत वेदान्त की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया है। भाव-वाचक संज्ञाओं को व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ मानकर पात्रों की कल्पना की गई है।

कपूयचरित 'महामोह' काशी का राजा है। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और अहङ्कार उसके सचिव हैं। इसके विपक्षी हैं—पुण्यचरित नृप विवेक, जिनके सहायक हैं सन्तोष, प्रबोधोदय, श्रद्धा, शान्ति और क्षमा इत्यादि सब सद्गुण। महामोह इन सबको इनके घर से मार भगाता है। तब एक आकाशवाणी होती है कि एक दिन विवेक ईश्वरीयज्ञान के क्षेत्र में लौटकर आ जाएगा और यथार्थज्ञान की प्राप्ति महामोह के राज्य का नाश कर देगी। अन्त में विवेक पक्ष की गौरवशाली विजय और महामोह की पूर्ण पराजय होती है।

समय:—इस रूपक की प्रस्तावना में प्रसङ्गवश नृप कीर्तिवर्मा से प्राप्त राजा कर्णदेव की पराजय का उल्लेख आ गया है। कहा जाता है कि राजा कीर्तिवर्मा ने १०४९ से ११०० ई० तक राज्य किया था और १०६५ ई० के आसपास राजा कर्णदेव को हराया था। अतः कृष्णमिश्र का समय निस्सन्देह ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानना चाहिए।

(८७) रूपककला का ह्रास।

मुरारि और राजशेखर के थोड़े ही दिन पीछे रूपककला का ह्रास प्रारम्भ हो गया। इस समय संस्कृत साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी अवनति के निश्चित लक्षण दिखाई देने लगे थे—श्रेण्य (Classical) संस्कृत की प्रगति का काल ११०० ई० के आसपास समाप्त हो जाता है—परन्तु रूपक के क्षेत्र में तो प्रगति का बाध और भी अधिक विस्पष्ट है। इस समय संस्कृत और भाषित भाषाओं के बीच भेद की खाडी धीरे धीरे बहुत चौड़ी हो चुकी थी। रूपकों की प्राकृत भाषाएँ तक पुरानी होती गई और उनका स्थान पहले अपभ्रंशों ने और बाद में बोलचाल की भाषाओं ने ले लिया। राजशेखर ने बेधड़क बोलचाल की भाषाओं से, विशेषतः महाराष्ट्री से, शब्द ले लिए थे। बाद के कृतिकारों की कृतियों में थोड़ा थोड़ा अन्त्यानुप्रास का प्रयोग भी बोलचाल की भाषाओं के प्रभाव के कारण ही हुआ है। शनैः शनैः बोलचाल की भाषाओं ने ही साहित्यिक भाषाओं का रूप धारण कर लिया और संस्कृत या साहित्यिक प्राकृत में लिखे हुए रूपको का प्रचार घटने लगा। कीर्ति के लिए लिखने वाले कवियो ने काव्य या साहित्य के किसी अन्य अङ्ग का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया; कारण, संस्कृत के नाटक न तो साधारण जनता के ही अनुराग की वस्तु रह गए थे और न उनके लेखकों को धन से पुरस्कृत करने वाले बहुत राजा या जागीरदार ही थे। अतः संस्कृत-नाटक लिखकर कीर्ति प्राप्त करने की आशा व्यर्थ थी। हाँ, स्वान्तःसुखाय संस्कृत-नाटक लिखने की प्रथा वर्तमान शताब्दी तक चली आई।

परिशिष्ट

(१) पाश्चात्य जगत् में संस्कृत का प्रचार कैसे हुआ ?

(१) यद्यपि पञ्चतन्त्र की कथाएँ तथा आर्यों की विद्वत्ता के विषय में प्रसिद्ध कहानियाँ यूरोप में 'मध्यकाल'[१] में ही पहुँच चुकी थीं, तथापि इसे आर्यों की भाषा या संस्कृत के विशाल साहित्य का कुछ पता नहीं था। कुछ यूरोपियन प्रचारकों ने संस्कृत सीखी और अब्राहम रोजर (Abiaham Rogei) ने १६५१ ई० में भर्तृहरि के शतकों का डच भाषा में अनुवाद किया, परन्तु यूरोपियन लोग संस्कृत से अब भी पूर्ण अपरिचित रहे। किसी यहूदी प्रचारक ने १७वीं शताब्दी में यजुर्वेद की एक बनावटी प्रति तैयार की। १८वीं शताब्दी के मध्य में मिस्टर वाल्टेयर ने इसे ही असली यजुर्वेद समझ कर इसका बड़ा स्वागत किया। जब इस जालसाज़ी का पता लगा तब यूरोपियन विद्वान् लोग समझने लगे कि संस्कृत साहित्य ही नही संस्कृत भाषा भी केवल एक बनावटी भाषा है जिसे सिकन्दर के आक्रमण के बाद ग्रीक भाषा की नक़ल पर ब्राह्मणों ने घड़ लिया था। इस धारणा का समर्थन १९वीं शताब्दी की चौथी दशाब्दी में डब्लिन के एक प्रोफ़ैसर ने बड़ी योग्यता के साथ किया था।

(२) संस्कृत साहित्य के महत्त्व को अनुभव करने वाला और भारतीयों के ऊपर उनके ही रीति-रिवाजो के अनुसार शासन करने की

---

१ १००० से १४०० ई० तक, या अधिक विस्तृत अर्थ में ६०० से १५०० तक।

आवश्यकता को समझने वाला पहला अँग्रेज़ वारन हेस्टिंग्ज़ था। अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए उसने प्रयत्न भी किया जिसका परिणाम यह हुआ कि १७७६ ई० में फारसी-अनुवाद के माध्यम द्वारा संस्कृत की क़ानूनी किताबों का एक सार-संग्रह अँग्रेज़ी भाषा में तैयार किया गया।

(३) वारन हेस्टिंग्ज़ की प्रेरणा से चार्लस विल्किंस ने संस्कृत पढ़कर १७८५ ई० में भगवद्गीता का और १७८७ ई० में हितोपदेश का इंग्लिश अनुवाद किया।

(४) विल्किंस के अनन्तर संस्कृत के अध्ययन में भारी अभिरुचि दिखाने वाला सर विलियम जोन्स (१७४६–९४ ई०) था। इसने १७८४ ई० में एशियाटिक सोसायटि आव् बंगाल की बुनियाद डाली, १७८९ ई० में शकुन्तला नाटक का और थोड़े ही दिन बाद मनुस्मृति का इंग्लिश अनुवाद प्रकाशित किया। १७९२ ई० में इसने ऋतुसंहार का मूल संस्कृत पाठ प्रकाशित किया।

(५) इसके अनन्तर संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान् हेनरी टॉमस कोल्ब्रुक (१७६५–१८३७ ई०) हुआ। इसी ने सब से पहले संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य के अध्ययन में वैज्ञानि पद्धति का प्रयोग प्रारम्भक किया। इसने कतिपय महत्त्वशाली ग्रन्थों का मूलपाठ और अनुवाद प्रकाशित किया तथा संस्कृत साहित्य के विविध विषयों पर कुछ निबन्ध भी लिखे। बाद के विद्वानों के लिए इसकी प्रस्तुत की हुई सामग्री बड़ी उपकारिणी सिद्ध हुई।

(६) यूरोप में संस्कृत के प्रवेश की कहानी बड़ी कौतूहलजनक है। अलैग्ज़ाडर हैमिल्टन ने (१७६५–१८२४ ई०) भारत में संस्कृत पढ़ी। सन् १८०२ ई० में जब वह अपने घर जाता हुआ फ्राँस में से गुज़र रहा था इंग्लैण्ड और फ्राँस में फिर नए सिरे से लड़ाई छिड़ गई और वह बन्दी बना लिया गया। इस प्रकार बन्दी की दशा में पेरिस में रहते हुए उसने

कुछ फ्रेञ्च विद्येप्सुओं को तथा प्रसिद्ध जर्मन कवि फ्रेडरिक श्लेगल (Friedrich Schlegel) को संस्कृत पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। यह कार्य एक युग-प्रवर्तक सिद्ध हुआ। १८०८ ई० में श्लेगल ने "ऑन् दि लैंग्वेज ऐंड विज़डम ऑव् इण्डियन्ज़" (भारतीयों की भाषा और विद्वत्ता) नामक अपना एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया जिससे यूरोप में संस्कृत-विद्या के अध्ययन में एक क्रान्ति पैदा हो गई। इसी से धीरे-धीरे भाषा की विद्या के अध्ययन मे तुलनात्मक रीति का प्रवेश हो गया। श्लेगल के ग्रन्थ से उत्साहित होकर जर्मन जिज्ञासुओं ने संस्कृत भाषा और इसके साहित्य के अध्ययन में बड़ी अभिरुचि दिखलानी शुरू कर दी। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि यूरोप में संस्कृत सम्बन्धी जितना कार्य हुआ है उसका अधिक हेतु जर्मनों की विद्या-प्रियता है।

(७) १८१६ ई० में ऐफ़ बॉप (F Bopp) ने ग्रीक, लैटिन, जर्मन और फ़ारसी सन्धिप्रकरण के साथ तुलना करते हुए संस्कृत के सन्धिप्रकरण पर एक पुस्तक लिखी। इससे वहाँ तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव पड़ गई।

(८) अब तक यूरोपियनों का सस्कृताध्ययन श्रेण्य (Classical) संस्कृत तक ही सीमित था। १८०५ ई० में कोल्ब्रुक का 'वेद' नामक निबन्ध प्रकाशित हो चुका था, अब जर्मन अधिक गम्भीरता से वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करने में लग गए। ईस्ट इण्डिया हाऊस में वैदिक ग्रन्थ पर्याप्त संख्या मे विद्यमान थे ही, बस ऐफ. रोज़न (F Rosen) नामक विद्वान् ने १८२० ई० के लगभग उन पर काम करना प्रारम्भ कर दिया। उसकी अकाल मृत्यु के थोड़े ही समय पश्चात् १८३८ ई० में उसका सम्पादित ऋग्वेद का प्रथम अष्टक प्रकाशित किया गया।

(९) १८४६ ई० मे प्रकाशित आर. रॉथ (R Roth) के "वैदिक साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ ने यूरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन को तेज करने में और अधिक सहायता प्रदान की। आर. रॉथ

(१८२१–६५) स्वयं वैदिक भाषा-विज्ञान (Philology) की नींव डालने वाला था। उसका उदाहरण अन्य अनेक सरस्वतीसेवियों के मन में उत्साह की उमंगें पैदा करने वाला सिद्ध हुआ। वीऐना (Vienna) के प्रो० बूह्लर (Buhler) ने नाना देशों के लगभग तीस विद्या-विशारदों की सहायता के बल पर समग्र वैदिक और श्रेण्य संस्कृत-साहित्य का एक विशाल विश्वकोष प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया। १८९८ ई० में उसका परलोक-वास हो जाने पर गोटिंजन (Gottingen) के प्रोफेसर कीलहार्न (Kielhorn) ने इस परम बृहदाकार ग्रन्थ को पूर्ण करने का निश्चय किया।

(१०) ए कुह्न (A Kuhn) और मैक्समूलर (Max Muller) ने बड़े उत्साह और श्रम के साथ अपने अध्ययन का विषय वैदिक धर्म को बनाया। उनके अनुसन्धानों से तुलनात्मक पुराण-विद्या (Mythology) के अनुशीलन की आधार-शिला का आरोपण हुआ।

(११) वर्तमान शताब्दी का प्रारम्भ होने तक यूरोपियन पण्डितों ने प्रायः सभी वैदिक और संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन तथा अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद कर डाला था। अब अगले अनुसन्धान के लिए क्षेत्र तैयार हो चुका था। तब से बहुत बड़ी संख्या में यूरोपियन विद्वान् बड़े परिश्रम के साथ भारतीय आर्यों के प्राचीन साहित्य आदि के अनुसन्धान में लगे हुए हैं। इन ख्यातनामा लेखकों[1] के लेखों का उल्लेख जहाँ जहाँ उचित समझा गया है इस पुस्तक में किया गया है। डेढ़ सौ साल के अन्दर अन्दर सम्पूर्ण वैदिक और लौकिक संस्कृतसाहित्य की, जो परिमाण में ग्रीक और लैटिन के संयुक्त साहित्य से बहुत अधिक है, छान-बीन कर डाली गई

---

१ इनमें से कुछ प्रसिद्ध के नाम हैं—

मैक्डॉनल (Macdonell), हॉप्किंस (Hopkins), हॉर्विट्ज़ (Horrwitz), विंटर्निट्ज़ (Winternitz), पार्जिटर (Pargiter), ओल्डनबर्ग (Oldenburg), पीटर्सन (Peterson), हर्टेल (Hertel), ऐजर्टन (Edgerton), रिजवे (Ridgeway), कीथ (Keith)।

है। यद्यपि इतना घना काम हो चुका है तथापि अभी अनुसन्धान-कार्य के लिए बहुत विस्तृत क्षेत्र बाकी पड़ा है। भारतीय और यूरोपियन सरस्वती सदनो में अभी अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की हज़ारों हस्तलिखित प्रतियाँ रक्खी हैं जिन पर बहुत सा मौलिक कार्य हो सकता है।

(२) भारतीय वर्ण-माला का उद्भव।

कई यूरोपियन विद्वान् मानते हैं कि प्रारम्भ में आर्य लोग लिखने की कला नहीं जानते थे, यह कला उन्होंने विदेशियों से सीखी थी। यूरोप मे संस्कृताध्ययन के प्रारम्भिक युगों मे यह धारणा जैसा कि बुह्लर ने कहा भी है, "अननुकूल परिस्थिति के दबाव से उपेक्षित भारतीय शिलालेखादि के विशेष अध्ययन पर इतनी अवलम्बित नही थी जितनी एक तो इस सामान्य विचार पर कि भारतीय लिपि के कुछ वर्ण सैमाइट-वर्ग की लिपियों के वर्णों से अत्यन्त मिलते जुलते हैं, दूसरे इस विश्वास पर, किसी किसी दशा मे जिसका समर्थन स्पष्टतम साक्ष्यों से होता है, कि भारतीय आर्यों की सभ्यता का निर्माण अनेक और विविध-विध उपादानों से हुआ है जो सैमाइटवर्गीय, ईरानी और यूनानी इन तीन पश्चिमीय जातियों में से लिए गए हैं" यह लेना किस प्रकार हुआ इस बात को स्पष्ट करने के लिए कई युक्तियाँ कल्पित की गई हैं[१]। इनमें सब से अधिक प्रसिद्ध युक्ति बुह्लर की है।

---

१ कुछ युक्तियाँ नीचे दी जाती हैं —

(१) प्रो० वैबर (Weber) के मत से भारतीय वर्णमाला सीधी प्राचीनतम फौनिशिया की वर्णमाला से ली गई है।

(२) डा० डीक (Deecke) का विचार है कि इसका जन्म असीरिया के फणाकार (Cuneiform) वर्णों से निकले हुए प्राचीन दक्षिणी सैमाइट वर्णों से हुआ है, ये दक्षिणी सैमाइट वर्ण ही हिम्यैराइट (Himyarite) वर्णों के जन्मदाता हैं।

(३) डा० आइज़क टेलर (Isaac Taylor) की सम्मति में इसकी जननी दक्षिणी अरब देश की एक वर्णमाला है जो हिम्यैराइट वर्णमाला की भी जननी है।

बुह्लर (Buhler) की युक्ति—बुह्लर की नज़र से भारतीय वर्णमाला का जन्म उत्तरी सैमाइट वर्णमाला से अर्थात् फ़ीनिशियन वर्णमाला से हुआ था और इसका व्युत्पादन हुआ था उत्तर-पश्चिमी सैमाइट वर्णमाला के ऊर्ध्वकालीन नमूनों मे से किसी एक नमूने में से। बुह्लर के अनुमान का आधार वक्ष्यमाण धारणाएँ हैं:—

(१) वर्णमाला की मूल उत्पत्ति मिस्र देश की चित्राकार लिपि (Heiroglyplics) से हुई थी, और

(२) ब्राह्मी लिपि प्रारम्भ मे दाहनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी। यह बात एरन (Eran) के सिक्के से सिद्ध होती है।

इन धारणाओं के समर्थन के लिए उसने निम्नलिखित साक्ष्य ढूँढे हैं:—

(१) जातकों और महावग्ग इत्यादि में आए हुए 'लिखने के' उल्लेख;
(२) अशोक के शासनों में आए हुए प्राचीन लेख सम्बन्धी तथ्य;
(३) एक ईरानी मुद्रा पर भारतीय वर्ण;
(४) एरन (Eran) सिक्के के बारे में प्रचलित उपाख्यान; और
(५) भट्टिप्रोलु (Bhattiprolu) का शिलालेख।

इन सब बातों से डा० बुह्लर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारतीय वर्णमाला का मूल-जन्म होना ई० पू० चौथी शताब्दी से पूर्व ही प्रारम्भ हुआ (यही अनुमान इससे पूर्व मैक्समूलर द्वारा प्रकट किया जा

---

(४) ऐम० जे० हैलेवि (M J Halevy) का कथन है कि यह वर्णमाला वर्णसङ्कर है अर्थात् कुछ वर्ण ई०पू० चौथी शताब्दी की उत्तरी सैमाइटवर्ग की वर्णमाला के हैं, कुछ खरोष्ठी के और कुछ यूनानी के। कहा जाता है कि यह खिचड़ी ३२५ ई० पू० के आसपास पक कर तैयार हुई थी।

दूसरी ओर सर ए० कनिंघम (Sir A Cunningham) कहते हैं कि भारतीय (जिसे पाली और ब्राह्मी भी कहते हैं) वर्णमाला भारतीयों की उपज्ञा है और इसका आधार प्रतिभापूर्ण चित्रकार लिपि विज्ञान (Heiroglyphics) है॥

चुका था); सम्भवतया ई० पू० का यह काल छठी शताब्दी (ई० पू०) थी और भारतीय वर्णमाला का अभिप्राय ब्राह्मी वर्णमाला है।

फ़ीनिशिया की वर्णमाला ८५० ई० पू० से पहले भी विद्यमान थी। यह बात सिंजिरली (Sinjirli) के शिलालेख से और असीरिया के बाटों (weights) पर खुदे हुए अक्षरों से अच्छी तरह प्रमाणित होती है। उक्त महोदय ने फ़ीनिशियन और ब्राह्मी दोनों वर्णमालाओं की तुलना करके मालूम किया है कि ब्राह्मी वर्णमाला फ़ीनिशियन (Phoenician) वर्णमाला से निकाली गई है[1]। वर्णों का रूप बदलने में जिन विधियों से काम लिया गया है बुह्लर ने उन्हे भी निश्चित करने का प्रयत्न किया है, उदाहरणार्थ, वर्णों के सिर पैरो की ओर और पैर सिर की ओर कर दिए गए हैं, दाईं ओर से बाईं ओर को लिखने की रीति को उलट कर बाईं ओर से दाईं ओर को लिखने की रीति चलाई गई है, वर्णों के सिर पर की अग-विस्तृति को मिटा दिया गया है।

पहले पहले तो बुह्लर का मत बिल्कुल सम्भव जान पड़ा और विद्वान् लोग इसकी ओर आकृष्ट भी होने लगे, परन्तु शीघ्र ही ऊर्ध्वकालीन अनुसन्धानों ने एसे अग्राह्य बना दिया।

बुह्लर के मत से विप्रतिपत्तियाँ—(क) जिन धारणाओं पर बुह्लर ने अपने मत को खड़ा किया था, अब उन धारणाओं का ही विरोध किया जाने लगा है। अब फ़्लिंडर्स पैट्री (Flinders Petrie) ने अपने "वर्णमाला का निर्माण" नामक ग्रन्थ में दिखलाया है कि वर्णमाला की मूलोत्पत्ति चित्राकार Heiroglyphics) लिपि के रूप में नही बल्कि प्रतीक चिह्नों (Symbols)

---

१ बुह्लर का प्रयत्न यह सिद्ध करने के लिए नहीं है कि ब्राह्मी वर्णमाला अवश्य विदेशी चीज है या भारतीय विद्वानों की प्रतिभा से इसकी उत्पत्ति होने की सम्भावना ही नहीं हो सकती है। यह अंगीकार करके कि इस वर्णमाला का जन्म विदेशी तत्त्वों से भी होना सम्भव है, उसने केवल उस विधि को समझाने की चेष्टा की है जिसके द्वारा इसका जन्म शायद हुआ हो।

के रूप में जाननी चाहिए। हमारे लिए यह मानना कठिन है कि प्रारम्भिक मनुष्य में इतनी बुद्धि और निपुणता थी कि वह अपने विचारों को चित्र खींच कर प्रकाशित कर सकता था (यह बात तो उन्नत सामाजिक अवस्था में ही सम्भव है)। प्रारम्भिक मनुष्य के बारे में हम केवल इतना ही मान सकते हैं कि वह धनुषाकार, दण्डाकार, ऋजु, वक्र इत्यादि रेखाएँ खींचकर इन संकेतों से ही अपने मन के भाव प्रकट कर सकता होगा।

(ख) अब लीजिए दूसरी धारणा। किसी एक सिक्के का मिल जाना इस बात का पर्याप्त साधक प्रमाण नहीं है कि प्रारम्भ में यह लिपि दाईं से बाईं ओर को लिखी जाती थी। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के होल्कर के तथा इसके बाद के आन्ध्रवंश के शिला लेख की प्राप्ति[1] से अब पता लगता है कि वे सिक्के जिन पर ब्राह्मी लिपि दाईं से बाईं ओर को लिखी हुई है, सिक्के नहीं; शिलालेखों को अङ्कित करने के लिए वस्तुतः मुद्रा (Stamps) हैं, अतः उनके ऊपर वर्णों का विपर्यस्त दिशा में खुदा होना स्वाभाविक ही है।

(ग) यह बात भी याद रखने योग्य है कि एरण (Eran) वाले सिक्के से भी प्राचीनतर भट्टिप्रोलु के लेख में लिपि की दिशा बाईं से दाईं ओर को है।

(घ) डा० बुह्लर की पूर्वोक्त धारणाओं को जैसे चाहे वैसे लगा सकते हैं। ये धारणाएँ पूर्वोक्त वर्णमालाओं में न तो अत्यन्त साम्य ही सिद्ध

---

१ इन्दौर के एक सिक्के पर, जिस पर विक्रम संवत् १९४३ दिया है, "एक पाव आना इन्दौर" ये शब्द उलटे खुदे हुए हैं। एक और पुरानी मुद्रा पर "श्री रसपकुल" इन शब्दों में "श्री" तथा "प" उलटे खुदे हुए हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य मुद्राओं पर भी उलटे खुदे हुए वर्ण देखने में आए हैं।

२ डा० बुह्लर ने भट्टिप्रोलु के लेख में, एरण (Eran) के सिक्के पर और अशोक के शासनों में पाए जाने वाले—प्राचीनतम—भारतीय लिपि के अक्षरों की तुलना प्राचीनतम सैमिटिक उत्कीर्ण लेखों में तथा असीरियन बाटों (Weights)

करती हैं और न अन्योन्य अभेद (Mutual identity)। वह स्वयं भी अपने ही माने हुए सिद्धान्तों पर सब अवस्थाओं में दृढ़ नहीं रहता। जैसा कि एक बहुश्रुत लेखक ने इंग्लिश विश्वकोष में लिखा है, उसके सिद्धान्तों के अनुसार तो किसी भी वर्णमाला से किसी वर्णमाला का व्युत्पादन किया जा सकता है। फिर, डा० बुह्लर के व्युत्पादन की रीति में कई बातें असमाहित रह जाती हैं। उनमें से कुछ एक यहाँ दी जाती हैं :—

में उपलब्ध चिह्नों के साथ की है। इस तुलना के बाद उसने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन ब्राह्मी लिपि के चवालीस अक्षर सैमिटिक चिह्नों के अन्दर मिल सकते हैं और सैमिटिक के सम्पूर्ण बाइस अक्षरों के प्रतिनिधि या अंशज इस लिपि में मौजूद हैं। इस लिपि के निकालने वालों ने अपने निर्माण का एक नियम निश्चित करके, सीधी चलने वाली रेखा के अनुकूल चिह्न कल्पित करने की इच्छा से विवश होकर और सब महाशिरस्क अक्षरों से कुछ ग्लानि होने के कारण कुछ सैमिटिक अक्षरों को उलटा कर दिया या उन्हें करवट के बल लिटा दिया और सिर के त्रिकोणों या द्विकोणों को बिल्कुल हटा दिया। ब्राह्मी लिपि की असली दिशा दाईं से बाईं ओर को थी, जैसा कि डा० बुह्लर ने एरण (Eran) के सिक्के की सहायता से सिद्ध करना चाहा है, बाद में जब दिशा बदली गई तब अक्षर भी दाईं से बाईं ओर को बदल दिए गए। व्युत्पादन के ये नियम निश्चित करके उक्त डाक्टर महोदय ने एक एक सैमिटिक अक्षर लिया है, इससे समानता रखने वाले ब्राह्मी अक्षर के साथ इसकी तुलना की है और तब यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार असली अक्षर में हेर-फेर करके नकली अक्षरों का रूप रंग चमकाया गया है। कुछ उदाहरण लीजिए :—

(१) सैमिटिक 'त्सदे' (Tsade) को पहले उलटा कर दिया, दाहनी ओर की छोटी रेखा को सीधी खड़ी रेखा की ओर मुँह करके घुमा दिया। बाद में, इस सीधी खड़ी रेखा को बाईं ओर घुमा दिया और दिशा भी बदल दी। बस 'व' बन गया, यही 'व' भट्टिप्रोलु के लेख में 'च' पढ़ा जाता है अर्थात् भट्टिप्रोलु में 'च' का यही रूप है।

(१) ग 'ᥰ', ज 'ᥰ' और क '+' के सिर पर की विशालता।

(२) सैमिटिक 'नन्' (nun) को पहले उलटा किया। बाद में, अक्ष को जल्दी से लिखने के प्रयोजन से सीधी खड़ी रेखा के पैर के नीचे दोनों ओर वं जाती हुई पतित दण्डायमान रेखा खींच दी। इस प्रकार ⊥ (=ब्राह्मी 'न') बन गया।

इस रीति से डा० बुह्लर ने पहले तो सब बाईस सैमिटिक अक्षरों के प्रतिनिधि भूत बाईस ब्राह्मी अक्षर खोज निकाले हैं, फिर इन बाईस में से किसी को स्थानान्तरित करके, किसी को छेत-पीटकर, या किसी में सीधी किसी में वक्र किसी में अपूर्ण वृत्ताकार रेखाएँ जोड़कर, बनाए हुए 'व्युत्पादित' अक्षरों के विकास को समझाया है। तात्पर्य यह है कि उसने ब्राह्मी के चवालीस के चवालीस अक्षरों का सम्बन्ध सैमिटिक के आदर्शभूत बाईस अक्षरों से यथा कथंचित् जोड़ दिया है।

अब रही बात कि भारतीयों ने यह काम किया कब? सैमिटिक उत्कीर्ण लेखों, मैसा (Messa) के पत्थर तथा असीरियन (Assyrian) बाटों (weights) के समय को देखते हैं तो भारतीयों के इस काम का काल ८९० ई. पू. और ७५० ई. पू. के बीच मालूम होता है, सम्भवतया "७५० ई. पू. की ओर ही अधिक हो"। इसके बाद उक्त डाक्टर महोदय ने उस पुराने काल का निश्चय करने का यत्न किया है जिसमें भारतीय लोग व्यापार करने के लिए समुद्र के मार्ग से फ़ारिस की खाड़ी तक जाया करते थे; क्योंकि, डाक्टर महोदय का विचार है कि सैमिटिक लिपि भारत में मैसोपोटेमिया (Mesopotamia) के मार्ग से पहुँची होगी। आगे चलकर वे कहते हैं कि महत्त्वपूर्ण अक्षर असली या बहुत कम परिवर्तित रूप में व्यापारियों ने अपने हाथ में ही गुप्त रक्खे। बाद में वे ब्राह्मणों को सिखा दिए गए और ब्राह्मणों ने उनको विकसित करके ब्राह्मी लिपि का आविष्कार कर डाला। परन्तु अक्षरों को विकसित रूप देने में कुछ समय लगा होगा। भट्टिप्रोलु के लेख से अनुमान होता है कि कई अक्षरों के रूपों में कई बार रद्दो-बदल हुआ है। सारा विकास अवश्य एक क्रम से हुआ होगा जिसके लिए हम काफ़ी वक्त मान लेते हैं। इस तरह इस लिपि के विकास की समाप्ति ५०० ई. पू. में हो चुकी होगी।

(२) ब्राह्मी के क '+' का सैमिटिक ता (Taw) '+' के साथ अभेद। यदि सैमिटिक वर्णमाला का 'λ' यह अक्षर भारतीय लोग 'क' के रूप में ले सकते थे तो उन्होंने सैमिटिक ता (Taw) '+' को अपनी (ब्राह्मी) लिपि में 'λ' इस रूप में विकृत क्यों किया? ब्राह्मी के '+' इस अक्षर को ही सैमिटिक ता (Taw) '+' का स्थानापन्न क्यो न रहने दिया और सैमिटिक के एक और 'λ' इस अक्षर को ब्राह्मी का 'क' क्यों न बनाया गया, इत्यादि इत्यादि[1]।

(३) इस सिद्धान्त में यह बात भी स्पष्ट नहीं की गई कि प्रारम्भ में तो नही, बाद में लिखने की दिशा क्यों बदली गई। वर्णमाला के स्वभाव में यह बात देखी जाती है कि यह जिधर से जिधर को आविष्कार के काल में लिखी जाती थी बाद मे भी उधर से ही उधर को लिखी जाती है। दिशा बदलना नए आविष्कार से कम कठिन काम नहीं है। उताहरणार्थ, दशम-लव लगाने की रीति भारत में आविष्कृत हुई थी। प्रारम्भ में यह, बाईं से दाईं ओर को लगाया जाता था। जब इसे सैमाइट वर्ग के देशो ने ग्रहण कर लिया तब भी इसके लगाने की रीति से बाईं से दाईं ओर को ही रही। इसी प्रकार खरोष्ठी के लिखने की रीति भी आज तक नही बदली है, [यह दाईं से बाईं ओर को लिखी जाती है]।

(४) बुह्लर ने सन्दिग्ध साध्य को सिद्ध पक्ष मान कर प्रयत्न किया। उसने यह मान लिया था कि ग्रीक लिपि फ़ीनिशियन (Phoenician) लिपि से निकली है। परन्तु आज तो इस सिद्धान्त पर भी सन्देह हो रहा है।

---

१ ब्राह्मी की उत्पत्ति सैमिटिक वर्णमाला से नहीं हुई, इस विचार की पोषक कुछ और युक्तिया ये हैं:—

(क) एक ही ध्वनि के व्यञ्जक वर्ण दोनों वर्ण लिपियों में परस्पर नहीं मिलते हैं। (ख) भिन्न भिन्न वर्णों की प्रतिनिधिभूत ध्वनियों में परस्पर भेद है। जैसे; ब्राह्मी ग किन्तु सैमिटिक गिमेल (gimel)। (ग) सैमिटिक वर्णमाला में मध्यवर्ती (medial) स्वरों के लिए कोई चिह्न नहीं है और न उसमें ह्रस्व-दीर्घ का ही भेद अंगीकृत है।

(५) यदि यह मानें कि एक जाति ने अपनी वर्णमाला दूसरी जाति की वर्णमाला से निकाली है तो यह मानना पहले पड़ेगा कि उन दोनों जातियों का परस्पर मिलना-जुलना, एक दूसरे के यहाँ आना-जाना हुआ करता था। परन्तु अभी तक इसका प्रमाण भी नहीं मिल सका है। यदि सम्भवतः इस प्रकार का मेल-जोल कभी हुआ भी होगा तो समुद्रतट-वास्तव्य जातियों का हुआ होगा। अतः यदि भारतीय लिपि कभी किसी दूसरी जाति की लिपि से निकाली हुई हो सकती है, तो दक्षिणी सैमिटिक जातियों की लिपि से निकाली हुई हो सकती है; परन्तु डा० बुह्लर ने इसका प्रत्याख्यान किया है।

(६) निज़ाम राज्य के अन्दर प्रागैतिहासिक टीलों की खुदाई ने वर्ण-माला को इतिहास के आश्रय से निकाल कर प्रागैतिहासिक काल में पहुँचा दिया है। वस्तुतः ऐसा ही होना भी चाहिए। कुछ युक्तियों के बलपर विश्वास करना पड़ता है कि वर्णमाला का जन्म प्रारम्भिक मनुष्य के जीवन काल में और अङ्गोपचय बाद में हुआ होगा इस सम्बन्ध में नीचे लिखी कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं:—

(क) हैदराबाद राज्य के टीलों में से निकले हुए मिट्टी के बर्तनों की बनावट ऐसी है जो १५०० ई. पू. से पहली ही होनी चाहिए।

(ख) मद्रास के अजायबघर में रखे हुए मिट्टी के कुछ बर्तन उत्तर पाषाणयुग के हैं जो ३००० ई. पू. से पहले के ही होने चाहिएँ।

(ग) अनन्तरोक्त बर्तनों पर कुछ चिह्न मध्यवर्ती स्वरों को भी कम से कम पाँच चिह्न प्राचीनतम ब्राह्मी लिपि के वर्णों से बिल्कुल मिलते हैं।

(घ) ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें कुछ चिह्न मध्यवर्ती स्वरों को भी प्रगट करने के लिए मौजूद हैं। उदाहरणार्थ, ओ-कार तथा इ-कार के लिए भी चिह्न मिलते हैं।

अतः यदि हम भारत के प्रागैतिहासिक मृणमय पात्रों पर अङ्कित सङ्केतों को ब्राह्मी लिपि के अक्षरों का पूर्वरूप मानें तो यह बिल्कुल युक्ति संगत होगा।

(७) इन बर्तनों पर रचयिता के नाम के प्रारम्भिकवर्ण को प्रकट करने वाले एक एक अक्षर भी देखे जाते हैं। इस प्रकार लिखने की रीति मिस्र और यूरोप में भी प्रचलित थी और यह भारतीयों को भी अविदित नहीं थी। इस बात से भी ब्राह्मी लिपि इतिहास से पूर्व के समय में विद्यमान सिद्ध हो जाती है।

(८) भारतीय अजायबघर (Indian Mūseum) के प्रागैतिहासिक प्राचीन पदार्थों के संग्रह में उत्तरपाषाण युग के दो पाषाणखण्ड पड़े हैं। उनका उत्तरपाषाणयुगीय होना निर्विवाद है। उन पर एक नहीं अनेक अक्षर अङ्कित हैं। उनमें से एक पाषाणखण्ड पर म्, आ, त् ये तीन अक्षर मिलाकर अङ्कित हैं। दूसरे पाषाणखण्ड पर चार अक्षर हैं। ये अक्षर ब्राह्मी वर्णमाला के वर्णों से हूबहू मिलते हैं।

(९) साहित्य के साक्ष्य से भी हमारे सिद्धान्त का समर्थन होता है:—

(क) ईकार उकार इत्यादि का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में पाया जाता है। यथा; अग्निरीकारः।

(ख) ऐतरेय आरण्यक में शब्दगत सन्धि की विधि वर्णित है।

(ग) शतपथ ब्राह्मण में भिन्न भिन्न वेदों के पदों की सङ्कलित संख्या और काल का लघुतम भाग (एक सेकण्ड का सत्रवाँ भाग) निरूपित है। यह कार्य लिपिकला के ज्ञान के बिना सम्भव नही था।

(घ) ऋग्वेद में अष्टकर्णी गौ (वह गौ जिसके कानों पर आठ का अङ्क अङ्कित हो) इत्यादि का वर्णन है।

(ङ) आर. रॉथ (R. Roth) ने ठीक ही कहा है कि वेदों की लिखित प्रतियों के बिना कोई भी व्यक्ति प्रातिशाख्यग्रन्थों का निर्माण नहीं कर सकता था।

(च) वैदिक काल में अत्यन्त ऊँची संख्याएँ व्यवहार में लाई जाती थीं, व्याकरणशास्त्र का विकास बहुत प्राचीन काल में ही काफी ज्यादा हो चुका था, (यह बात लिपिकला के आविष्कार के बाद ही हुई थी पहले नहीं), जुए के पासों तथा पशुओं के ऊपर संख्या के अङ्क डालने के उल्लेख

मिलते हैं। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि भारतीयों को लिपिकला का अभ्यास बहुत प्राचीन से था।

मौखिक अध्यापन की रीति से हमारे मत का प्रत्याख्यान नहीं हो सकता; कारण, वैदिक मन्त्रो के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा के लिए ऐसा होना अपरिहार्य था।

(२) ब्राह्मी के अर्थ-ज्ञान का इतिहास।

फीरोज़शाह तुग़लक की आज्ञा से अशोक का तोपरा वाले शिलालेख का स्तम्भ देहली ले जाया गया था। फीरोज़शाह ने इस लेख का अर्थ जानने के लिए जितने प्रयत्न हो सकते थे किए किन्तु उसे निराश ही रहना पड़ा। सब से पहले १७८५ ई० चार्लेस विल्किन्स ने दो शिलालेख पढ़े—एक बंगाली राजा नारायणपाल (१२०० ई०) का और दूसरा राधाकान्त शर्मा द्वारा लिखित १३०० ई० का चौहान वाला। इसी सन् में जे. ऐच् हैरिङ्गटन) (J H Herrington) ने गुप्तवंश तक की पुरानी नागार्जुन की और बरबर की गुफाओं का मौखरि नृप अवन्तिवर्मा का एक शिलालेख पढ़ा। इससे गुप्तराजवंश द्वारा प्रयुक्त वर्णमाला का आधे के करीब पता लग गया।

अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'राजस्थान' के लिए सामग्री सञ्चय करते हुए कर्नल टॉड (Col Todd) ने १८१८ से १८२३ ई० तक कई शिलालेखो का पता लगाया। ये शिलालेख ५वीं से १५वीं शताब्दी तक के हैं और इनके अर्थ का ज्ञान एक विद्वान् पण्डित ज्ञानचन्द्र की सहायता से हुआ था।

१८३४ ई० में कप्तान ऐ. ट्रायर (Captain A Trayer) ने प्रयाग वाले शिलालेख का कुछ भाग पढ़ा और डा० मिल (Dr Mill) ने इस के बाकी हिस्से को भी पढ डाला।

१८३७ ई० में डा० मिल ने स्कन्दगुप्त के भितारी (Bhitari) वाले शिलालेख को पढ़ा। इस समय तक वलभी राजाओं के अनेक शिलालेख भी पढ़े और समझे जा चुके थे। १८३७-३८ ई० में जेम्ज़ प्रिंसेप (James Princep) ने गुप्तवंश के गिरनार इत्यादि स्थानो के अनेक शिलालेख पढ़े। इस प्रकार गुप्त-वर्णमाला का ज्ञान बिलकुल पूर्ण हो गया।

ब्राह्मी-लिपि का पढ़ना फिर भी बहुत कठिन बना रहा। १७६५ ई० में सर विलियम जोंस (Sir William Jones) के उपयोग के लिए अलोरा (Allora) गुफाओं के छोटे-छोटे शिलालेखों की कुछ एक ज्यों की त्यों प्रतिलिपियाँ तैयार की गई। उक्त महाशय ने उन्हें कर्नल मिल्फ़ोर्ड (Col. Milford) के पास भेज दिया जिसने एक पण्डित के भुलावे में आकर उनको बिल्कुल ही अशुद्ध पढ़ा।

१८३४-३५ ई० में जे. प्रिंसेप ने देहली से अशोक के शिलालेख की ज्यों की त्यों प्रतिकृति प्राप्त की और यह समझकर कि इसके वर्णों की आकृति गुप्त-शिलालेखों के वर्णों की सी ही है उसने बड़ी बारीकी से उनकी परस्पर तुलना प्रारम्भ की। इस रीति से उसने कई वर्ण पहचान लिए। बाद में स्टिवैन्सन (Stevenson) ने इस दिशा में प्रयत्न करके और अधिक सफलता प्राप्त कर ली।

(४) कौटल्य का अर्थशास्त्र।

(क) दक्षिणभारत की साहित्यसेवा—कौटल्य का अर्थशास्त्र उन ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्वशाली ग्रन्थ है जिन्हे लिखकर दक्षिण[1] भारतीयों ने संस्कृत साहित्य की सेवा की है। जब से इसका पता लगा है तब से प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता के सम्बन्ध में हमारे विचार क्रान्ति के क्षेत्र बन गए हैं। इसका पता लगने से पहले भारतीय राजनीतिशास्त्र में शून्य समझे जाते थे। आम राय यह थी कि भारतीय सभ्यता ने केवल 'विचार'-क्षेत्र में ही चमत्कार दिखलाया था 'क्रिया'-क्षेत्र मे यह बुरी तरह फेल रही थी। कौटल्य के अर्थशास्त्र में राज्य-सिद्धान्तों का ही नहीं प्रबन्ध की सूक्ष्म बातों का भी वर्णन है। इसका विषय-क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। इससे हमें राजा के विविधविध कर्तव्यों का, गाँवो के बसाने की रीतियों का, भूमि, खेती और व्यापार की समस्याओं का, कलाओं और शिल्पों को उन्नत करने की विधियों का, मद्य इत्यादि मदकारी वस्तुओं पर नियन्त्रण रखने का, जङ्गलों और

१ दाक्षिणात्यों के कुछ अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं:—भास के तेरह नाटक भामहका भामहालङ्कार, और अवन्तिसुन्दी कथा।

खानों से लाभ उठाने के ढङ्ग का, सिंचाई का, अकाल में/किए जाने वाले कामों का, अपराधियों को दण्ड देने के विधान का, तथा इसी प्रकार की और अनेक बातों का पता लगता है। इस अर्थशास्त्र की बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हमें सिद्धान्त और क्रिया का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। इस कारण संस्कृत के इन ग्रन्थों का महत्त्व ग्रीक के अरस्तू तथा अफ्लातून के ग्रन्थों से भी अधिक है।

(ख) रचयिता—(अ) सौभाग्य से कौटल्य के अर्थशास्त्र के रचयिता के विषय में स्वयं ग्रन्थ का आभ्यन्तरिक प्रमाण प्राप्त है। ग्रन्थ के अन्त के समीप यह श्लोक आया है:—

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥

आगे चलकर अन्त में कहा गया है:—

स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकारसूत्रञ्च भाष्यञ्च॥

अर्थात्—"शास्त्रों पर टीका लिखने वालों में कई प्रकार का व्याघात दोष देकर विष्णुगुप्त ने स्वयं [यह] शास्त्र और [इस पर] भाष्य लिखा है[1]।"

(आ) बाह्य-प्रमाण के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान में रखने योग्य हैं:—(१) कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र का प्रयोजन कौटलीय अर्थशास्त्र का संक्षेप करना बतलाया है और अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में विष्णुगुप्त को प्रमाण किया है। (२) दशकुमारचरित के आठवें उच्छ्वास में दण्डी ने कहा है:—

इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्य्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैःसंक्षिप्ता॥

१ असली पाठ के रूप में और भी उद्धरण दिए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ-

(क) कौटिल्येन कृतं शास्त्रं विमुच्य ग्रन्थविस्तरम्।१।१॥

(आ) कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधि-कृतः।२।१०॥

इससे प्रकट है कि कौटिल्य और विष्णुगुप्त एक ही व्यक्ति के वाचक हैं

इसके अतिरिक्त, राजा के दैनिक कर्तव्यों का निरूपण करते हुए दण्डी ने कौटलीय अर्थशास्त्र के कुछ स्थल ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिए हैं। दशकुमारचरित मे सोमदत्त के चरित में उसने कौटलीय अर्थशास्त्र का फिर उल्लेख करते हुए लिखा है:—

कौटिल्य-कामन्दकीयादि-नीतिपटलकौशल..... ।

(३) जैनधर्म के नन्दिसूत्र में, पञ्चतन्त्र में, सोमदेवकृत नीतिवाक्यामृत मे और कालिदासकृत ग्रन्थों पर मल्लिनाथीय टीका में चाणक्य के अर्थशास्त्र के उल्लेख या उद्धरण उपलब्ध होते हैं।

(४) चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ चाणक्य का सम्बन्ध अवश्य था। यह बात वक्ष्यमाण प्रमाणों से सिद्ध होती है:—

क)। विष्णुपुराण कहता है:—

नवैव तान् नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति।
......कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति॥

इसी प्रकार भागवत पुराण भी कहता है:—

नवनन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति।
स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति॥

वायु, मत्स्य और ब्रह्माण्ड पुराणों मे भी ऐसे ही वचन मिलते हैं।

ख)॥ जैन[1] तथा बौद्ध[2] साहित्य में प्राप्य पुष्कल उल्लेखों से भी उल्लिखित वचनों की पुष्टि होती है।

ग)॥। मुद्राराक्षस के कथानक में भी नौनन्दों का वध करा चुकने के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन को सुदृढ़ करने के लिए किए हुए चाणक्य के प्रयत्नों का वर्णन है।

---

१ इस बारे में मुख्य मुख्य जैन ग्रन्थ ये हैं:—स्थविरावलीचरित, नन्दिसूत्र और ऋषिमण्डलप्रकारणवृत्ति। २ इस बारे में मुख्य मुख्य बौद्ध ग्रन्थ ये हैं.—बुद्धघोषकृत समन्तपशादिका (विनयपिटक की एक टीका) और महावंश-टीका।

(५) चाणक्य के कई नाम प्रसिद्ध थे। यह बात अभिधानचिन्तामणि नामक कोष के नीचे अवतारित श्लोक से प्रमाणित होती है:—

वात्स्यायने मल्लनागः कुटिलश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गलश्च सः॥

प्रतीत होता है उसका असली नाम विष्णुगुप्त था। चणक का पुत्र होने से वह चाणक्य और शायद कुटल गोत्र के सम्बन्ध से कौटल्य कहलाया। वह कुटिल नीति का पक्षपाती था अतः कौटिल्य भी कहलाता है। अन्य नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं।

(६) क्या यह ग्रन्थ एक ही व्यक्ति की कृति है ? इस अर्थशास्त्र के मूल में ही बहत्तर बार 'इति चाणक्यः' 'नेति चाणक्यः' ऐसे वचन पाए जाते हैं। इसी का अवलम्ब लेकर प्रो० हिलब्रैंड (Hillebrandt) ने कह डाला है कि यह ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं है, चाणक्य की कृति होने की तो और भी कम आशा है। उक्त महाशय के मत से यह एक ही प्रस्थान (School) के कई लेखको की रचना है; क्योंकि निरुक्त और महाभाष्य में हम 'इति यास्कः' और 'इति पतञ्जलिः' ऐसे वाक्य कही भी नही पाते हैं। प्रो० जैकोबि (Jachobi) ने इस मत का घोर विरोध किया है। भारत के अनेक लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अपने ही नाम का प्रयोग प्रथम (अन्य) पुरुष में किया है। इसका कारण स्पष्ट है—वे स्वाभिमान—दोष के भागी होना नहीं चाहते थे। नानक, कबीर, तुलसीदास तथा अन्य अनेक कवियो ने ऐसा ही किया है। यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि इस ग्रन्थ ने अपने प्रस्थान (School) को जन्म दिया है प्रस्थान ने ग्रन्थ को नहीं:—

(१) कामन्दक ने इस ग्रन्थ के रचयिता का उल्लेख विस्पष्टतया एक व्यक्ति के रूप में किया है और उसके ग्रन्थ में ऐसे किसी सम्प्रदाय या प्रस्थान (School) के उल्लेख का आभास तक नहीं पाया जाता।

(२) लेखक ने ग्रन्थ एक विशेष उद्देश्य को लेकर लिखा है। यह ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहता है:—पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि

पूर्वाचार्य्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्र कृतम् । इस अर्थशास्त्र के अन्दर कहीं भी व्याघात दोष नहीं पाया जाता है।

(३) यदि चाणक्य के बाद का कोई लेखक इस ग्रन्थ का रचयिता हो तो 'इति चाणक्यः' 'नेति चाणक्यः' और 'इत्याचार्याः' इत्यादि वाक्य कुछ अर्थ न रक्खें, क्योकि, तब तो स्वयं चाणक्य एक आचार्य होता।

(४) स्वयं कौटिल्य ने एक सौ चौदह बार पूर्वाचार्यों का उल्लेख करके उनके विचारों की तीव्र आलोचना की है।

(५) मूल ग्रन्थ में लेखक का नाम अथवा उल्लेख सर्वत्र एक वचन मे हुआ है।

(६) ग्रन्थ के प्रारम्भ में बडी सावधानी से तैयार की हुई विषयानुक्रमणी है जिसमे रूप-रेखा और निर्माण का असाधारण ऐक्य देखा जाता है।

इस ग्रन्थ के लिखे जाने से पहले भी अर्थशास्त्रविषयक अनेक ग्रन्थ मौजूद थे और चाणक्य ने उनमें काट-छाँट या रद्दो-बदल करके यह ग्रन्थ तैयार किया था। यह बात स्वयं इस ग्रन्थ के मूल-पाठ से भी सिद्ध होती है। यह भी ठीक हो सकता है कि उसे अपने ग्रन्थ के निरूपणीय विषयों के लिए बहुत सी आवश्यक सामग्री राज्य के अधिकारियों से प्राप्त हो गई होगी, परन्तु यह ग्रन्थ चाणक्य की मौलिक रचना नही है, यह सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

(ग) ग्रन्थ का रचनाकाल।

(१) डा० शामशास्त्री के द्वारा किए हुए इस ग्रन्थ के अनुवाद[1] के लिए लिखी हुई अपनी संक्षिप्त भूमिका में डा० फ्लीट ने इस ग्रन्थ का सम्भाव्यमान निर्माण-काल, ३२१-२९६ ईसा से पूर्व माना है प्रो० जेकोबि, डा० टॉमस (Thomas) तथा कई अन्य विद्वान् भी इस विचार से सहमत हैं।

(२) प्रो० जॉलि (Jolly) के विचार से यह ग्रन्थ कामसूत्र से मिलता जुलता है, और कामसूत्र ईसा की चौथी शताब्दी में लिखा गया था, अतः

१ मैसूर से १९२३ ई० में प्रकाशित।

यह भी प्रायः उसी समय का हो सकता है। उक्त प्रोफ़ैसर ने मुख्यतया इस बात पर विश्वास किया है कि मेगास्थनीज़ (Megasthenese) ने चाणक्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों के आधार पर माना जाता है कि मेगास्थनीज़ का साक्ष्य अधिक विश्वसनीय नहीं है। उदाहरणार्थ, उसने लिखा है कि भारतीय लोग लिपि-कला नहीं जानते हैं; परन्तु आजकल इस बात पर कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं कर सकता है। प्रो० जॉली स्वयं स्वीकार करते हैं कि मेगास्थनीज़ भारतीय भाषाओं और साहित्य से परिचित नहीं था अतः उसका साक्ष्य अल्बेरूनि के साक्ष्य से बहुत कम मूल्य रखता है। सच तो यह है कि चाणक्य के अर्थशास्त्र में मौर्यकाल से पूर्व के भारत का चित्र देखने को मिलता है[1]। यदि मेगास्थनीज़ अत्यन्त सूक्ष्म-पर्यवेक्ष्य होता तब भी उसकी और चाणक्य की बातों में अनैक्य स्वाभाविक था। "चाणक्य के विषय में मेगास्थनीज़ चुप है" यह कोई युक्ति नही। मेगास्थनीज़ ने तो कहीं नन्दों का भी नाम नहीं लिया; फिर चाणक्य का नाम लेने की क्या आशा हो सकती है?

(२) प्रो० विंटरनिट्ज़ (Winternitz) और प्रो० कीथ[3] (Keith) ने

---

१ इस अर्थशास्त्र में आलिखित समाज की कुछ रीति-नीति ये हैं:—

(क) राजनीतिक अपराध करने पर ब्राह्मण का वध विहित है।

(ख) राज्य-हित के लिए मन्दिरों को लूटने में दोष नहीं है।

(ग) विशेष परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद (Divorce) वैध है।

(घ) पति मर जाए या बहुत अधिक समय के लिए विदेश चला जाए तो स्त्री दूसरा विवाह कर सकती है।

(ङ) अथर्व-वेदोक्त जादू-टोना प्रचलित था।

(च) वैश्वानर, सङ्कर्षण और महाकच्छ की उपासना कर्तव्य है।

(छ) तरुणी होने पर कन्याओं को वर चुनने की स्वतन्त्रता थी।

(ज) ब्राह्मण शूद्र की पत्नी से विवाह कर सकता था।

(झ) ब्राह्मण सैनिक का व्यवसाय ग्रहण कर सकते थे।

२ कैलकटा रिव्यूज (अप्रैल) १९२४ ई। ३ जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसायटि १९१६ ई (१३०)

इस ग्रन्थ का निर्माण-काल ईसा की चौथी शताब्दी माना है। विंटरनिट्ज़ के मत से इसका रचयिता कोई राजनीतिज्ञ नहीं बल्कि कोई पण्डित है। परन्तु इस मत मे इस तथ्य के ऊपर ध्यान नहीं दिया गया कि भारतवर्ष में एक ही व्यक्ति पण्डित और राजनीतिज्ञ दोनों का कार्य कर सकता है; माधव और सायण दोनों भाई बड़े योग्य अमात्य, साथ ही, वेदों और भारतीय दर्शन के धुरन्धर विद्वान् भी थे।

(४) कुछ विद्वानो ने बड़ा कल्पनापूर्ण विचार प्रकट करने का साहस किया है। उनका कथन है कि कौटिल्य ('कुटिल' बाबू) कोई ऐतिहासिक पुरुष नहीं था। परन्तु हम ऊपर कह चुके हैं कि उसका असली नाम विष्णुगुप्त था, कौटिल्य उसका उपनाम है जो उसके कुटिल नीति का पक्षपाती होने के कारण प्रसिद्ध हो गया है।

(५) चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ चाणक्य का भारी सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि वह ई० पू० चौथी शताब्दी में हुआ था; और 'नरेन्द्रार्थे' 'मौर्यार्थे' इत्यादि वाक्यों से यह भी विश्वास करना पड़ता है कि यह ग्रन्थ चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन-काल में ही लिखा गया था।

(६) युता, राजुका, पाषण्डेषु, समाज, महामाता इत्यादि पारिभाषिक शब्द कौटलीय अर्थशास्त्र के समान अशोक के शासन-लेखों में भी पाए जाते हैं। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयोग में लाए गए हैं और बाद में 'अप्रयुक्त' हो गए हैं।

(७) चाणक्य के अर्थशास्त्र में और अशोक के शासन-लेखों में कुछ एक एक जैसे विधान पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, चक्रवाक, शुक और शारिका इत्यादि पक्षियो की हत्या करना वर्जित है, दवाइयों के काम में आनेवाले पौदो का बोना और सड़कों तथा पगडण्डियों के किनारे कुओ का खुदवाना विहित है।

(८) कोई कोई कहते हैं कि इस अर्थशास्त्र की शैली एवं बाह्य रूपरेखा से प्रतीत होता है कि यह जितना प्राचीन माना जाता है उतना प्राचीन नही हो सकता है। परन्तु ऐसा कहने वालों को जानना चाहिए

कि ग्रन्थ के मूलपाठ से ही ज्ञात होता है कि असली ग्रन्थ छै हज़ार श्लोकों और डेढ़ सौ अध्यायों के रूप में था; किन्तु आजकल के प्रचलित ग्रन्थ में काफ़ी गद्य भी है। इस समस्या को सुलझाने के लिए किसी किसी ने एक आसान उपाय बताते हुए कहा है कि इस अर्थशास्त्र के बाह्य रूप-रङ्ग में ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में कुछ परिवर्तन हुआ है। इसको समर्थन करने वाली बात यह है कि दण्डी से पहले के सब लेखकों ने अर्थशास्त्र के जितने भी उद्धरण दिए हैं वे सब श्लोक-बद्ध और दण्डी के बाद के लेखकों द्वारा दिए हुए उद्धरण गद्यात्मक हैं। अनुमान किया जाता है कि सूत्रात्मक ग्रन्थ लिखने की प्रथा ईसा की पाँचवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई होगी जब याज्ञवल्क्य स्मृति (लगभग २५० ई०) तैयार हो चुकी थी। किन्तु इस 'परिवर्तन—' वाद के प्रवर्तकों ने यह नहीं बतलाया कि यह परिवर्तन किसने किया, क्यों किया, और किस के लाभ के लिए किया ? विश्वास तो यह है कि इस अर्थशास्त्र के सार्वभौम आदर ने समय और प्रक्षेपकों के ध्वंसकारी हाथ से इसकी रक्षा अवश्य की होगी। इसी के साथ एक बात और भी है। कौटलीय अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में सुव्यवस्थित एक प्रकरणानुक्रमणिका दी गई है तथा इसकी रचना पहले से ही अच्छी तरह तैयार किए हुए एक ढाँचे पर हुई प्रतीत होती है। निस्सन्देह,भारत में जाल-साज़ी का बाज़ार काफी गर्म रह चुका है; परन्तु इनका क्षेत्र 'भगवान्' का या मनु, याज्ञवल्क्य और व्यास जैसे ऋषि-मुनियों का नाम था। ऐसी बातों का सम्बन्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ नहीं देखा जाता है। यह पौदा भारत की भूमि में नहीं उगा है।

इस बारे में दण्डी का साक्ष्य बड़े महत्त्व का है। आजकल उपलभ्यमान कौटलीय अर्थशास्त्र दण्डी के हाथ में अवश्य रहा होगा, क्योंकि उसने इसमें से कई स्थल ज्यों के त्यों उद्धृत किए हैं। वह इसका भी ज़िक्र करता है कि 'यह राष्ट्रनीति-विद्या अब आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्य के लिए छै हज़ार श्लोकों में संक्षिप्त करके कलम-बद्ध कर दी है'—'इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता'। इससे प्रकट है कि

दण्डी से (ईसा की ७वीं श०) पहले रूप का कोई परिवर्तन नहीं हुआ होगा। तब क्या रूप का यह परिवर्तन ७वीं शताब्दी के बाद हुआ? ऐसा अनुमान किसी ने प्रकट नहीं किया। भवभूति ने चाणक्य के अर्थशास्त्र का उद्धरण सूत्र रूप में दिया है, परन्तु दण्डी और भवभूति के बीच पचास साल से भी कम का अन्तर है और इतना समय सूत्र शैली के विकास के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त मूलग्रन्थ आप कहता है कि सूत्र और भाष्य दोनों का रचयिता विष्णुगुप्त है—'स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च'। अतः हमें यह मानने के लिए कोई कारण दिखाई नहीं देता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में इस अर्थशास्त्र के बाह्य रूप में परिवर्तन हुआ होगा। अब रही छै हज़ार श्लोकों की बात। इसका उत्तर देने में हम पी० वी० काणे (P V Kane) के इस कथन से पूर्णतया सहमत हैं कि यहाँ श्लोक का तात्पर्य छन्द ही नहीं बल्कि बत्तीस वर्णों का सङ्घ है।

(घ) शैली—कौटलीय अर्थशास्त्र की शैली आपस्तम्ब, बौधायन तथा अन्य धर्मसूत्र ग्रन्थों की शैली से बहुत मिलती जुलती है। इसमें गद्य-पद्य का सम्मिश्रण पाया जाता है। इसमें गद्य और पद्य एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण रहता है। इसके अतिरिक्त, इसमें सूत्र और भाष्य दोनों स्वयं ग्रन्थ-रचयिता के लिखे हुए हैं। कहीं कहीं भाष्य में उपनिषद् और ऊर्ध्वकालीन ब्राह्मणों की भाषा का रङ्ग-ढङ्ग देखने में आ जाता है। ग्रन्थ में आदि से अन्त तक स्थूलालेख्य (Plan) और निर्माण की आश्चर्यजनक एकता पाई जाती है। कुछेक पद पाणिनि के व्याकरण के नियमों का उल्लङ्घन करते हुए देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ, औपनिषत्क के स्थान पर औपनिषदिक, रोचन्ते के रोचयन्ते और चातुरश्चिका के चतुरश्रिका आया है।

नामानुक्रमणिका

(५) पञ्जाब विश्वविद्यालय के परीक्षा-प्रश्न ।

१९२१

(१) नाटककार की हैसियत से विशाखदत्त और कालिदास में परस्पर क्या भेद है ?

(२) पुराने समय में भिन्न भिन्न श्रेणी के पुरुषों द्वारा प्रयोग में लाई हुई नाटकों की भिन्न भिन्न बोलचाल की भाषाओं की प्रकृति (Nature) के बारे में आप नाटकसाहित्य से क्या अनुमान करते हैं ?

(३) किरातार्जुनीय जिस श्रेणी से सम्बन्ध रखता है काव्य की उस श्रेणी की विशेषताएँ लिखिए । इस श्रेणी के अन्य प्रधान प्रधान ग्रन्थों के और उनके रचयिताओं के नाम लिखकर उनके रचनाकालों पर भी प्रकाश डालिए ।

(४) मुद्राराक्षस का काल निश्चित कीजिए ।

(५) दण्डी का समय प्रायः ईसा की ८ वीं शताब्दी में माना जाता है । इस मत के प्रतिकूल अपनी युक्तियाँ दीजिए ।

१९२३

(१) संस्कृत रूपकों में प्रायः आनेवाली नाना प्राकृत भाषाएँ कौन कौनसी हैं और क्यों ?

(२) उत्तररामचरित सुखान्त नाटक है या दुःखान्त ? वाल्मीकि की और भवभूति की रामायणी कथा में कितना भेद है ?

(३) भवभूति 'प्रकृति-वर्णन' का कवि है, इस पर एक टिप्पणी लिखिए और अपने विचारों के पोषक उद्धरण दीजिए ।

या

भवभूति एक दार्शनिक कवि है, इस पर एक टिप्पणी लिखिए और अपने विचारों के पोषक उद्धरण दीजिए ।

(४) प्रो॰ मैक्डॉनल का कथन है:—"संस्कृत की अवस्था प्रायः वही रही है और अभी तक है जो यहूदियों में हिब्रू की है या 'मध्यकाल' में लैटिन की थी" । इस पर टीका-टिप्पणी कीजिए ।

(५) महाभारत के टीकाकारों के नामों तथा समयों का उल्लेख करके

इस ग्रन्थ की उस अवस्था का वर्णन कीजिए जो भारत के 'मध्यकालीन'[2] साहित्य में प्रतिबिम्बित है।

(६) प्रो. मैक्समूलर का मत है कि समग्र साहित्यिक प्रवृत्ति एक लम्बे समय तक शान्त रही, और फिर ईसा की छठी शताब्दी में संस्कृत साहित्य का पुनरुत्थान हुआ। इसकी आलोचना कीजिए।

१९२४

(१) शैली, विद्वत्ता और कवि-प्रतिभा की दृष्टि से भारवि और भवभूति की समता और विषमता दिखलाइये।

(२) कहते हैं उत्तररामचरित में भवभूति कालिदास से भी आगे बढ़ गया है। इसकी आलोचना कीजिए।

(३) प्रो. मैक्डॉनल ने कहा है—"एक तरफ़ तो संस्कृत के नाटक यूनानी सुखान्त नाटकों से मिलते जुलते हैं दूसरी ओर ये एलिज़ाबेथ के समय के नाटकों से, विशेषकर शेक्सपियर के नाटकों से अत्यन्त आश्चर्यजनक समता रखते हैं"। इस पर टीका-टिप्पणी कीजिए।

(४) इस बात के प्रमाण दीजिए कि पुराने काल में संस्कृत केवल साहित्य की या पाठशालाओं की ही भाषा नहीं थी प्रत्युत हिमालय और विन्ध्यागिरि के बीच सारे उत्तरभारत में वस्तुतः बोली जाती थी।

१९२५

(१) आप महाकाव्य से क्या समझते हैं?

(२) मल्लिनाथ के बारे में आप क्या जानते हैं?

(३) प्रधान प्रधान वैष्णवपुराणों के नाम लिखकर भागवत पुराण के काल और वर्ण्य विषय पर विचार कीजिए।

(४) कालिदासीय मेघदूत पर एक प्रतिभा-पूर्ण टिप्पणी लिखिए।

(५) प्रो० मैक्डॉनल का विचार है कि भारतीय संस्कृत नाटक पर यूरोपियन नाटक का कोई प्रभाव नहीं, यह एक स्वतन्त्र जातीय-विकास है। इस पर प्रकाश डालिए।

---

१ योरुप के इतिहास में 'मध्यकाल' का अभिप्राय १००० ई० से १४०० ई० तक या अधिक विस्तृत अर्थ लेने की दशा में ६०० ई० से १५०० ई० तक माना जाता है। २ भारतीय इतिहास के मुस्लिम काल में उत्पन्न।

(६) नाटककार भवभूति का संक्षिप्त जीवन-परिचय दीजिए, और बतलाइये कि उसकी श्रेणी के प्राचीनतर व्यक्तियों के लिए हुए ग्रन्थों से उसके ग्रन्थों में क्या भेद है ?

१९२६

(१) प्रातिभिक उपार्जनाओं, शैली और कविता की दृष्टि से भारवि और भवभूति की समता-विषमता प्रतिपादित कीजिए।

(२) भवभूति का प्रेम-विषयक क्या विचार था ? इस पर एक टिप्पणी लिखिए और अपने विचार की पुष्टि में ग्रन्थ से उद्धरण दीजिए।

(३) वर्तमान अवस्था तक पहुँचने के महाभारत के विकास का वर्णन कीजिए। इसके अन्तिम सम्पादन का समय कौन सा है ?

(४) संस्कृत के काव्यों के काल पर शास्त्रों से क्या प्रकाश पड़ता है ?

(५) संस्कृत रूपक की विशेषताएँ क्या हैं ? कालिदास के रूपको पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

(६) बाण की शैली पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

१९२९

(१) भवभूति और कालिदास में से आप किसे पसन्द करते हैं और क्यों ?

(२) भवभूति और कालिदास दोनो में से अपनी याद के कोई से पाँच श्लोक लिखकर बतलाइये कि आप ने उन्हें क्यों याद किया है ?

१९३०

(१) वर्तमान भारतीय-आर्यिक भाषाओं का उनके प्राचीनतम काल तक का विकास-इतिहास लिखिए और बतलाइये कि क्या भाषा सम्बन्धी आधारों पर आर्यों के असली निवास-देश का निश्चय करना सम्भव है ?

(२) भास और कौटिल्य के बारे में आप क्या जानते है ?

(३) संस्कृत रूपक की उत्पत्ति और क्रमिक वृद्धि का इतिहास बतलाइये।

१९३१

(१) कहा जाता है कि प्रकृति के कोमल अंगों और अंशो का वर्णन करने में कालिदास परन्तु उसके गौरवशाली एवं उदात्त अंगो तथा अंगों

का वर्णन करने में भवभूति बढ़कर है। उदाहरण देकर इस कथन की व्याख्या और आलोचना कीजिए।

१९३१

(१) आर्य संस्कृत कविता की विशेषताएँ प्रकट कीजिए। आर्यसंस्कृत के विकास का इतिहास लिखिए।

(२) कालिदास की कविता के काल, निर्माण-स्थान और उसकी शैली के बारे में प्रचलित भिन्न भिन्न वादों का वर्णन करके उनकी पूर्ण आलोचना कीजिए।

(३) निम्नलिखित के विषय में आपको क्या मालूम है?—

बिल्हण, बुद्धचरित, दण्डी, गाथा की भाषा, जयदेव, कल्हण, महाभाष्य, मल्लिनाथ, वत्सभट्टि, माघ, चम्पू।

(४) संस्कृत के गद्य काव्यों के और लोकप्रिय कथाग्रन्थों के नाम तथा उनके रचयिताओं के नाम लिखिए और हो सके तो गद्य-काव्य और लोकप्रिय कथाग्रन्थ इन दोनों का काल-निर्णय कीजिए।

१९३२

(१) डा० भण्डारकर ने कहा है कि कालिदास रस को व्यञ्जना या लक्षणा द्वारा प्रकट करता है परन्तु भवभूति ओजस्विनी भाषा द्वारा। उदाहरण देकर इस कथन की आलोचना कीजिए।

(२) किसी ने कहा है कि मालतीमाधव भवभूति की सब से पहली रूपकात्मक कृति है। आप इससे सहमत हैं या नहीं अपनी युक्तियाँ देकर इस पर विचार कीजिए।

(३) कालिदास या भवभूति का काल-निर्णय कीजिए।

१९३५

(१) (क) आगे लिखे में से किन्हीं तीन पर संक्षिप्त किन्तु विस्पष्ट टिप्पणियाँ लिखिए (अप्रासंगिक लिखने से अङ्क कट जाएँगे):—

पद्मगुप्त, श्रीहर्ष, भर्तृहरि, दण्डी, भारवि और सुबन्धु।

(ख) अनुरूप उदाहरण देकर जयदेव की कविता के सौष्ठव और गौरव की आलोचना कीजिए।

या

सचिव शुकनास द्वारा चन्द्रापीड को दी हुई शिक्षा को ध्यान में रखकर बाण की काव्य-निर्माण-शक्ति तथा राजनीतिज्ञता का अभिप्रशंसन (Appreciation) लिखिए।

(ग) काल तथा रचयिता का नाम देकर वक्ष्यमाण में से किन्हीं तीन का परिचय दीजिए:—

(१) मालविकाग्निमित्र,

(२) शिशुपालवध,

(३) मालतीमाधव,

(४) बृहत्कथा, और

(५) हितोपदेश।

(सूचना—संयत तथा प्रकरणप्रवण रहिए।)

१९३६

(१) नीचे लिखे प्रश्नों में से किन्हीं तीन के उत्तर दीजिए:—

(क) हमारी साहित्य-धारा के दोषों को प्रकाशित करने वाली बात गद्य-काव्य के किसी पुराने दृष्टान्त के अभाव से बढ़कर और कोई नहीं है। इस कथन की व्याख्या कीजिए और इस पर प्रकाश डालिए।

(ख) संक्षेप में वर्णन कीजिए कि उत्कीर्ण लेखों के साक्ष्य ने राज-दर्बारी काव्यों की प्रारम्भिक उन्नति को किस प्रकार सिद्ध किया है।

(ग) आगे लिखे हुओं में से किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणी दीजिए:—

अश्वघोष, गुणाढ्य, भास, गीतगोविन्द और तन्त्राख्यायिका।

(घ) संस्कृत साहित्य में गद्य-लेखक की हैसियत से बाण का क्या स्थान है?

(ङ) संक्षेप में दिखलाइये कि औपदेशिक जन्तु-कथा-साहित्य के लिए यूरोप भारत का किस प्रकार ऋणी है।

१९३७

१—नीचे दिए हुए प्रश्नों में से किन्हीं तीन के उत्तर देने या प्रयत्न कीजिए:—

(क) "एक अर्थ में, उक्त वाद के अनुसार लिखे गए शिलालेखों की कविता का सर्वाङ्गीण उदाहरण लेना हो तो, समुद्रगुप्त की हरिषेणरचित प्रशस्ति में मिलेगा जो प्रयाग में एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है और जो सम्भवतया ३५० ई० से पूर्व कभी लिखी गई थी"। इस कथन की व्याख्या कीजिए और इस पर प्रकाश डालिए।

(ख) कालिदास के समय पर एक टिप्पणी लिखिए या उसकी शैली तथा उसके कविजनोचित गुणों की अभिप्रशंसा (Appreciation) कीजिए।

(ग) कथा और आख्यायिका का वास्तविक भेद निर्दिष्ट करके इस सम्बन्ध में प्राचीन अलङ्कारशास्त्रियों के सिद्धान्त का निरूपण कीजिए।

(घ) गुणाढ्य के महान् ग्रन्थ बृहत्कथा के बारे में आपको क्या विदित है? आपके बृहत्कथाविषयक ज्ञान के आधार क्या क्या हैं?

(ङ) संस्कृत के सङ्गीत काव्यों (Lyrical Poems) के नाम लिखकर प्रत्येक पर वर्णनात्मक टिप्पणी लिखिए।

१९३८

१—नीचे के प्रश्नों में से किन्हीं तीन के उत्तर दीजिए:—

(क) अश्वघोष ने संस्कृत काव्य-साहित्य की जो सेवा की है, उसका मूल्य आँकिए।

(ख) "कालिदास को प्राप्त करके संस्कृत-काव्य-शैली ने निस्सन्देह परमपद प्राप्त कर लिया है; कारण, कालिदास की कृति में अलङ्कारों के ऊपर रस का अधिकार है। इसमें अलङ्कार अपनी शोभा के अन्दर रस को छुपा नहीं रहे हैं बल्कि इसके चमत्कार को बढ़ा रहे हैं।"

उक्त कथन को विशद और विस्पष्ट कीजिए।

(ग) भवभूति के ग्रन्थों का उनके निर्माण काल के क्रम से संक्षिप्त परिचय देकर उसकी कला की संक्षिप्त अभिप्रशंसा लिखिए।

(घ) वक्ष्यमाण में से किन्हीं तीन पर वर्णनात्मक छोटी छोटी टिप्पणियाँ लिखिए:—

(१) भट्टारहरिचन्द्र,
(२) राजशेखर,
(३) हरिषेण,

(४) राघवपाण्डवीय,

(५) ऐडोल वाला शिलालेख, और

(६) अर्थ शास्त्र ।

(ङ) आप कल्हण के, उसके काल के तथा ग्रन्थ के विषय में क्या जानते हैं ?

१६३६

१—अधोलिखित में से किन्हीं तीन पर श्रम कीजिए:—

(क) "महाकाव्य (Epic) साहित्य जैसा कि अश्वघोष के ग्रन्थों में देखने को मिलता है, बहुत पहले समय में विकसित हो चुका था, इस विचार का समर्थन शिलालेखो के साक्ष्य से होता है" इस कथन की सदृष्टान्त व्याख्या कीजिए ।

(ख) संस्कृत के प्रधान प्रधान सङ्गीत काव्यों (Lyrical Poems) का संक्षिप्त परिचय दीजिए ।

(ग) बाण के, उसके काल के तथा ग्रन्थो के सम्बन्ध में आप क्या जानने हैं ?

(घ) भारवि की मुख्य कृति का परिचय देकर इस कवि की कला की अभिप्रशंसा पर भी एक टिप्पणी लिखिए:—

(ङ) अधोलिखित में से किन्हीं तीन पर वर्णनात्मक टिप्पणी लिखिए।

(१) बृहत्कथा, (२) वेतालपञ्चाशिका, (३) हाल, (४) गीतगोविन्द, (५) हेमचन्द्र (६) मयूर, और (७) चौरपञ्चाशिका ।

१९५१

(१) नीचे लिखे प्रश्नो में से किन्हीं दो के उत्तर लिखें ।

(क) कालिदास का प्रकृति-प्रेम, जैसा कि उसके ग्रन्थों में व्यक्त होता है, अपने शब्दों में वर्णन करें ।

(ख) संस्कृत के मुख्य ऐतिहासिक काव्यों का वर्णन करें। भारतीय इतिहास के स्रोत के रूप में वे कहां तक विश्वसनीय हैं ?

(ग) संस्कृत गद्य काव्य की विशेषताएँ क्या हैं ? जो ग्रन्थ आप ने पढ़े हैं, उनसे दृष्टान्त देकर अपने उत्तर का समर्थन करें ।

(२) किन्हीं तीन पर टिप्पणियाँ लिखिये ।

स्वप्नवासवदत्तम्, तन्त्राख्यायिका, मालतीमाधव, कुमारसम्भवम्, नैषधचरितम्, हेमचन्द्र, माघ, कुमारदास, अश्वघोष, भर्तृहरि।

(९) कुछ महत्त्व-पूर्ण प्रश्न।

(१) यूरोप में संस्कृत के अध्ययन का प्रथमप्रसार करने वाले कुछ मुख्य मुख्य विद्वानों के नाम बताइये।

(२) संस्कृत शिक्षा के दो युग कौन कौन से हैं? हमारी संस्कृत का महत्त्व किसमें है?

(३) भारतीय वर्णमाला की उत्पत्ति की खोज लगाइये। इसके कितने भेद हैं? ईसवी सन् से पूर्व और पश्चात् की संस्कृत का वर्णन कीजिए। (कल. विश्व वि.)

(४) आर्य और वैदिक संस्कृत में क्या भेद है? (कल. विश्व वि.)

(५) भारत की आधुनिक बोलियों की उत्पत्ति की खोज लगाइये। संस्कृत का प्राकृत के साथ क्या सम्बन्ध है? (क. वि.)

(६) संस्कृत कब भाषित भाषा थी और इसमें क्या प्रमाण हैं? (क. वि.)

(७) आर्य या वैदिककालोत्तर युग में ऐतिहासिक महाकाव्य का क्या स्थान था?

(८) महाकाव्यों की दो श्रेणियाँ कौन कौन सी हैं? इनकी विशेषताएँ लिखकर प्रत्येक श्रेणी का एक एक उदाहरण भी दीजिए। (क. वि.)

(९) रामायण और महाभारत के भिन्न भिन्न संस्करण कौन कौन से हैं?

(१०) रामायण और महाभारत का परिचय दीजिए। (क. वि.)

(११) महाभारत का काल बतलाइये। इसके विकास के नाना युगों का वर्णन कीजिए।

(१२) महाभारत के प्रधान प्रधान उपाख्यान कौन कौन से हैं?

(१३) पुराणों का महाभारत के साथ क्या सम्बन्ध है?

(१४) पुराणों के निर्माण-काल पर आपकी राय क्या है? पुराण की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ कौन कौन सी हैं? विष्णु या ब्रह्मा या शिव

इनमें से किसी एक की महिमा करने वाले कुछ पुराणों के नाम बतलाइये। (क. वि.)

(१५) रामायण का मुख्य विषय क्या है? रामायण और महाभारत इन दोनो में अधिक पुराना ग्रन्थ कौन सा है? "रामायण हमारे काव्यों में है" इस कथन की परीक्षा कीजिए। (क. वि.)

(१६) रामायण के भिन्न भिन्न संस्करणों के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?

(१७) रामायण-काल पर अपनी सम्मति दीजिए। (क. वि.)

(१८) जनता पर रामायण का क्या प्रभाव पड़ा?

(१९) संस्कृत काव्यों का काल दिखलाइये। (क. वि.)

(२०) मैक्समूलर की संस्कृत के पुनरुत्थान के विषय में जो सम्मति है उसका समर्थन या प्रत्याख्यान कीजिए। (क. वि.)

(२१) कालिदास के काल पर प्रचलित नाना मतो का निरूपण कीजिए। (क. वि.)

(२२) प्रधान प्रधान काव्यग्रन्थों के नाम बतलाइये। हमारे काव्यों की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? (क. वि.)

(२३) मुख्य मुख्य गद्य-ग्रन्थ कौन कौन से हैं? क्या आप इनके लिए कोई यथाशक्य ठीक काल निश्चित कर सकते हैं? (क. वि.)

(२४) संस्कृत के सङ्गीत काव्यों का परिचय दीजिए। उनमें से कुछ का वर्णन कीजिए। (क. वि.)

(२५) गीतगोविन्द के बारे में क्या जानते हैं? सङ्गीत-काव्यों में इसका स्थान कौनसा है? इसका समय क्या है? (क. वि.)

(२६) संस्कृत रूपक की उत्पत्ति और वृद्धि का इतिहास निरूपित कीजिए। इसकी विशेषता क्या है और इसकी बनावट कैसी होती है? (क. वि.)

(२७) कालिदास और भवभूति के रूपकों की मुख्य बातों में तुलना कीजिए। राजशेखर के रूपको के नाम बताइये। इसका समय क्या है?

(२८) संस्कृत की औपदेशिक जन्तुकथा का और इसके नीति (आचार) विषयक साहित्य का परिचय देकर इसका काल-शोधन कीजिए।

स्वप्नवासवदत्तम्, तन्त्राख्यायिका, मालतीमाधव, कुमारसम्भवम्, नैषधचरितम्, हेमचन्द्र, माघ, कुमारदास, अश्वघोष, भर्तृहरि।

(६) कुछ महत्त्व-पूर्ण प्रश्न।

(१) यूरोप में संस्कृत के अध्ययन का प्रथमप्रसार करने वाले कुछ मुख्य मुख्य विद्वानों के नाम बताइये।

(२) संस्कृत शिक्षा के दो युग कौन कौन से हैं ? हमारी संस्कृत का महत्त्व किसमें है ?

(३) भारतीय वर्णमाला की उत्पत्ति की खोज लगाइये। इसके कितने भेद हैं ? ईसवी सन् से पूर्व और पश्चात् की संस्कृत का वर्णन कीजिए। (कल. विश्व वि.)

(४) श्रेण्य और वैदिक संस्कृत में क्या भेद है ? (कल. विश्व वि.)

(५) भारत की आधुनिक बोलियों की उत्पत्ति की खोज लगाइये। संस्कृत का प्राकृत के साथ क्या सम्बन्ध है ? (क. वि.)

(६) संस्कृत कब भाषित भाषा थी और इसमें क्या प्रमाण हैं ? (क. वि.)

(७) श्रेण्य या वैदिककालोत्तर युग में ऐतिहासिक महाकाव्य का क्या स्थान था ?

(८) महाकाव्यों की दो श्रेणियाँ कौन कौन सी हैं ? इनकी विशेषताएँ लिखकर प्रत्येक श्रेणी का एक एक उदाहरण भी दीजिए। (क. वि.)

(९) रामायण और महाभारत के भिन्न भिन्न संस्करण कौन कौन से हैं ?

(१०) रामायण और महाभारत का परिचय दीजिए। (क. वि.)

(११) महाभारत का काल बतलाइये। इसके विकास के नाना युगों का वर्णन कीजिए।

(१२) महाभारत के प्रधान प्रधान उपाख्यान कौन कौन से हैं ?

(१३) पुराणों का महाभारत के साथ क्या सन्बन्ध है ?

(१४) पुराणों के निर्माण-काल पर आपकी राय क्या है ? पुराण की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ कौन कौन सी हैं ? विष्णु या ब्रह्मा या शिव

इनमें से किसी एक की महिमा करने वाले कुछ पुराणों के नाम बतलाइये। (क. वि.)

(१५) रामायण का मुख्य विषय क्या है? रामायण और महाभारत इन दोनो में अधिक पुराना ग्रन्थ कौन सा है? "रामायण हमारे काव्यों में है" इस कथन की परीक्षा कीजिए। (क. वि.)

(१६) रामायण के भिन्न भिन्न संस्करणों के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?

(१७) रामायण-काल पर अपनी सम्मति दीजिए। (क. वि.)

(१८) जनता पर रामायण का क्या प्रभाव पड़ा?

(१९) संस्कृत काव्यों का काल दिखलाइये। (क. वि.)

(२०) मैक्समूलर की संस्कृत के पुनरुत्थान के विषय में जो सम्मति है उसका समर्थन या प्रत्याख्यान कीजिए। (क. वि.)

(२१) कालिदास के काल पर प्रचलित नाना मतो का निरूपण कीजिए। (क. वि.)

(२२) प्रधान प्रधान काव्यग्रन्थों के नाम बतलाइये। हमारे काव्यों की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? (क. वि.)

(२३) मुख्य मुख्य गद्य-ग्रन्थ कौन कौन से हैं? क्या आप इनके लिए कोई यथाशक्य ठीक काल निश्चित कर सकते हैं? (क. वि.)

(२४) संस्कृत के सङ्गीत काव्यों का परिचय दीजिए। उनमें से कुछ का वर्णन कीजिए। (क. वि.)

(२५) गीतगोविन्द के बारे में क्या जानते हैं? सङ्गीत-काव्यों में इसका स्थान कौनसा है? इसका समय क्या है? (क. वि.)

(२६) संस्कृत रूपक की उत्पत्ति और वृद्धि का इतिहास निरूपित कीजिए। इसकी विशेषता क्या है और इसकी बनावट कैसी होती है? (क. वि.)

(२७) कालिदास और भवभूति के रूपकों की मुख्य बातों में तुलना कीजिए। राजशेखर के रूपकों के नाम बताइये। इसका समय क्या है?

(२८) संस्कृत की औपदेशिक जन्तुकथा का और इसके नीति (आचार) विषयक साहित्य का परिचय देकर इसका काल-शोधन कीजिए।

पञ्चतन्त्र का ईसप् की कथाओं के साथ क्या सम्बन्ध है ? (क. वि.)

(२९) वक्ष्यमाण लेखकों या ग्रन्थों पर टिप्पणियाँ लिखिए। (क. वि. प्रश्नों पर आश्रित):—

व्यास, हरिवंश, अश्वघोष, समुद्रगुप्त, बुद्धचरित, वत्सभट्टि, दिङ्नाग, हरविजय, राघवपाण्डवीय, पद्मगुप्त, सेतुबन्ध, वासवदत्ता, हर्षचरित, बाण, ऋतुसंहार, चौरपञ्चाशिका, बिल्हण, अमरुशतक, गीतगोविन्द, घटकर्प, मृच्छकटिक, नागानन्द, वेणीसंहार, बालभारत, कर्पूरमञ्जरी, कृष्णमिश्र, प्रबोधचन्द्रोदय, पञ्चतन्त्र, कथासरित्सागर, बृहत्कथामञ्जरी, गुणाढ्य, मङ्ख, [वाक्पतिराजका] गौडवह, वेतालपञ्चविंशति, विद्धशालभञ्जिका, विशाखदत्त, हाल, वैराग्यशतक, शार्ङ्गधर, सुभाषितावली, कल्हण, राजतरङ्गिणी, जीमूतवाहन, हलायुध, महाभारत, दण्डी, नवसाहसाङ्कचरित, जयदेव, सोमदेव, भारवि, भर्तृहरि।

(३०) भारतीय रूपक की मुख्य मुख्य विशेषताओं का दृष्टान्त निरूपण कीजिए। (क. वि.)

(३१) संस्कृत रूपकों में पात्रानुसार साधारणतया कौन कौन सी प्राकृत भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं ? (क. वि. १९१४,२८ इत्यादि)

(३२) संस्कृत के दो ऐतिहासिक काव्यों का संक्षिप्त वर्णन करके उनके रचयिताओं का नामोल्लेख कीजिए। (क. वि. १९२९)

(३३) भारतीय औपदेशिक जन्तुकथा के पश्चिमीय देशों में जाने के बारे में आप क्या जानते हैं ? (१९२२)

(३४) बृहत्कथा और इसके पश्चिमकालीन रूपान्तरित संस्करणों के बारे में आप जो जानते हैं संक्षेप से लिखिए।
